

GOVERNMENT OF INDIA  
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA  
ARCHÆOLOGICAL  
LIBRARY

---

ACCESSION NO. 36750

CALL No. Sa 8K/A&v/Ram

D.G.A. 79





# विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

८२

संस्कृतम्



महाराजि श्रीमद्वश्वोषविरचितं

**बुद्धचरितम् - अन्त १**

'प्रकाश' हिन्दी अवास्योपेतम्

( प्रथमो भागः )

( जन्म से उत्तर्व मासि पर्यन्त )

**३६७५०**

स्वास्थ्याकारः —

भाकरगांधारी-काल्यतोर्म-

महन्त श्री रामचन्द्रदास शास्त्री

अध्यक्ष, संस्कृत विश्वपरिषद् वाचा, अबलपुर ( मध्यप्रदेश )

Sa 8 K  
Mun/Ram



चौखन्दा विद्याभवन वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी  
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी  
संस्करण : प्रथम, संवत् २०१९ वि.  
मूल्य : २-५०

© The Chowkhamba Vidya Bhawan,  
Chowk, Varanasi-I ( India )

1962

Phone : 3076

INDIA RAIL ARCHAEOLOGICAL  
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 3.6.7.50.....

Date ..... 30.7.63.....

Reg. No. S.93K..... H.S/R.....

THE  
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA.

82  
SARAS

THE  
**BUDDHA CHARITA**

( Part I. Cantos, I-XIV )

*By*

**MAHAKAVI ASVA GHOSA**

WITH HINDI TRANSLATION

*By*

**Mahanta Sri Rāmchandra Dās Sāstrī**

THE

**CHOWKHAMBA VIDYA BHAWAN**  
POST BOX 69, VARANASI-1 ( India )

1962



## प्राकथन

संसार परिवर्तनशील है। प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है। सामान्य परिवर्तन बहुत ही करती रहती है। देश और कालरूप अधिकान में 'अग्नि, जल एवं वायु'—ये तीनों वस्तु को बदलते रहते हैं। अग्नि नरमी देती है। जल तर्पण करता है। वायु स्फुरण देती है। इसमें वस्तु की उत्पत्ति होती है। फिर अग्नि जलाती है, जल मधुता है और वायु शोषण करती है। इसमें वस्तु का विनाश होता है। उत्पत्ति से विनाश तक की क्रियाओं में जो समय लगता है, वही हित है। इस प्रकार उत्पत्ति, उत्पत्ति और प्रलय का चक्र चल रहा है। यह चक्र क्षम से चला रहे ! क्षम तक चलेगा ! यह कहा नहीं जा सकता। यह आनन्द है। अनन्त है।

इस सामान्य परिवर्तन की व्यापेका एक विशेष परिवर्तन भी होता है। वह—"आचार-विचार का परिवर्तन"। यह परिवर्तन आयः मनुष्यों में ही होता है। मनुष्य अन्य प्राणियों की व्यापेका सार्थकिक चेतना है। इसमें विचार को बना प्रबाहित होती रहती है। संसार के सम्बन्ध में यह विचार करता है। विचार अनेक प्रकार के होते हैं। संसार क्षमा है। क्षम से बना है। किसी लोग बना है ! इसका रचयिता खोई है अपना यह अपने आप बनता है ! आनन्द अनेक प्रदन उठते हैं। इनका समाधान सामान्य मनुष्य नहीं कर सकता। वह विशेष होने के कारण हुक्म पक्क जाती है। विचार हक्क जाता है। संगत्या मनुष्य भोगाभिमुख हो जाता है। शनिदिवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति हिंसुन्त्री है। उस विचारके को प्रवृत्ति भी भोगाभिमुख हो जाती है। तब भोग की समर्थन मिल जाता है। आचार भी जुम ही जाते हैं। संसार भोग-प्रथान में जाता है।

भोग में अनेक दोष हैं। अधिक से अधिक मिलने पर भी अपेक्षा ही बना रहा है। इसकी सीमा नहीं है। रोग, शोष आदि तो उसके तात्कालिक कुछ

है । सबसे बहु दीप तो यह है कि तुर्बलों को सताये बिना भोग प्राप्त नहीं होता । तब संसार भोग-प्रधान होता है तब सबल मनुष्य तुर्बलों को सता कर अपना सुख सम्पादन करने लगते हैं । हिंसा, मिथ्या, छल, कपट और प्राप्ति का सामाज्य है । जाता है । उस समय तुर्बलों का जीवन भय एवं आतः में नहक तुल्य हो जाता है । सबल सौ सुखी नहीं रह पाते । उनमें काम-कोष की अपिकता से हिसा भी प्रधानता हो जाती है । भूतसा, तृणा तथा आभिमान वह जाते हैं । सहस्रों आशा-पाश में बेघकर उन्मार्गी हो जाते हैं । उस समय प्राणी की तो बात छीड़; समष्टि प्राण ही संकटापञ्च ही जाता है । चारों ओर जाहाजार मच जाता है । प्राण पाने के लिये समष्टि अन्तःकरण दीन पुकार करने लगता है । तब महान् कानितकारी परिवर्तन की आवश्यकता होती है । उसमें प्रहृति का वश नहीं चलता । ऐसे अवसर पर है एक दिन पुरुष का प्राकुर्भाव होता है । वे अपने अलौकिक प्रभाव से भनुत्वों के आजार-विचार में आगूढ़ परिवर्तन करते हैं तब संसार सुख की सौमि लेता है ।

इतिहास माझी है । दो-चाहे हजार वर्ष के बाद ऐसे दिन पुरुषों का आविर्भाव होता रहता है । राम के बाद कृष्ण और कृष्ण के बाद युद्ध हुए । ने लोक-निष्ठण पुरुष, चाहे-चाहे हजार वर्ष के अन्तर देकर एक के बाद एक होते आये हैं । ये दिन विभूतियाँ प्रकट होकर जब जैसी आवश्यकता पड़ती है, वैसा परिवर्तन करती हैं । तब हजारों वर्ष तक मानव-जीवन मुख और शान्ति का अनुभव करता है ।

ऐसे ही संकामक काल में भगवान् युद्ध का प्राकुर्भाव हुआ है । उस समय भी महान् परिवर्तन की अपेक्षा थी । लोग भोग-लोत्प, हिंसापराचण एवं बूर्कमाँ हो गये थे । पशु की बात दूर रही, मनुष्य ही मनुष्य की बलि देता था । नर-बलि हाल विहित एवं राज-समर्पित हो गई थी । स्वर्ग-सुख की अन्वाहनपना में प्रेरित होकर बहुविक सहस्रों असहाय नर कनिष्ठ देवी-देवताओं के भोजन बनाये जाते थे । कुछ नियमित सुन्दर युवा नर-बलि देने पर स्वर्ग में इन बनने का विश्वास लग ही गया था । स्वर्ग-प्राप्ति का दूसरा साधन तप माना जाता था । कुछ लोग यह छोड़कर निर्जन बन में जाकर और तामसी तप करते

ये। अज्ञ-जल सर्वेषां लोहकर शरीर सुखा देते थे। आपि, जल, भ्रगुपति से शरीर स्थाप कर सीधे सर्वं की प्राप्ति मानी जाती थी। लौकिक भूषण अद्यै है, स्वर्गीय सुख ही पर्ण है, जीवात्मा स्वर्ण में बाकर अस्थम भोग भोगता है—इस प्रकार भोग की तीव्र लालसा की प्रबल प्रेरणा से लोग मिन्याचार, मोष विचार के द्वे गंधे थे। भगवान् बुद्ध ने तथ और त्याग का तथा भोग का यथार्थ मेद बताया, तथ और भोग की अपेक्षा मध्यम मार्ग श्रेष्ठ बताया। मनुष्य का सन्मान में चल कर ग्राणीमात्र का हित करना कर्तव्य बताया तथा 'सर्वजनहिताय' इस महामंत्र का उद्दीप किया।

जैसे भगवान् राम के चरित्रों एवं उपदेशों का महायि वाल्मीकि ने सुलिलित संगीतमय काव्य के द्वारा स्थायी प्रचार किया है अथवा जैसे भगवान् कृष्ण के चरित्रों तथा उपदेशों को महामुनि व्यास ने महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि दिव्य ग्रन्थों द्वारा विश्व-साहित्य के रूप में संपादित किया है, उसी प्रकार महाकाव्य अश्वघोष ने भगवान् दुद के लोकोत्तर चरित्रों एवं उपदेशों का 'तुदनरित' नामक महाकाव्य में सम्पादन किया है। जैसे शाशु चन्दन की सुगन्धि को दिशाओं में फैलाता है, उसी प्रकार अश्वघोष ने भगवान् का उज्ज्वल गश फैलाया है। काव्य-कला उनका सहज स्वभाव है। उनकी प्रतिना सर्वतोमुखी है। अश्वघोष पुराण के महापर्दित है। रामायण, महाभारत के प्रकाण्ड विज्ञान है। वैदिक साहित्य के मर्मांड एवं दर्शन के तत्त्ववेत्ता है। उन्होंने अपने महाकाव्य में भगवान् बुद्ध के चरित्र का सजोब चित्र लीचा है। उनके प्रसादगुण प्रधान काव्य को पढ़ते ही पाठक के मेघों के सामने भगवान् बुद्ध का चरित्र साकार हो उठता है।

'तुदनरित' दो भागों में था। प्रथम भाग में जन्म से तुदन्त्र प्राप्ति तक का वर्णन है। इसमें चौदह सर्ग है। प्रथम भाग अश्वघोष कृत मूल सम्पूर्ण उपलब्ध है। केवल प्रथम सर्ग के प्रारम्भ के ७ खोक और चतुर्दश सर्ग के ३२ से ११२ तक ( ८१ खोक ) मूल नहीं मिलते हैं। बायू श्रीवत्सकृष्णदास जी गुरु, अश्वघ चौडम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौडम्बा विद्याभवन, काराणसी की प्रेरणा से उन खोकों को मैने बनाया है तथा उन्हीं की प्रेरणा से इस भाग की दीक्षा भी की गई है।

हितोंव भाग की मूल प्रति भारत में बहुत दिनों से अनुप्रलक्ष्य है। उसका अनुवाद तिज्वती भाषा में मिला था। उसके आधार पर हिन्दी चीनी चिनान ने चीनी भाषा में अनुवाद किया तथा आक्षयफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के अन्नापक डॉक्टर जॉन्सटन ने उसे अंग्रेजी में लिला। इसका अनुवाद व्ही सूचनाराज्य जो चौधरी ने हिन्दी में किया है जिसको मैंने श्रीमुत ज्ञानाद रामचन्द्र सिंह जी की प्रेरणा से संस्कृत पद्धति मध्य में परिणत किया है। अश्वघोष प्रतिभावान भवान्वयि थे। उनके समान रख तो इसमें नहीं आया है किन्तु उन्होंने भाष्य यथासंभव लाने का प्रयत्न किया गया है। इस कार्य में मुझे तक सफलता मिली है, यह तो पाठ्य गण ही समझेगे।

भी शुष्ठोक्तेश जी पांडे का मैं बहुत हुत हूँ दिनोंने यथार्थ अवधारों में इसे लिपिबद्ध करके प्रेस में छपने गोमय किया।

—रामचन्द्र दास

## भूमिका

### भगवान् बुद्ध का दिव्य संदेश

भगवान् बुद्ध का जन्म ५३६ ईसापूर्व अधीत् भाज में २५०० वर्ष पूर्व हुआ था। इतने दिनों बाद भाज कहीं संसार उनके उपदेशों का महाव समाज रहा है। वैसे तो सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक बार बौद्धधर्म का प्रचार हो गया था। किन्तु एक समय आया कि जब उसी भारतवर्ष में बौद्धों का नाम-निनान भी नहीं रहा। इसके कई कारण बतलाये जाते हैं। बौद्धों द्वारा बैद्ध की प्रामाणिकता को अमान्य करना, बहुवाद या ईश्वरवाद को न गानना तथा बौद्धेय का विरोध करना आदि इनके सुख्य कारण माने जाते हैं। किन्तु असली कारण स्वर्य बौद्धों के बीच उत्पन्न हुए मतभेद और अमाचार ही समझना चाहिये।

भारत में बौद्धों के प्रति इतना आदर रहा है कि उनके प्रति किसी प्रकार का निरादर यहाँ की अनता सहन नहीं कर सकी। वेदप्रमाण हमारे धर्म का मूलाचार रहा है। उनके अर्थ के संबंध में चाहे कितना ही मतभेद रखो न रहा हो; किन्तु उसकी प्रामाणिकता और अपीलेयता के संबंध में सभी में एकमत रहा है। बैद्धों के आधार पर कर्मकाण्ड का प्रचार तथा उसमें भी दिसा आदि का ग्रन्थ होना उपनिषद्काल से ही बुद्धिवादियों द्वारा कठार रहा था। ऐलोच कर्म-काण्ड के शान पर ज्ञानकाण्ड के उपासक होते जा रहे थे और यह भावना उठने लगी थी कि इस प्रकार के वज्ञादि जब जर्जर नाव के समान हो गये हैं—पुराणोंता बहुदा मज्जस्पाः।

लोगों में वह भावना उठने लगी थी कि वज्ञों में पास होने वाले पारिव भोगों, वहाँ तक कि स्वर्ग आदि भोगों से भी आत्मायें उस नहीं हो सकतीं। कठोपनिषद् के यम और नचिकेता के संघाद में इसी भावना का उद्घोष हमें मिलता है। नचिकेता कहता है कि इस उत्सम्पत्ति और सोसारिक भोग पश्चात् से मेरी भावना नहीं आना होने की। यह सब ज्ञान है। जूसे ऐसा पश्चात् चाहिये किससे मुझे अमृत की प्राप्ति हो सके।

इसी प्रकार सैवेयी भी वाक्यवचनम् से कह उठती है कि जिससे मैं अमर नहीं हो सकती उन पद्माभ्यों को लेकर क्या कहनेंगी । ।—

**'वेदाहं नाशृतास्यो किमहं तेन कुर्वाम् ।'**

वैसे तो प्रहृति और मिहृति ये दो भावमायें मनुष्य के हृदय में सदा से रही हैं । एक में भोग और गेष्ठण का लालसा और दूसरी में सुख और जाति की अभिलाषा का स्वर प्रधान रहा है । उनके अनुसार पहले में वज्ञ-वारा आदि के द्वारा देखता से सुख-सामग्री की याचना और दूसरे में आश्मृति और आश्म-स्वागत तपस्या की साधना—यही दो मार्ग युग की प्रहृति के अनुरूप बड़ते-बड़ते चले आये हैं । वेदों में पहला मार्ग और उपनिषदों में दूसरी भावना प्रधान रही । उसकी अपेक्षा गीता में वेदों के प्रति असम्भोप का स्वर और भी प्रबल हो उठा । उसमें त्रिगुणात्मक वेदों से ऊपर उठने का काप्रह किया गया है ।—

**त्रिगुणविषया वेदा निर्वैगुण्यो भवान्तुन् ।**

उनके साथम् उप यज्ञों की स्पष्ट निम्नता तो उसमें नहीं भी साँई किम्तु उनका रूप बदल दिया गया है । यज्ञ के मिहृति का समर्थन करते हुए भी उसमें द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ को महाव दिया गया है और दान, तप, स्वाध्याय आदि अनेकों आरम्भान्वित कारक कर्मों की प्रशंसा की गई है ।

इस मिहृति मार्ग में भी अनेक दोष उत्पन्न हो गये । कर्म छी अपेक्षा संन्यास को महाव देने के कारण गृहस्थयज्ञम् का एक प्रकार से उच्छ्रेत् सा हो गया । और इसमें का भी इसमें बहुत बहा हो गया है । हथियों उनके प्रति भी लोगों के मन में अनादर होना स्वाभाविक था । गृहस्थ-परमें के निधिल होने से समाज में अनादर और अभिन्नादर होना स्वाभाविक था । यह भी बोट्टचर्म के पतन का एक कारण था ।

दूसरा कारण अनादर या ईश्वरवाद का विरोध करना था । ईश्वर भावना आय जाति के हृदय में इतनी प्रबल थी कि उसका विरोध इसी प्रकार सहन नहीं किया जा सकता था । जैन आदि मतों ने प्रारम्भिक काल में उसका विरोध अवश्य किया जिन्हे बाद में उन्हें भी उसे सीकार करना पड़ा । कुछ भयवान् ने आश्मवाद के संबंध में एक प्रकार से उदासीनता और तटस्थिता

का ही मार्ग स्वीकार किया था । कथा है कि बच्चोंत नामक भिल्ह ने भगवान् खुद से पूछा—आत्मा के अस्तित्व के विषय में आपही क्या जाप है ? इसके उत्तर में भगवान् खुद भीन रहे । फिर भिल्ह ने पूछा—तो वहा आत्मा नहीं है ? इसके उत्तर में भी खुद भीन रहे । उसके बाद भी भिल्ह में प्रभोंतर न पाकर प्रस्थान किया । तथ भगवान् के परम विषय आनन्द ने उनसे पूछा—भगवान् ने बच्चोंत के प्रभ का उत्तर क्यों नहीं दिया ? भगवान् खुद ने कहा—यदि मैं आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता तो मैं अमरी और बाध्यों में प्रचलित आत्मा के अस्तित्व का समर्थन करता और यदि मैं उनसे इनकार करता तो भी उनके निर्वाण के विद्रोह का समर्थन करता । इसलिये मैंने आत्मा के विषय में कुछ रहना ही ठीक समझा । खुद भी उत्तर देने पर उसे एक प्रभ से निकालकर दूसरे भान में ढालने के समान ही होता ।

बात लासक यह थी कि अहु और आत्मा के संबंध में इतना लघिक विवेचन हो सुका था कि खुद ने उस संबंध में ऊहापोह करना निरर्थक समझा । उनका लक्ष्य छाँति और आनन्द प्राप्त करना ही था । अस्वीकृष्ण ने तो उनसे कहलाया है कि मैं अमृत प्राप्ति के लिये घर से जा रहा हूँ ।

अमृतं प्राप्तुमितीय मे विशासा ।

खुद भगवान् आत्मा और परमात्मा के विषय में पूछे जाने पर जो सुन्धि धारण कर लिया कहते थे इसके संबंध में कोरा अलग अलग लघे लगाते हैं । कुछ कोरा कहते हैं कि वे आत्मा के अस्तित्व को ही मानते हैं । और खुद कहते हैं कि उन्होंने आर्थिक विषयों के संबंध में कुछ न कहकर केवल कियात्मक बातों पर ही जोर दिया । खुद कोरों का कथन है कि आत्मा परमात्मा के संबंध में इतने मतभिन्नतान्तर उपस्थ हो गये हैं कि उन्होंने अपनी ओर से कुछ कह कर उन भौती में एक नया मत लोक्या योक नहीं समझा ।

अस्तु में आत्मा के विषय में कुछ न कहना ही उसके अस्तित्व को स्वीकार करना है । जिस बात को स्वीकार करना होता, उस संबंध में वे भीन रह जाते हैं । इसका उल्लेख खौद आत्मों में वरावर आता है । आत्मा के संबंध में उपनिषदों में भी नेति नेति कहकर यह स्वीकार किया है कि वह

भवित्वेचमीय है । अतः उसके संबंध में कुछ न कहना ही सबसे अच्छा उपाय है । उपनिषद् में एक जगह कहा है :—

यस्यामत्तं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विजानतो विज्ञातमविजानताम् ॥

इस प्रकार परश्वर विशेषी विशेषणों के द्वारा ही आत्मा का निर्देश किया जा सकता है ।

उपने शिष्यों से उन्होंने बार बार कहा था—‘मिथुओ तथागत के लिये तो बातें सदा विजा कही रह जायेगी—आत्म और धनात्म ।’ उनके उपरान्त इसी बात पर था कि संसार से दूरत्व की निष्पत्ति किस तरह की जाए । अतः आत्मा अनात्मा के तात्त्विक विवेचन में न पश्चकर सीधे दूरत्व की मूल समस्या को ही ये सुलक्षणा चाहते थे ।

दुःख को उन्होंने चार विभागों में बटौं दिया है :—

- |                        |                                |
|------------------------|--------------------------------|
| ( १ ) दुःख             | ( २ ) दुःख की उत्पत्ति         |
| ( ३ ) दुर्लभ-निष्पत्ति | ( ४ ) दुर्लभ-निष्पत्ति के उपाय |

दुःख दुर्लभ समुज्जादे दुःखस्य च अतिक्रमे ।

अतिथि चड्डंगिके मध्ये दुर्लभप्रसमगामिगम् ॥

दुःख कितने प्रकार के हैं इसका भी विस्तार दिया गया है.....जन्म, जरा, मरण, शोक-परिवेष, दीर्घनाट्य, दुर्लभ उपायात, ‘अविष के साथ संयोग, प्रिय से विद्युग, इच्छित वस्तु का अलाप और अनिच्छित वस्तु का लाभ—से सब दूरत्व है ।

गीता में एक ही पंक्ति में कह दिया गया है :—

जग्मयुजुरात्मा चिद्दुर्लभोपानुदर्शनम् ।

दुर भवान् के जीवन में ये सब दुर्लभ मानों सुष प्रारण कर जाये थे । उद्दरित में बताना है कि ऐसों ने उनको रचकर सामने लड़ा कर दिया । जब वे नगरपालिकामा के लिये निकले तब पहले अपावित पुरुष सामने आया, फिर एक और धन्त में सूत पुरुष । जब सातु ने यह घतात्या कि ये दोनों सभी को होती है जापकी मौ होंगी—तब दुर को चिन्ता हुई कि उनसे किस प्रकार दुरकारा पाया जाये ।

भवस्थोप ने इन भवस्थाओं का बहु सज्जीव वर्णन किया है :—पूरो हि  
देव-पुरुषो जरयामिभूतो”॥ जादि ।

लोक करते हुए उन्होंने पाया कि तृणा ही सब दुःखों का कारण है ।  
इसलिये तृणा की जड़ खोदने का उपदेश दिया :—

ते चो वदामि भहै चो याकम्लेऽऽ भमागता ।

तृणाय मूलं जनय उक्षीरश्यो च चौरणम् ॥

( धर्मपदं २४-५ )

वेदान्त ने भी वासना को वृष्ट करने का उपदेश दिया है :—

निदैरध्यासनावीञ्च सत्तासामाभ्यरुपवान् ।

संदसेयाविषेतो च भूयो तुष्यमाप्मवेद् ॥

( चोरावालिष्ट-३-१०-१२ )

भगवान् कुछ का यही आग्रह रहा है कि हम व्याधि की विकिस्या करे,  
वह जानने का प्रयत्न न करें कि वह कहाँ से आहै, कैसे आहै । इसे समझाने  
के लिये उन्होंने आयल वाद्यों का उदाहरण देते हुए कहा—‘यदि किसी को  
विषुक्ता तीर लगे और वह कहे कि मैं तीर तथा तक न गिराऊँगा तब  
तक यह न मालूम हो जाए कि वह कहाँ से आया है, किसने मारा है, उसका  
गोच या माम वगा है, वह कितना लंबा है, जादि तो भिजुओ ! उस वाद्यों  
को वह पता ही नहीं लगेगा और वह मर जावेगा ।’

वे अन्य बातों पर विचार करना अर्थ समझ तृणा के जब पर ही सुख  
वह देते थे । उसी को पुनर्जन्म का कारण समझते थे । कुछ लोग कहते हैं  
कि कुछ पुनर्जन्म को मानते थे किन्तु आत्मा को नहीं मानते थे । श्रेनो याते  
परस्पर विरोधी हैं । जब आत्मा ही नहीं तब पुनर्जन्म किसका ? इसका  
उत्तर यह है कि जीव दर्शन जो कार्य आत्मा से करते हैं वह सारा कार्य  
बौद्ध-वर्णन मन से लेता है । वे कहते हैं कि मन भी अवस्थाओं का  
पूर्वगामी है, मन ही सुख है । मनुष्य सबोमय है । जब वाद्यों महिला मन  
से चोकता या कमं करता है, तब दुःख उसके पीछे ऐसी तरह लग जाता है  
जैसे गाढ़ी के पहिये बैल के पैरों के पीछे लग जाते हैं :—

मरो पुर्वागम्भा वम्मा मनो सेषा मनोमया ।

मनसाचेवदुडेन भासति वा करोति वा ॥

ततो तं दुक्ष्ममन्येति चक्रं व वहतो पदं ॥

( धर्मपदे मनोवग्यो )

मन ही मनकारों का वाहक है और इसी कारण दुःख और पुनर्जन्म होता है । इसलिये दुःख नाश का यही उपाय है कि पाप कर्म न कर शुभ कर्म ही किये जाएं और चित्त को वश में रखा जाए :—

सत्यं पापस्त्वं लकरणं कुशलस्त उपसंपदा ।

सचित्तं परियोदयं पृथं युद्धानसाधनं ॥ ( धर्मपद )

यही मार्ग ऐह है इसी से वर्णन की शुद्धि होती है और इसी से प्रतिपूज्ञ होने पर दुःख का अन्त हो जाता है :—

एसोव ममो मस्वन्तो विशुद्धिया ।

पतिद्वि तुम्हे पटियामुख्य सन्तं करिसत्य ॥ ( धर्मपद )

उन्होंने मनार को अनिय असूल और अनाम हृन तीव्र शब्दों में घर्ष किया है । इसके संबंध में युद्ध का मत विलकृत स्पष्ट था । उन्होंने कहा है :—

पदनिषदं तद् दुर्घं यद् दुर्घं तद् अनामम् ॥

अपांत् जो अनिय वस्तु है उसमें ही दुःख है और जो अनाम है वह सब अनिय है । इसका अर्थ यह हुआ कि वे ऐसी सत्ता में विद्याम करते थे जो कि निय और दुःख से परे है ।

उपनिषदों में भी इसी प्रकार जाग्रा के संबंध में कहा गया है कि यही जाग्रा यह है :— अपमामा यज्ञ ॥ ‘जो महान् है उसी में सुख है, अस्ति में सुख नहीं है—’यद् ये मूरा तत् सुखं नाये सुखमस्ति ॥ दुःख से दूर होने का उपाय उसी जाग्रा की प्राप्ति है—तदति शोकं जाग्रमविद् ॥

जुड़ भगवान् ने अनिय शब्द का प्रयोग किया थाद में इसी का आधार लेकर छण्डगाद का सिद्धांत प्रचलित हुआ । किन्तु इन दोनों शब्दों में बहुत अन्तर है । वे मानवारिक वस्तुओं को अनिय और जाग्रत्व को निय मानते थे । इस प्रकार निय और अनिय वस्तुओं में वे तथा नेत्र करते थे ।

दुःख वयशम के लिये उन्होंने अधांगिक मार्ग स्तोत्र निकाला जिसके आठ अंग हस्त प्रकार हैं :—ये प्रदृश शील और समाधि के ही बंग हैं :—

१. सम्यक् इटि	पञ्चा
२. सम्यक् संकेषण	
३. सम्यक् वाचा	शील
४. सम्यक् कर्मान्त	
५. सम्यक् धार्मीव	समाधि
६. सम्यक् आथात्	
७. सम्यक् रसृति	समाधि
८. सम्यक् समाधि	

अथवोप ने चार अर्थ सम्यों को संकेषण में हस्त प्रकार कहा है :—

आथात्मकं दुःखमिदं प्रसकं

दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयं ।

दुःखचयो निःशरणात्मकोऽयं

ज्ञाणात्मकोऽयं प्रशमात् मार्गः ॥ ( सौन्दरानन्द १६-१ )

अगति खयधर्मके सुसुषुप्तमयेऽहं लित्रमध्यं पदं तत् ।

( बुद्ध चरित ५-१० )

अनित्य को रथाग कर नित्य का वर्णन करना उनका सिद्धान्त था । उपर के श्लोक में शिव और अचय पद निर्वाण के लिये प्रयुक्त दुशा है । उपनिषदों और बुद्ध के उपदेशों में जो भेद पहला है वह यही है कि उपनिषदों में जो विद्वाण आत्मा के लिये प्रयोग किये गये हैं वे सब बुद्ध के उपदेशों में निर्वाण के लिये प्रयोग किये गये हैं । इसी से समझने में झगड़ हो जाता है । अथवोप ने तो निर्वाण के लिये मोक्ष शब्द का प्रयोग किया है :—

प्राप्तो गृहस्पैरपि मोक्षधर्मः ।

बुद्धचरित में भगवान् बुद्ध के दिव्य लीलन के साथ जो उनके उपदेशों का समन्वय किया गया है उससे ये उपदेश और भी हृदयप्राप्ती हो जाते हैं । अथवोप पर वैदिक धर्म का इतना अधिक प्रभाव या कि उनकी लेखनी से प्रसूत वर्णन आर्यधर्म से अलग नहीं जाए पहले, उसी के छंग स्वरूप लगते

है। ऐसा नहीं जान पहता कि बौद्धधर्म कोई अलग धर्म है। उनकी उच्चतर भाषणा हर जगह प्रगट होती है :—

तपोवन से प्रवेश करते हुए वे कहते हैं कि मैंने स्वर्ण की लालसा, ये ही हीमता या छोड़ से नहीं किन्तु जग्म-मरण का नाश करने ही के लिये ऐसा किया है :—

ज्ञानमरणनाशार्थं प्रविद्विभिं तपोवनम् ।

न खलु स्वर्णतर्पणं नाशेऽम न मनुष्या ॥

( बुद्ध ५-१५ )

( गीता से तुलना कीजिये—ज्ञानमरणमोक्षार्थं मामाभिस्य यतन्निः से । )

मैं शोक त्याग के लिये निकला हूँ फिर मेरे लिये शोक क्यों ? जो शोक के द्वेषभूत कामों में ज्ञानक हैं वे ही शोचनीय है—

शोकत्यागाय निकलाम्ते न मो शोचितुमहसुसि ।

शोकहेतुपु कामेषु त्यज्या शोचयामस्तु रागिणः ॥

( बुद्ध ५-१५ )

गीता में यह जावना विलकुल एक रूप है—

अशोक्यानन्वशोर्वैश्वर्यं प्रज्ञानादार्थं भाषये ।

बुद्ध हूँ म पर वक देते हैं भ्रेय मार्ग का हमें तुरन्त आचरण करना चाहिये । उमरमें देर नहीं करना चाहिये—

अशोक्यो नास्ति अस्त्वं जीविते चल्लते सति ।

तस्माद्वैतं ने भ्रेयत्वेतत्प्रभिति निश्चयः ॥

( बुद्ध ५-२१, २२ )

परिषिष्ठ जी ने भी कहा है—

अशैव तु यस्येषः युद्धः सम् किं करिष्यसि । ( सोगवासिष्ठ )

ध्यात जी कहते हैं—

गृहीत इथ केषेषु सुख्युमा घर्मगात्रेत् । ( महाभारत )

जापेधर्म का सिद्धान्त है कि जितने ही संघर्ष हैं सधका चय, जितने उच्चत हैं उनका परत, संघोगों का विद्योग, और जीवन का मरण निश्चय है ।

सम्बूद्धान्तः निश्चयाः, पतनान्ताः समुच्छयाः ।

संदोषा विप्रयोगान्ता, मरणान्ते तु जीवितम् ॥

( यह श्लोक रामायण महाभारत तथा शीघ्रग्रन्थों में ओरों का स्वीकार आता है। )

प्राणियों का संयोग चारों में मिलने और विद्युत्तेजाकी लकड़ी या आकाश में मिलनेवाले मेंसों के समान ही है—

समेत च यथा भूयो व्यपासानित वलाहकाः ।

संयोगो विषयोगम् तथा मे प्राणिनां गतः ॥ ( उद ६-११ )

यथा काँड़ च काँड़ च समायेत महोदधी ।

समेत चान्यप्रेयातां तदृदृत-समायामः ॥ ( महाभारत )

बुद्ध के स्पाय को देखकर हमें राम का स्मरण हो जाता है।

शुष्टीं महूलचीमि वसानस्य च वाहके ।

दरशुविस्मयास्यस्य मुखारागं समं जनाः ॥ ( रघुवंश )

×                    ×                    ×

नृण समान भूषण वसन, तात तज्जे रघुवीर ।

हृदय न हृष्टं विपाद करु पहरे वाकल चीर ॥ ( तुलसी )

×                    ×                    ×

सुभरवालहार कलव्रतलो, धीविप्रवामि निरसम् हृत्या ।

एषुगुणं कालानहंसचिन्हं, वन्यं स धीरोभित्तकाण गासः ॥

( उद ६-५९ )

बुद्ध को विदा करते हुए लुम्दक की वही दशा हुई जैसे धीराम को विदा करते हुए सुमंत्र की हुई थी :—

नास्मि यामुं पुरं ताको द्वामानेन चेतसा ।

स्वामरण्ये परित्यन्तं सुमंत्र इव रात्रयम् ॥ ( उद ६-३६ )

बुद्ध के चरित्र में हमें प्रवल वैराग्य, स्वाम, दक्षता, अविचल निष्ठा और लोकहित की भावना के प्रमाण प्रसूत मात्रा में मिलते हैं। यह से पहले संसार की नवरत्ना से उत्पत्ति काम भोगों के प्रति उन्हें निर्वेद उत्पत्ति होता है और उनके दुःख रूप होने का असुख बढ़ता है। किस भावान्वयन् को कामभोगों के प्रति प्रीति हो सकती है ?—‘कामेषु कस्यायनवतो इति: स्याद्’। शुष्टी पहली, नवजात विद्या, बुद्ध विदा और समृद्धिएँ रात्र को लोककर असूत की लोक में वे निकल

पढ़ते हैं ( अमर्तं प्राप्तुमितोश मे वियामा ) भोगों के विषयीत तथ की और सुहने हैं और कठोर तपस्या करते हैं । किन्तु उससे भी जब आमप्राप्ति नहीं होती तब मध्यम मार्ग (मध्यमा पदित्यदा) आवश्यक लेते हैं । यिता के मनावे जाने पर वह नहीं लौटते और कहते हैं कि संसार के विषयों से विरक्त होकर मैं शान्ति की कामना से बहाँ आया हूँ :—

अहं हि संसारवारेण विदः, विनियुतः शान्तिमवाप्तुकामः ।

उगत हित की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने यह किया ('बोधाय जातोस्मि जगदितार्थम्' तथा 'धर्मस्व हुते जगतो हिताम्') इदं निवाप करते हैं कि जब तक सफलता नहीं मिले तब तक विषय नगर में प्रवेश नहीं करेंगे—

जान्ममरणायोरहृष्टपारः, न पुनः कपिलालयं प्रवेष्टा ।

चाहे प्रज्ञविलित लभि में वहीं न प्रवेश करना पड़े किन्तु असफल होकर पर नहीं लौटेंगा ।

अहं विशेषं ज्वलितं तृताशनं, न चाकृतार्थः प्रविशेयमालयस् ॥

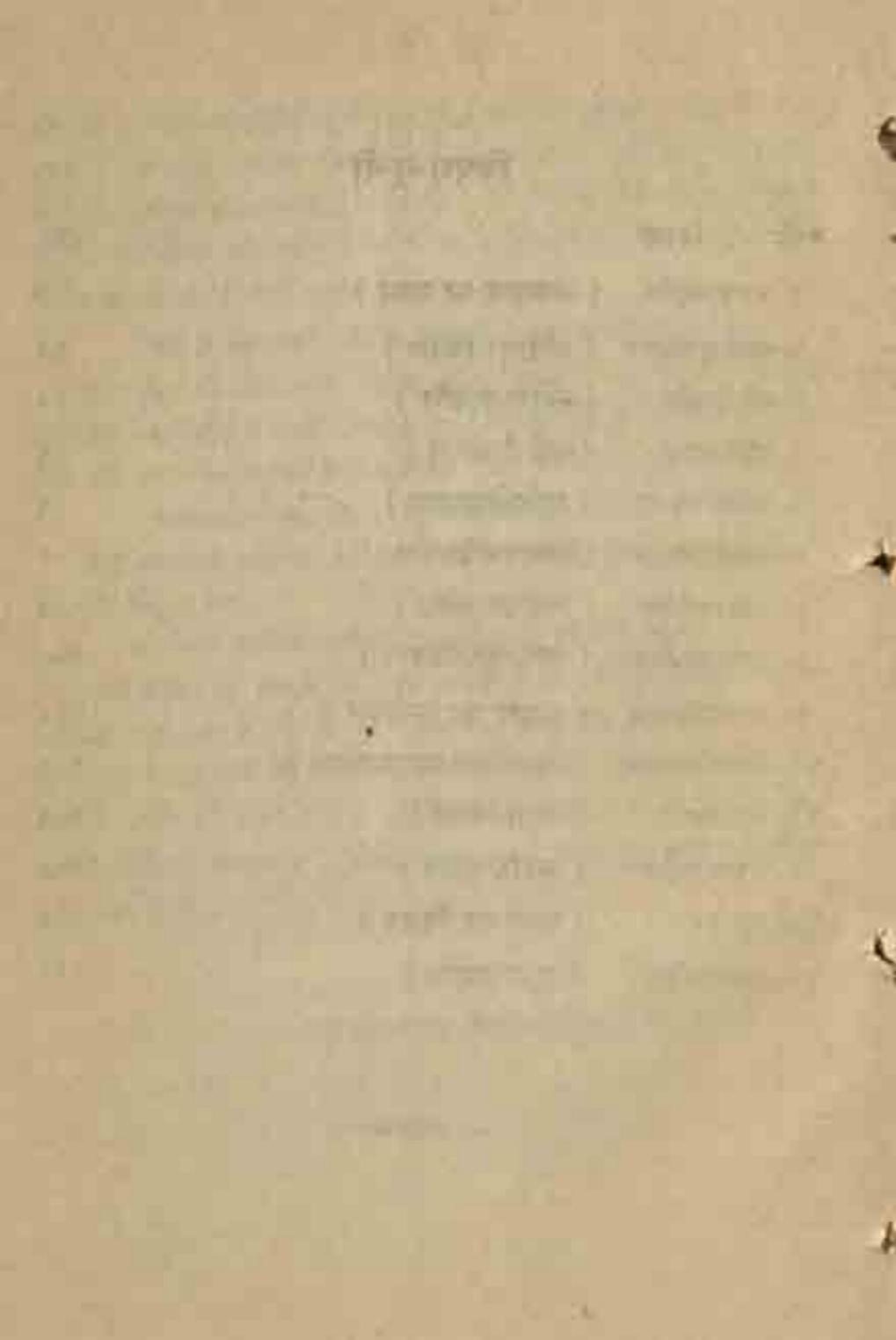
उन्हें निवाप से दिगाने के लिये अनेक विद्या आते हैं जिन्हें मार का आक्रमण कहा गया है । वे उस पर विद्या प्राप्त करते हैं । यहीं तक कि वर्णन उत्तरवित के १४ संगों में मिलता है । १७ वें संगे के केवल ३१ लोक प्राप्त होते हैं । ऐसे तो ग्रन्थम् संगों के प्रारम्भिक ० लोक तथा २५ से ३१ लोक भी मूल प्रति में अपाप्य हैं । शास्त्री जो ने १४वें संगों में ३२ से ११२ लोकों की रचना की है ।

व्योहार राजेन्द्र सिंह

भूतपूर्व अध्यक्ष, हिन्दी साहित्य सम्मेलन ( म. प. )

## विषय-सूची

संग्रही:	विषयाः	पृष्ठा:
१.	भगवत्यसुतिः ( भगवान् का जन्म )	१
२.	अन्तःपुरविहारः ( अंतःपुर-विहार )	११
३.	संवेगोत्पत्तिः ( संवेग-उत्पत्ति )	३०
४.	लीविषात्मः ( ली-निषात्मण )	४२
५.	अभिनिष्करणम् ( अभिनिष्करण )	५९
६.	छन्दक-निर्वर्णनः ( छन्दक-विसर्जन )	७६
७.	तपोवन-प्रवेशः ( तपोवन-प्रवेश )	८८
८.	अन्तःपुर-विलापः ( अन्तःपुर-विलाप )	१००
९.	कुमारान्वेषणम् ( कुमार का अन्वेषण )	११८
१०.	अस्याभिगमनम् ( चिम्बसार का आगमन )	१३४
११.	कामविग्रहः ( काम-निन्दा )	१४२
१२.	अराङ्ग-दर्शनः ( अराङ्ग-दर्शन )	१५०
१३.	मारविवयः ( काम पर विजय )	१७८
१४.	कुद्रत्प्राप्तिः ( कुद्रत्प्राप्ति )	१९३



॥ श्रीः ॥

# बुद्धचरितम्

—१०—

अथ प्रथमः सर्गः

भगवत्प्रसूतिः

भगवान् का जन्म

इत्त्वा कुवंशार्णवं संप्रसूतः प्रेसाकरश्चन्द्र इव प्रजानाम् ।

शाकयेषु साकल्यगुणाधिवासः शुद्धोदनारुद्धो नृपतिर्बूष्व ॥१॥

इत्त्वा कुवंशार्णवं संप्रसूतः प्रेसाकरश्चन्द्र इव प्रजानाम् ।  
शाकयेषु साकल्यगुणाधिवासः शुद्धोदन नामक राजा, शाकयो में  
हुआ ॥१॥

- आसीन्महेन्द्रादिसमस्य तस्य पृथ्वीव गुर्वी महिषी नृपस्य ।

मायेति नाम्नी शिवरत्नसारा शीलेन कान्त्याप्यधिदेवतेव ॥ २ ॥

महेन्द्र पवंत के सद्वा उस राजा की कल्पाशमय रूपों से सार बाली,  
पृथ्वी के समान गोरत्र शालिनी शील परं कान्ति से अभिदेवता के दुल्य  
'माया' नाम की रानी थी ॥ २ ॥

टिप्पणी—आश्वघोष कृत प्रथम सात मूल इलोक अनुपलब्ध हैं । इन  
इलोकों की रचना, भी युर्नारायण जीवरी की हिन्दी के आचार पर  
रामचन्द्र दास शास्त्री ने की है ।

देवैरभिप्राप्यमनल्पमोरं सार्थं तथासौ बुभुते नृपालः ।

सा चाय विद्येव समाधियुक्ता गर्भं दधे लोकहिताय साध्वी ॥ ३ ॥

राजा उस रानी के साथ, देवता भी इसकी आभलाया करते हैं—ऐसे अपार ( सुख ) मोग मोगता या और तब समाधियुक्त विदा के महय उस साध्वी रानी ने लोक कल्पाणा के लिए गर्भ धारण किया ॥ ३ ॥

पूर्वं तु सा चन्द्रभिवाभग्न्ये स्वज्ञे ददर्शोत्मवपुर्विशन्तम् ।

नागेन्द्रमेकं घबलं न धीरा तस्मान्निभित्तादिभयाऽन्वकार ॥ ४ ॥

उस रानी ने ( गर्भ धारण के ) पहले स्वज्ञ में अपने अन्दर एक सफेद हाथी प्रवेश करते हुए उसी पकार देखा जैसे बादल में चन्द्रमा प्रवेश करता है । किन्तु उस कारण से वह धीर रानी बरी नहीं ॥ ४ ॥

वंशाश्रियं गर्भगतां वहन्ती प्राचीव कल्ये विरराज राजी ।

सा शोकमोहक्त्वमवर्जितापि धनं धनं गन्तुमियेष देवी ॥ ५ ॥

वंश की शोमा या वेभव रूप गर्भ की धारण किये हुए वह रानी, पातः कालीन प्राची दिशा की माँसि शोमित हुई और शोक मोह तथा यक्षान रहित भी उस देवी ने सान्देश में जाने की इच्छा की ॥ ५ ॥

सा लुम्बनीनान्नि धने मनोङ्गे ध्यानप्रदे देववनादन्तुने ।

धासेच्छया प्राह पति प्रतीक्षा सत्यानिभे दोहदमाभनन्ति ॥६॥

विश्वान करने वाली वह रानी, मनोहर, ध्यानप्रद एवं देव वन (नन्दनवन) से कम नहीं ऐसे 'लुम्बनी' नाम धन में नियास करने की इच्छा ते पति से थोली । गर्भ के अनुसार ही दोहद ( गर्भकालीन इच्छा ) होती है—ऐसा माना है ॥६॥

तस्या विदित्वा लृप आर्यमावं धर्मद्वज्ज तुष्ट सुतरामनन्दत् ।

इच्छाविधातादहितं विशद्वयं तत्प्रीतये चाशु विनिर्जगाम ॥ ७ ॥

राजा उसका धर्म उक्त ऐष्ट माय जानकर बड़ा प्रसन्न हुआ । इच्छा-विधात से अनिष्ट की आशका करके रानी की प्रसन्नता के लिये शीघ्र निकल पड़ा ॥ ७ ॥

तस्मिन्वने शीर्षि राजपत्री प्रसूतिकालं समवेक्षमाणा ।  
शर्वां वितानोपहितां प्रपेदे नारीसहस्रैरभिनन्द्यमाना ॥८॥

सहस्रो लियों से अभिनन्दित ( सेवित ) राजा की पत्नी, प्रसव काल निकट समझकर, उस रोमायुक्त बन में वितान सहित शौशा पर गई ॥८॥

ततः प्रसन्नरच वभूव पुण्यस्तस्याश्च देवया व्रतसंस्कृतायाः ।  
पाश्वांत्सुतो लोकादिताय जडे निर्वेदनं चैव निरामयं च ॥९॥

तथ निर्मल पुण्य नक्षत्र प्रगट हुआ और व्रत से संशुद्ध देवी के पाश्व से जोक कल्पाणार्थं पुन उत्पत्त हुआ; रानी को न तो पीड़ा हुई और न रोग ही हुआ ॥९॥

ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मान्यातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्खः ।

कज्ञीवितश्चैव भुजांसदेशात्तथाविधं तस्य वभूव जन्म ॥१०॥

जिस प्रकार और्व का जन्म जांघ से, पुषु का हाथ से, इन्द्र उदय मानवाता का मस्तक से तथा कज्ञीवान् का कौंख से हुआ था, उसी प्रकार उसका जन्म 'पाश' से हुआ ॥१०॥

कमेण गभीरभिनिःसृतः सन् वभी च्युतः खादिव योन्यज्ञातः ।

कल्पेष्वनेकेषु च भावितात्मा यः संप्रज्ञानन्सुपुवे न मूढः ॥११॥

काल-कम से गर्भ में निकलने पर, वह आकाश से गिरे हुए के समान शोभित हुआ, और अनेक कलों में कृत पुरुष के कारण पवित्र अनन्तकरण वाला वह सबोध ( बाप्रत ) उत्पन्न हुआ, मूढ़ ( मृद्धित ) होकर नहीं ॥११॥

दीप्त्या च धैर्येण च यो रहाज वालो रविभूमिमिवावतीर्णः ।

तथातिदीप्तोऽपि निरीक्ष्यमाणो जहार चक्षुष्य यथा शशाङ्कः ॥१२॥

तेज एवं धैर्य से वह, भूमि पर आये हुए बाल-सूर्य की भाँति, शोभित हुआ; और अत्यन्त तेजस्वी होने पर भी, रेखे जाने पर, ( देखने वालों के ) नेत्र, चन्द्रमा के समान, हर लेता था ॥१२॥

स हि स्वगात्रप्रभया ज्वलन्त्या दीपप्रभां भास्करवन्मुमोप ।

महाहृजाम्बूनदचारुवर्णो विद्योतयामास दिशश्च सर्वीः ॥१३॥

उसने शपने शूरीर की बाल्वल्यमान प्रभा से सूर्य सहशु दीपदेवी को हर लिया; और उत्तम स्वर्ण सहशु मुन्द्र बाणी बाले (उस बालक) ने सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित किया ॥३॥

अनाकुलाकुन्जसमुद्धृतविनि निष्पेषवद्व्यायतविकमाणि ।

तथैव धीराणि पदानि सप्त सप्तर्षिरासहशो वगाम ॥४॥

सप्तनि तारा के सहशु वह सात पग चला; उसके पग शान्त, आँठ, उम्रत, पूर्वाभ्यल्प, दीर्घ, पराक्रम युक्त एवं धीर थे ॥४॥

बोधाय जातोऽस्मि वगद्वितार्थमन्त्या भवोत्पत्तिरियं ममेति ।

चतुर्दिशो त्रिहगतिर्विक्लोक्य वाणी च भव्यार्थकरीमुवाच ॥५॥

और उस के सहशु गाले बाले (उस बालक) ने चहुं आर देस्तकर मह मज्ज एवं साखें बाणी को—“त्रिहगतस्याम् के लिये एवं शानप्राप्ति के लिए, मैंने अन्म ग्रहण किया है; संसार में वह मेरा अन्तिम अन्म है” ॥५॥

स्वात्मक सुते चन्द्रमरीचिशुओं द्वे वारिधारे शिशिरोष्णवीर्ये ।

शारीरसंस्पर्शमुखान्तराय निषेततुमूर्धनि तस्य सौम्ये ॥६॥

जन्म किरण सहशु निमंल दो धाराएँ—शीतल एवं उषा, आकाश से स्वित हुई और आन्तरिक सुख के लिये शूरीर सर्व कर उसके सीम्य मस्तक पर गिरी ॥६॥

ओमद्विताने कनकोऽवलाङ्गे वैद्वर्यपादे शायने शायनम् ।

यद्वौरवात्काञ्चनपद्महस्ता बन्धाधिपाः संपरिवार्यं तस्युः ॥७॥

सुन्दर चाँदनी से युक्त, स्वर्णामय उच्चल एवं वैद्वर्य मर्यि के पादों से युक्त शीरा पर वह सोया हुआ था। उसके प्रभाव के कारण वन्धपति-नाथ हाथ में स्वर्णी कमल धारण किये हुए उसे चहुं आर देस्तकर छड़े हुए ॥७॥

अहरवरुपाश्र दिवौकसः स्वे यस्य प्रभावात्प्रपत्तैः शिरोभिः ।

अधारयन् पाषडरमातपत्रं बोधाय वेषुः परमाशिष्ठश्च ॥८॥

और अहरवरुप रूप देव गणों ने उसके प्रभाव से प्रभावित होकर, नत मस्तक हो, आकाश में शुभ व्रत धारण किया और उसकी दुर्दल प्राप्ति के लिये शुभायोर्बाद दिये ॥८॥

महोसगा धर्मविशेषतर्पाद् बुद्धेष्वतीतेषु कृताधिकाराः ।

यमव्यजन् भक्तिविशिष्टनेत्रा मन्दारपुष्टे: समवाकिरंत्र ॥ १९ ॥

अतीत दुर्दो मे जिनका आधिकार या ( उनसे सेवा द्वाया प्रसन्न किया या ) ऐसे हो जहे लोगों ने धर्म विशेष की लालसा से उसके ऊपर अवल हुआये और मार्ति-युक्त नेत्रों ने देखते हुए मन्दार छल बरसाये ॥ २० ॥

तथागतोत्पादगुणेन तुश्चाः शुद्धाधिकासात्र विशुद्धसत्त्वाः ।

देवा ननन्दुविंगतेऽपि रागे ममस्त्व दुःखे जगतो हिताय ॥ २० ॥

तथागत के बन्म से ग्रसन होकर, पवित्र अन्तङ्करण नाले शुद्धाधिकार देवगण उदासीन ( राग गीत ) होने पर भी आनन्दित हुए, ( क्योंकि ) दुःख से पाइत विश्व के हित के लिये उसका बन्म हुआ है ॥ २० ॥

यस्य प्रसूती गिरिराजकीला बाताहता नौरिव भूत्वात् ।

सचन्दना चोत्पलपद्मगम्भी पपात शृण्गिर्गगनादनभात् ॥ २१ ॥

उसके बन्म होने पर, गिरिराज ( सुमेह ) रूप कोल पर स्थिर रहनेवाली हुओ, बायु से आइत नीका की भाँति काँपा और जिना बादल के आकाश से चन्दन तुगान्धि युक्त लाल नीते कमल मिथित हुए हुई ॥ २१ ॥

बाता वन्दु स्पर्शसुखा भनोऽहा दिव्यानि बासांस्यवपातयन्तः ।

सूर्यः स एवाभ्यधिकं चकाशे जज्वाल सौम्याचिरनीरितोऽुम्निः ॥ २२ ॥

स्वर्ण से आनन्द देने वाली, एवं मन को लुमाने वाला बायु उत्तम वस्त्रों की वर्षा करती हुई बहने लगी । वही सूर्य ( इत प्रकार ) अत्यधिक तेजस्वी हुआ ( मानो ) जिना भीके हो अम्बि लौम्य शिला सहित लगने लगी ॥ २२ ॥

प्राणुत्तरे चावसधप्रदेशे कूपः स्वर्णं प्रादुरभूतिसत्तान्तुः ।

अन्तःपुराण्यामतविस्मयानि यस्मिन् कियास्तीर्थं इव प्रचकुः ॥ २३ ॥

नियास भूमि की उत्तर पूर्व दिश में उत्त्वल वल युक्त कुण्ड का निर्माण अपने आप ही हुआ जिसे तीर्थं सहया ( पवित्र ) मानकर, अन्तःपुर स्थित जियो ने आमर्त्यं चकित समस्त कियाएं की ॥ २३ ॥

धर्मार्थभिभूतगणेश दिव्येस्तदर्शनार्थं बनमापुपूरे ।

कौतूहलजनैव च पादपेष्यः पुष्पागयकालोऽप्यवपातयद्भिः ॥ २४ ॥

उसके दर्शन के लिये आये हुए धर्माभिलापी महापुरुषों से वह बन भर गया । उन्होंने कौतूहल पूर्वक असमय में भी उच्छों से खिले हुए पुष्पों की वर्णना की ॥ २४ ॥

भूतैरसीम्यैः परित्यक्तहिसेनाकारि पीडा स्वगणे परे वा ।

लोके हि सर्वाश्व विना प्रयासं नजो नराणां शमत्यावभूतुः ॥ २५ ॥

कृत्र प्राणियों ने स्वाभाविक हिसा त्यागकर सज्जनो अथवा अन्य लोगों को कह नहीं पहुंचाया और संसार में सब प्रकार के रोग विना अपन के शान्त हो गये ॥ २५ ॥

कलं प्रशोदुः सूरपञ्चिणश्च शान्ताम्बवाहाः सरितो बभूतुः ।

दिशः प्रसेदुर्विमले निरध्रे विहायसे दुन्दुभयो निनेदुः ॥ २६ ॥

सूर और उच्छों मधुर स्वर में बोले, नदियों शान्त जल युक्त बही, दिशाएं निर्मल हो गई, मेघ राहित रखन्त आकाश में नगाएं लजे ॥ २६ ॥

लोकस्य मोक्षाय गुरुरी प्रसन्ने शमं प्रपेदे जगद्व्यवस्थम् ।

प्राप्नेव नाथं स्वलुनीतिमन्तं एको न मारो मुद्रमाप लोके ॥ २७ ॥

जगत् के भोव के लिये गुरु के उत्पन्न होने पर अव्यवस्थित जगत् शान्त ( अवस्थित ) हो गया मानो नीतिवान् यज्ञा प्राप्त हो गया हो । केवल कामदेव को प्रसन्नता नहीं हुई ॥ २७ ॥

दिव्यादभूतं जन्म निरीक्ष्य तस्य धीरोऽपि राजा बहुचोभमेतः ।

स्नेहादसौ भीतिप्रमोदजन्ये द्वे वारिधारे मुमुक्षे नरन्द्रः ॥ २८ ॥

उसका दिव्य एवं अनुभुत जन्म देखकर राजा यैर्यवान् होने पर भी अस्यन्त लुभ दृश्या और स्नेहादश भय एवं प्रमोद जन्म दो अभू-धाराएं उसने प्रवाहित की ॥ २८ ॥

अमानुषों तस्य निशम्य शक्ति माता प्रकृत्या करुणाद्विचिता ।

प्रीता च भीता च बभूत देवी शीतोष्णमिक्षेव जलस्य धारा ॥ २९ ॥

उसकी अमानवीय शक्ति देखकर, त्वमाव से ही करण हृदय बाली माता, शौतज एवं उभए बल की मिथित धारा की भाँति, आनन्द एवं भय से मर गई ॥ २९ ॥

निरीक्षमाणा भयहेतुमेव व्यातुं न शोकुः वनिताः प्रवृद्धाः ।

पूताश्च ता मङ्गलकर्म चकुः शिवं ययाचुः शिशावे सुरौचान् ॥३०॥

अति इदं स्थियां भय के ही कारण देखती हुईं, ज्ञान करने में असमर्थ रही और पवित्र होकर उन्होंने मंगलाचरण किया तथा ऐव समुदाय से रिशु के लिए मङ्गल की याचनाएं की ॥ ३० ॥

विप्राश्च रुद्याताः अतशीलवामिभः शुत्वा निमित्तानि विचार्य सन्यक् ।

सुखैः प्रफुल्लैऽवकिंतंत्र दीप्ते भीतं प्रसन्नं नृपमेत्य प्रोचुः ॥३१॥

शास्त्र, शील एवं धार्या ने रुद्याति प्राप्त ब्राह्मणों ने निमित्त सुनकर, उस पर अच्छी सरह विचार किया और आश्चर्य सहित प्रफुल्लत एवं उज्ज्वल सुख से राजा से; जो कि भयभीत एवं प्रसन्न भी था, कहा—॥ ३१ ॥

शमेषस्वो ये भुवि सन्ति सत्त्वाः पुत्रं विनेच्छन्ति गुणं न कविचन् ।  
त्वस्पुत्र एषोऽस्ति कुलप्रदीपः नृत्योरसर्वं त्वदा विधेहि राजन् ॥३२॥

हे राजन् ! संसार में जो शान्ति चाहने वाले धार्या हैं, वे पुत्र के अतिरिक्त और कोई गुण नहीं चाहते । आपका यह पुत्र कुल का दीपक है, अतः आप नृथं उत्सव कीविये ॥ ३२ ॥

विहाय चिन्तां भव शान्तचिन्तो मोदस्व वंशस्त्रव बुद्धिभागो ।

लोकस्य नेता तव पुत्रभूतः दुःखादितानां भुवि एष त्रासा ॥३३॥

चिन्ता छोड़कर शान्त चित्त होकर आनन्द कीजिये, आप का वंश उत्पत्ति-शील होगा । संसार में दुग्धों से पीड़ित लोगों का रक्षक एवं विश्व का नेता, वह तुम्हारा पुत्र होकर उत्पन्न हुआ है ॥ ३३ ॥

दीपप्रभोऽयं कनकोऽज्ज्वलाङ्गः सुलक्षणैर्येस्तु समन्वितोऽस्ति ।

निविरुणानां समये स गन्ता बुद्धिभावं परमां श्रियं वा ॥३४॥

दीप के समान प्रकाशवान्, स्वर्ण की भाँति उज्ज्वल कान्ति वाला (यह

चालक ) जिन गुन लक्षणों से गुप्त है, ( उनसे ) वह समय पर गुणों का निष्पान होगा और उद्दो में अधिक होगा अथवा अत्यन्त ( राज्य ) भी प्राप्त करेगा ॥ ३४ ॥

इच्छेवद्सी वै पृथिवीजियं चेत् न्यायेन जित्वा पृथिवीं समग्राम् ।

भूपेषु राजेत यथा प्रकाशः अहेषु सर्वेषु रत्नेभिर्भाति ॥३५॥

यदि पृथिवी के राज्य को इच्छा करे तो न्याय से सम्पूर्ण पृथिवी को लोककर सब राजाओं के ऊपर उसी तरह शोभित होगा जिस प्रकार समस्त वर्हों के ऊपर सूर्य का प्रकाश ॥ ३५ ॥

मोक्षाय चेद्वा वनमेव गच्छेत् वल्लेन सम्यक् स विजित्य सर्वान् ।

मतान् पृथिव्यां वहुमानमेतत् राजेत शैलेषु यथा सुमेनः ॥३६॥

अथवा यदि मोक्ष के लिये वन को ही चावे तो वह ( अपने ) तत्त्व ज्ञान से सब मतों को बीत कर पृथिवी पर वह समानित हो, उसी प्रकार प्रतिहित होगा जिस प्रकार वर्हों के मध्य सुमेव ॥ ३६ ॥

यथा हिरण्यं शुचि धातुमध्ये मेरुगिरीणां सरसां समुद्रः ।

तारासु चन्द्रस्तपतां च सूर्यः पुत्रस्तथा ते द्विपदेषु वर्यः ॥३७॥

जिस प्रकार भातुओं में शुद्ध लवण, वर्हों में सुमेव, बलाशयों में समुद्र, ताराओं में चन्द्रमा तथा अग्नियों में सूर्य ऐड है उसी प्रकार मनुष्यों में आपका पुत्र भेष्ट है ॥ ३७ ॥

तस्याच्चिणी निर्निमिषे विशाले स्तिथ्ये च दीप्ते विमले उथैव ।

निष्कम्पकृष्णायतशुद्धपरमे द्राष्टुं समर्थे खलु सर्वभावान् ॥३८॥

उसके नेत्र नितिमेष, विशाल, लिङ्ग, सीव एव निर्मल हैं उसी प्रकार निरचल, काले प्रत्येक लम्बे पर्पनियों वाले हैं अतः सब कुछ देव उक्ते में समर्थ हैं ॥ ३८ ॥

कस्मान्तु हेतोः कवितान्मवद्दिः वरान्मुणान् धारयते कुमारः ।

प्रापुनं पूर्वे मुनयो लृपाश्च राजेति पृथा जगदुद्धिजासाम् ॥३९॥

राजा ने पूछा—“तथा कारण है कि आपके द्वारा बलाये हुए जिन

अहे गुणों को कुमार चारण किये हुए हैं तो, पहले के मुनियों एवं शूष्यियों में नहीं थे ॥” तब ब्राह्मणों ने उससे कहा—॥३६॥

रवातानि कर्माणि यशो भृत्यानि पूर्वं न भूतानि भवन्ति पश्चात् ।

गुणा हि सर्वाः प्रभवन्ति हेतोः निदर्शनान्वयत्र च नो निवोध ॥४०॥

विमायात् कर्म, वह तथा तुदि, पहले ( किसी में ) नहीं हुए, बाद में ( किसी में ) ऐसे गये, ( इस समान्वय में सन्देह की बात नहीं है ) क्योंकि सब प्रकार के गुण किसी कारण से उत्पन्न होते हैं, इमारा दृश्यान्वय नुभिये—॥४०॥

यद्राजशास्त्रं भृगुरज्ञिरा वा न चक्तुव्यशकरावृपी तौ ।

तयोः सुतौ सीम्य ससर्जतुस्तत् कालेन शुक्रश्च वृहस्पतिश्च ॥४१॥

हे मौम्य ! वैष्ण वरमय चलानेवाले भगु एवं अहिरा शूष्यियों ने जिस राजशास्त्र को नहीं बनाया था, उस शास्त्र को उनके पुत्र शुक्र एवं वृहस्पति ने बनाया ॥४१॥

सारस्वतश्चापि जगाद् नार्त्वं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्वं ।

व्यासस्तत्त्वेन बहुचा चकार न यं वसिष्ठः कृतवानराकिः ॥४२॥

और जिस नष्ट हुए वेद को पहिले किसी ने नहीं देखा उसे ( बाद में ) सरस्वती के पुत्र ने कहा तथा व्यास ने इसको कहे विमारी में किया जो कि शक्तिनीन वसिष्ठ ने नहीं किया था ॥४२॥

बालमीक्षिरादी च समुर्जं पर्वा जप्रन्थ यज्ञ च्यवनो महर्षिः ।

चिकित्सितं यज्ञ चकार नात्रिः पश्चात्तदत्रेय शूष्यिज्ञंगाद् ॥४३॥

सर्वप्रथम बालमीक्षि ने पञ्च रचना की, जो महर्षि च्यवन ने नहीं की थी तथा अत्रि ने जिस चिकित्सा शास्त्र को नहीं रचा था, उसे आत्रेय शूष्यि ने कहा ॥४३॥

यज्ञ द्विजत्वं कुशिको न लेभे सद्गतिनः सूनुरवाप राजन् ।

बेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेत्वाकवो यां प्रथमं च्यवन्धुः ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! विश्वामित्र के पूर्वज कुशिक ने जिस द्विजत्व को नहीं पाया

था, उसे गांधि-पुत्र विश्वामित्र ने प्राप्त किया और सगर ने समृद्ध में बेला बाँधी, जो इच्छाकु के बंश में किसी ने नहीं बाँधी थी ॥४४॥

आचार्यकं चोगविधीं द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम ।

रुद्यातानि कर्मणि च यानि शौरे: शुरादयस्तेष्वबला वभूतुः ॥४५॥

योग विधि में द्विजों का जो आचार्य पद किसी दूसरे को नहीं मिला था वह पद बनक को प्राप्त हुआ । शौरि ने जो प्रतिष्ठ जर्म किये; शूर आदि उन कमों में आत्मर्पण रहे ॥४५॥

तस्मात्प्रभाराणं न वयो न वंशः कश्चित्क्वचिलङ्घै शूरमुपेति लोके ।

राजामृषीणां च हि तानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ॥४६॥

अतः न तो अवस्था ही प्रमाण है शौर न वंश ही । संसार में कोई भी, कही भी श्रेष्ठता प्राप्त कर सकता है जोकि राजाओं एवं शूरियों के पुत्रों में वे जर्म किये जो उनके पूर्वजों ने नहीं किये थे ॥४६॥

एवं नृपः प्रत्ययितैर्द्विजैस्त्वराज्ञासितश्चाप्यभिनन्दितश्च ।

शंकामनिष्टां विजहौ मनसः प्रहर्यमेवाधिकमाहरोह ॥ ४७ ॥

इस प्रकार उन विश्वासी ब्राह्मणों ने राजा को बान्धना दी, तथा उसका अभिनन्दन किया तब राजा ने अपने मन की अनिष्ट शंकाओं का परित्याग किया एवं अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त की ॥४७॥

प्रीतश्च तेष्यो द्विजसत्तमेभ्यः सत्कारपूर्वं प्रदद्वौ घनानि ।

भूयादयं भूमिपतिवर्योक्तो याचाज्ञायमेत्य वनानि चेति ॥ ४८ ॥

तब ( रूप ने ) प्रसन्न होकर उन ब्राह्मण भेष्टों को सत्कार पूर्वक इस उद्देश्य से घन दिया कि उनके 'जन्मानुसार वह राजा होवे' एवं 'कुद्रातस्या में ही घन को जाय ॥४८॥

आशो निमित्तेऽत्र तपोवलाच्च तज्जन्म जन्मान्तकरस्य बुद्ध्वा ।

शाकयेश्वरस्यालयमाजगाम सद्यमंतपादसितो महापिः ॥ ४९ ॥

तब महापि असित, निमित्तो से और तपोवल से 'जन्मान्तकर'—जन्म का अन्त करने वाले—का वह जन्म जानकर सद्यमं की विश्वासा से शाकय राज के पर आये ॥४९॥

तं ब्रह्मविद्ब्रह्मविदं उचलन्तं ब्राह्म्या अस्या चैव तपःशिया च ।

राजो गुरुगीरिवसत्क्लियाभ्यां प्रवेशयामास नरेन्द्रसद्य ॥५०॥

ज्ञानवेत्ता राजन्गुरु ने ज्ञान तेज और तपस्तेज से देवीप्रमाण उत्तर ज्ञानानी को गीरत एवं सत्कार पूर्वक राजमहल में प्रवेश कराया ॥५०॥

स पार्थिवान्तःपुरसन्निकर्षे कुमारजन्मागतहृष्टवेगः ॥

विवेश धोरो वनसंज्ञयेव तपःप्रकर्याच जराभयाच ॥ ५१ ॥

कुमार के जन्म से प्रातः हर्ष वेग से चुका वे ( असित ) राजा के आनन्द पुर के निकट पहुँचे । तपस्या के आधिक्य एवं दृद्धावस्था के कारण भीर, ( वे मुनि ) वहाँ भी बन जाता समझते थे ॥५१॥

ततो नृपस्तं मुनिमासनस्यं पादाच्यूपूर्वं प्रतिपूज्य सम्यक् ।

निमंत्रयामास यथोपचारं पुरा वसिष्ठं स इवान्तिदेवः ॥ ५२ ॥

तब राजा ने उस मुनि को चिह्नासन पर बैठाकर उसकी पाद अर्प्प सहित विविक्त पूजा करके उससे उसी प्रकार सादर निषेदन किया जिस प्रकार पूर्व काल मे अन्ति देव ने वसिष्ठ से किया था ॥५२॥

धन्योऽस्मपत्नुभास्यमिदं कुलं से यन्मां दिहकुर्मगवानुपेतः ।

आज्ञाप्यतां किं करवाणि सौम्य शिष्योऽस्मि विभन्निभुमर्हसीति ॥५३॥

मैं धन्य हूँ, मेरा यह कुल अनुग्रहीत है जो कि आप मुझे देखने के लिये आये हैं । हे सौम्य ! आजा दीजिये, मैं क्या सेवा करूँ ? आपका शिष्य हूँ, विश्वास कोजिये ॥५३॥

एवं नृपेणोपनिर्मत्रितः सन् सर्वेण भावेन मुनिर्यथावत् ।

स विस्मयोत्सुखविशालाद्विर्गम्भीरधीराणि वचांस्युवाच ॥ ५४ ॥

इस प्रकार राजा ने सर्वेषां नम्र भाव से मुनि के प्रति उचित निषेदन किया । तब मुनि के नेभ आशचर्च से पुलकित एवं विशाल हो गये तभा मुनि ने ये गम्भीर एवं धीर बचन कहे—॥ ५४ ॥

महात्मनि न्वद्युपपन्नं मंतत् प्रियातिथी ल्यागिनि धर्मं कामे ।

सत्त्वान्वयज्ञानवयोऽनुरूपा स्त्रिघाय यदेवं मयि ते मतिः स्पान् ॥ ५५ ॥

आप अतिथि-प्रिय, स्वागतील, भर्माभिलापी एवं महात्मा है। आप में  
यह योग है कि आपने स्वभाव, वंश जात एवं अवस्था के अनुसूत आपकी  
प्रेम तुदि मुख में हो रही है। ॥ ५५ ॥

एतच्च तथेन नृपर्पयस्ते घर्मेण सूक्ष्मेण धनान्यवाप्य ।

नित्यं त्यजन्तो विधिवद्वभूत्सपोभिराक्षा विभवैर्दिग्दाः ॥ ५६ ॥

यह वही विधि है जिससे वे राजपि दुर्लभ घर्म से धन प्राप्त करके निरन्तर  
विधिवद् दान करते हुए तपस्वा से परिशुद्ध एवं धन से रिक्त हो गये ॥ ५६ ॥

प्रयोजनं यत् ममोपयाने तन्मे शृगाु प्रीतिसुपेहि च त्वम् ।

दिव्या मवादित्यपये श्रुता वाग्वोधाय जातस्तनयस्तवेति ॥ ५७ ॥

किन्तु मेरे आने का जो आभिप्राय है उसे आप सुनिये एवं सुख पाइये ।  
सर्व मार्ग में मैंने दिव्य वाणी सुनी है कि दुदात्र धारि के लिए आपका पुनः  
उत्तम हुआ है ॥ ५७ ॥

अस्त्वा वचस्त्वच मनश्च युक्त्वा जात्वा निमित्तेत्च ततोऽस्म्युपेतः ।

दिव्याय शाक्यकुलाभ्वजस्य शक्तवज्जस्येव समुच्छ्रुतस्य ॥ ५८ ॥

उस ( दिव्य ) नारी को सुनकर आपने मन को योग दुर्त कर तथा  
निमित्तों में भी नामकर, वहाँ से, इन्द्र की जगा के समान अति उन्नत  
रामय कुल की जगा को देखने की इच्छा से यहाँ आया हूँ ॥ ५८ ॥

इत्येतत्वेवं वचनं निशम्य प्रहर्णसंभान्तगतिर्नरेन्द्रः ।

आदाय धात्र्यहुगतं कुमारं संदर्शयामास तपोवनाय ॥ ५९ ॥

इस प्रकार वह वचन सुनकर प्रसन्नता से शीघ्र गति वाले राजा ने धार्दि  
की गोद से कुमार को लेकर तपोवन के लिए दिलाया ॥ ५९ ॥

चक्राहुपादं स तसो महापिणीलावनद्वाङ्ग्लिपाणिपादम् ।

सोण्ड्युवं चारसावस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं वदशं ॥ ६० ॥

तब महारि ने आदन्तं साहूत राजपुत्र को देखा—इसके पैरों में चक्र के  
चिन्ह ते, अङ्गलियों हाथों परं पैरों में रेखाओं के बाल विशेष हुए थे, मौहि  
बालों से युक्त थीं एवं ध्वनि कोण हाथी के समान सूझती थीं ॥ ६० ॥

धार्यहूमंविष्टुमवेद्य चैन देवद्वासंविष्टमिवाग्निस् तुम् ।

बन्धु पद्मान्तविचक्षिताश्रुनिश्वस्य चैव त्रिदिवोन्मुखोऽभूतः ॥६१॥

देवी ( पार्वती ) को गोद में सोये हुए अभिसूनु ( कात्तिकेय ) के समान, घाँस की गोद में सोये हुए इस कुमार को देखकर, महिला जिनकी पपनियों पर आँख आ गये थे, लम्हों सर्वसे लेफर आकाश की ओर देखने लगे ॥६१॥

हष्ट्रासिरं त्वश्रुपरिष्टुलाञ्छं स्लेषात्तनूजस्य नृपरचक्षन्ते ।

सगद्रदं वाष्पकपायकरणः पप्रच्छ त प्राज्ञलिरानताङ्गः ॥ ६२ ॥

आँखों से ताहाबोर नेत्र बालों असित को देखकर पुष्ट्वास्तल्प से राशा कौप गया । उसका कष्ठ बाण से भारी हो गया । तिर सुझाये, तथा हाथ थोड़े हुए गद्गद स्वर में उसने पूछा—॥ ६२ ॥

अल्पान्तरं वस्य वपुः सुरेभ्यो चहृदभुतं यस्य च जन्म दीप्तम् ।

तस्योत्तमं भाविनमात्य चार्थं तं प्रेद्य कस्मात्तव धीर वाष्पः ॥६३॥

हे धीर ! ( आपने ) जिसका शरीर देवताओं से थोड़े ही अन्तर का, जिसका देवीप्रमाण वन्म बहुत अद्भुत एवं जिसका मार्दी अर्थ उत्तम कहा है उसे देखकर आपको आँख नयो आये ॥ ६३ ॥

अपि स्थिरायुर्भगवन् कुमारः कचित्त शोकाव भम प्रसूतः ।

लघ्वा कथंचित्सलिलाञ्जलिर्में न स्वल्पिमं पातुमुपैति कालः ॥ ६४ ॥

हे भगवान् ! कुमार दीर्घायु है न ? मेरे शोक के लिये तो नहीं जन्मा है ? जो जलाञ्जलि मुझे बड़ी कठिनाई से प्राप्त है उसे पीने के लिये काल तो नहीं आ रहा है ? मुझे नृत्य के बाद जलाञ्जलि देने के लिये कुमार जीवित तो रहेगा न ? ॥ ६४ ॥

अप्यक्षयं मे यशसो निधानं कचिद्प्रबो मे कुलहस्तसारः ।

अपि प्रयासामि सुखं परत्र सुप्तोऽपि सुत्रेऽनिमित्यकच्छुः ॥ ६५ ॥

मेरे यश के कोष अक्षय हैं न ? मेरे पूर्वबों की कमाई ( सत्य ) निधन तो है ? पुत्र के यति एक आँख खुली रखने वाला मैं तुम पूर्वक परलोक जाऊँगा ? ॥ ६५ ॥

कचिन्म मे जातमपुल्लभेव

कुलप्रवालं परिशोषमागि ।

जिप्रे विभो बृहि न मेऽस्ति शांनितः

स्नेहं सुते वेत्स हि वान्धवानाम् ॥ ६६ ॥

क्या मेरा यह नव जात कुल का अङ्कर विना 'कुले सूत्र तो नहीं जायगा' है विभो ! रीत्र बतावे, मुझे यान्त नहीं है, ज्योकि पुत्र के प्रति पिता का मैम आप जानते ही है ॥ ६६ ॥

इत्यागतावेगमनिष्टबुद्ध्या तुद्ध्या नरेन्द्रं स मुनिर्भाषे ।

मा भून्मतिस्ते नृप काचिदन्या निःसंशयं तथद्वोचमस्मि ॥ ६७ ॥

अनिष्ट के भय से इस प्रकार भयमीत होने वाले राजा से उस मुनि ने कहा—हे राजन् ! आपको भास्या अन्य प्रकार को नहीं होना चाहिये, जो कुछ मैंने कहा है, वह निस्तन्देह होगा ॥ ६७ ॥

नास्यान्यथात्वं प्रति विकिया मे स्वां बद्धनां तु प्रति विकल्पोऽस्मि ।

कालो हि मे यातुमयं च जातो जातिचयस्यासुलभस्य बोद्धा ॥६८॥

इसके अनिष्ट के प्रति मुझे विकार नहीं हुआ है, मैं वज्रित हो रहा हूँ इसीलिये मैं विकल हूँ । मेरे जाने का यह समय ( मरण काल ) आ गया है एवं जन्मनाश के सुलभ उपायों को जानने वाला यह वस्त्र हुआ है ॥६८॥

विहाय राज्ये विषयेष्वनास्थस्तीयैः प्रयत्नैरधिगम्य तत्त्वम् ।

जगत्यर्थं मोहत्तमो निहन्तुं ज्वलिष्यति ज्ञानमयो हि सूर्यः ॥६९॥

विषयों में अनासक होकर राज्य स्वारा देगा, तीव्र प्रयत्नों से तत्त्व प्राप्त करके संसार में मोह कृप अंभकार को नष्ट करने के लिये यह जान कृप सूर्य प्रकाशित होगा ॥६९॥

दुःखार्णादव्याधिविकीर्णेनाजरातरङ्गान्मरणोप्रवेगान् ।

उत्तारगिष्यत्ययमुखमानमार्त जगज्ञानमहाप्लवेन ॥७०॥

व्याधि कृप कैन जे व्याप्त, जरा कृप तरंग आला मृत्यु कृप तीव्र देवशन् दुःख समुद्र से बाते हुए पीड़ित संसार को यह जान कृप विशाल नौका के द्वारा पार डूटाएंगा ॥७०॥

प्रक्षाम्नुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां ब्रतचक्रवाकाम् ।

अस्योन्तमां धर्मनदीं प्रवृत्तां तृष्णादितः पास्यति जीवलोकः ॥७१॥

यह, प्रक्षा रूप बलप्रवाह वाली, अचल शोक रूप तट वाली, समाधि रूप शोतलता, युक्त व्रत रूप चक्रवाक (पक्षी) से व्याप्त उच्चमधर्म नदी व्याप्तया तथा तृष्णा रूप ध्यास से व्याकुल संसारे जीव ठस नदी का बल पीड़ित है ॥७१॥

दुःखादितेभ्यो विषयावृतेभ्यः संसारकान्तारपथस्थितेभ्यः ।

आस्थास्यति शोक विमोक्षमार्गं मार्गप्रनाटेभ्य इवाभ्योभ्यः ॥७२॥

विषयों से लिप्त दुखों से पीड़ित संसार रूप जंगली पथ के पथिकों को यह मोक्ष मार्ग बतावेगा, जैसे मार्ग से भटके हुए पथिकों को बताया जाता है ॥७३॥

विद्यमानाय जनाय लोके यागामिनलाय विषयेन्धनेन ।

प्रह्लादमाधास्यति धर्मवृष्ट्या वृष्ट्या भद्रमेष इवातपान्ते ॥७३॥

यह, संसार में विषय रूप लकड़ी वाली राग रूप अग्नि से बल रहे लोगों को धर्म की वर्षा करके शीतल करेगा जैसे श्रीभावचान ने महामेष बल वर्षा कर जगत को शोतलता देता है ॥७३॥

तृष्णार्णलं मोहतमकपाटं ढारं प्रजानामपयानहेतोः ।

विपाटयिष्वत्ययमुत्तमेन सद्धर्मताडेन दुरासदेन ॥७४॥

यह, प्रचाशों के निकलने (मोक्ष) के लिये तृष्णा रूप अर्णला वाले मोहनवकार रूप दरबाजे को उच्चम दुर्घंयं धर्म के प्रहार से फाड़ दालेगा ॥७४॥

स्वैर्मोहपाशौः परिवेष्टितस्य दुःखाभिभूतस्य निराशयस्य ।

लोकस्य संवृथ्य च धर्मराजः करिष्यते बन्धनमोक्षमेषः ॥७५॥

यह धर्म का राजा होगा एवं बुद्धत्व प्राप्त करके अपने मोहन्याश से बंधे हुए, दुर्घंय से पीड़ित श्वाशयहीन जगत् का बन्धन खोलेगा ॥७५॥

तन्मा कुशः शोकभिर्म प्रति त्वमस्मिन्स शोच्योऽति मनुष्यलोके ।

मोहेन वा कामसुखेर्मदाद्वा यो नैष्ठिकं ओष्यस्ति नास्य धर्मम् ॥७६॥

अतः आप इसके लिये शोक न करें, इस मनुष्य लोक में वह सोचने

सोभय होगा जो मोह ने या विषय सुन को आसक्ति से अपवा मद के कारण  
इसका नेत्रिक धर्म नहीं सुनेगा ॥७५॥

अमृस्य तस्माच्च गुणादतो मे व्यानानि लब्धवाप्यकृताथर्तवे ।

धर्मस्य तस्याभवणादहं दि मन्ये विपत्ति विदिवेऽपि वासम् ॥७६॥

और मे हम गुण ( इसके धर्म ) से भ्रष्ट ( वंचित ) रह जाऊगा, अतः  
ज्ञान ( योग ) को प्राप्त करके भी मे अकृताधर्म हो जाए क्योंकि उस ( नेत्रिक )  
धर्म को न सुनने के कारण त्वंगावास को भी मे विपत्ति मानता हूँ ॥७७॥

इति श्रुतार्थः समुहृत्सदारत्यकत्वा विपादं गुसुदे नरेन्द्रः ।

एवंविभ्रोऽयं तत्यो ममेति मे न स हि स्वामपि सारबत्ताम् ॥७८॥

राजा, इस प्रकार अर्थ ( बातें ) सुनकर मिथो एवं पत्नियो सहित हुआ  
होड़कर आनन्दित हुआ । 'मेरा यह पुत्र ऐसा है ?' — यह विचार कर अपने  
को सौमान्यवान् माना ॥७९॥

आर्णव मार्गेण तु यास्यतीति चिन्ताविधेयं हृदये चकार ।

न खल्वसौ न प्रियथर्मपञ्चः संताननाशानु भयं ददर्श ॥८०॥

'वह शूषियो के मार्ग पर चलेगा'—इससे उसे हृदय मे चिन्ता हुई ।  
उह भर्मपित नहीं था—ऐसी बात नहीं है ( अपितु ) उसने सन्तति विच्छेद  
का भय देखा ॥८१॥

अथ मुनिरसितो निवेद्य तत्त्वं सुतनियतं मुतविकलवाय राहे ।

सत्त्वहुमतमुदीद्यमाणरूपः पवनपर्यन यद्यागतं जगाम ॥८०॥

तब अस्ति मुनि, पुत्र के सम्बन्ध मे व्याकुल राजा से पुत्र के नियत  
( अपरम्परावी ) तत्त्व बताकर, लोगो के द्वारा समान पूर्वक देखते ही देखते  
बायु मार्ग से बैठे आये थे वैसे ही चले गये ॥८१॥

कृतमितिरनुजासुतं च हृष्टा मुनिवस्तमनवरो च तन्मती च ।

वहुविधमनुकम्पया स साधुः प्रियसुतवद्विनियोजयांचकार ॥८२॥

कृताधर्म तु उदि उस साधु ( अस्ति ) ने अपनी वहिन के पुत्र ( मर्जि ) को  
देखकर अत्यधिक अनुकम्पा से मुनि ( तुद ) के पत्नन सुनने दिया उसके  
मत मे चलने के लिये प्रिय पुत्र के समान अनुशासित किया ॥८३॥

नरपतिरपि पुत्रजन्मस्तुष्टो विषयवरगतानि विमुच्य चन्द्रनानि ।

कुलसहशमचीकरण्यथावत् प्रियतनयस्तनयस्त्वं जातकम् ॥ ८२ ॥

राजा ने भी पुत्र-जन्म की सुरी में राज्य के सभी अन्धनो ( शेषदेयो ) को छोड़ दिया और उष पुत्र ने अपने पुत्र प्रिय का कुल के अनुसार जात-कल्म संस्कार करवाया ॥ ८३ ॥

दशसु परिणातेऽवहः स चैव प्रयत्नमनाः परवा मुदा परीतः ।

अकुरुत जपहोममंगलाद्याः परमभवाय सुतद्वय देवतेज्याः ॥ ८४ ॥

परम आनन्द से विभीत होकर उत प्रयत्नशील ने इस दिन बीतने पर पुत्र के परम कल्याण के लिये जप, हाँस, मङ्गल आदि कर्म के द्वारा देव यज्ञ किया ॥ ८४ ॥

अपि च शतसहस्रपूर्णसंख्याः स्थिरवलब्रत्तनयाः सहेममङ्गीः ।

अनुपगतज्ञाः पवस्त्रिनीर्गीः स्वयमददात्सुतवृद्धये द्विजेभ्यः ॥ ८५ ॥

तथा जो घृटी नहीं थी, जिनके बद्धे पुष्ट एवं बलवान् से एवं सीरे स्वर्ण से मढ़ी थीं ऐसी दूध देनेवाली एक लाल गाये पुत्र की उत्पत्ति के लिये ब्राह्मणों को दी ॥ ८५ ॥

बहुविधविषयास्ततो यतात्मा स्वहृदयतोपकरीः किया विभाय ।

गुणवति नियते शिवे मुहूर्ते मतिमकरोन्मुदितः पुरप्रवेशो ॥ ८५ ॥

प्रसन्नचित्त उस जितेन्द्रिय ने हृदय को संतुष्ट करने वाली अनेक प्रकार की कियाएँ करके शास्त्र-विहित गुणसुक्त मंगलमय मुहूर्त में वहाँ से नगर में प्रवेश करने का विचार किया ॥ ८५ ॥

द्विरदरदमचीमयो भवाहीं सितसितपुष्पभृतां मणिप्रदीपाम् ।

अभज्जत शिविकां शिवाय देवीं तनयवर्ती प्रणिपत्य देवताभ्यः ॥ ८६ ॥

इसके बाद पुत्रवती देवी महलाचरण के लिये देवताओं का प्रणाम करके द्वार्थी दाँत से निर्मित एवं उज्ज्वल सफेद फूलों से सुचित मणि-प्रदीपों से सुक बहुमूल्य पालकी पर चढ़ी ॥ ८६ ॥

पुरमध पुरतः प्रवेश्य पल्ली स्थविरजनानुगतामपत्यनावाम् ।

नृपतिरपि जगाम पौरसंघेदिवमर्मधवानिवाच्येभानः ॥ ८७ ॥

तब बूद्धजनों से अनुगत एवं पुत्र के साथ पल्ली को पहिले नगर-प्रवेश कराकर राजा भी, जैसे देवताओं द्वारा सम्मानित होते हुए इन्द्र, देवलोक में प्रवेश करता है, जैसे ही पुरवासियों द्वारा सम्मानित हो, नगर में गया ॥८७॥

भवनमध विगाहा शाक्यराजो भव इव परमुखजन्मना प्रतीतः ।

इदमिदमिति हर्षपूर्णवक्त्रो बहुविधपुष्टियशस्करं द्यथत्त ॥ ८८ ॥

तब भग्न में प्रवेश करके शाक्यराज, कातिकेय के जन्म से शिव के समान, प्रफुल्लित हुआ एवं प्रसन्नमुख से 'यह करो', 'वह करो' कहते हुए ( पुत्र के ) पुष्टिकारक और वशादकर कर्म उत्तरे करतावे ॥८८॥

इति नरपतिपुत्रजन्मबुद्धज्ञा सजनपदं कपिलाह्यं पुरं तन् ।

धनदपुरमिवाप्सरोऽवकीणं सुदितमभून्नलकूवरप्रसूती ॥ ८९ ॥

इति श्री अश्वघोषकुते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये  
भगवत्प्रसूतिनामं प्रथमः सर्गः ।

राजकुमार के समुद्दिक्कारी जन्म से जनपदों सहित कपिल नामक वह नगर इस प्रकार प्रसुदित हुआ जैसे नलकूवर के जन्म से अप्सराओं से पूर्ण कुवेर का नगर ॥८९॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में भगवान् का जन्म नामक  
प्रथम सर्ग समाप्त हुआ

अथ द्वितीयः सर्गः

अन्तःपुर-विहारः

अन्तःपुरविहार

आ जन्मनो जन्मजरान्तकस्य तस्यात्मजस्यात्मजितः स राजा ।

अहन्यहन्यर्थगजाश्चमित्रैवृद्धि ययौ सिन्धुरिखाम्बुद्धेणः ॥ १ ॥

जन्म एवं बृद्धत्व का अन्त करने वाले उस वितेन्द्रिय पुत्र के जन्म काल से ही वह राजा प्रतिदिन घन धार्थी बांडो से इस प्रकार बढ़ने लगा जिस प्रकार कि जल के प्रवाह से नदी बढ़ती है ॥१॥

धनस्य रत्नस्य च तस्य तस्य कृताकृतस्यैव च काञ्चनस्य ।

तदा हि नेकान्स निधीनवापि मनोरथस्याप्यतिभारभूतान् ॥ २ ॥

घन की, रक्त की और तत्त्वकार के निमित, अनिमित स्वर्ण की असंख्य निधियाँ उसने पाईं जो कि मनोरथ के लिये भी भारन्त थीं ( मनोरथ से अधिक थीं ) ॥२॥

ये पद्मकल्पैरपि च द्विपेन्द्रेन्मण्डलं शक्यमिहाभिनेतुम् ।

मदोत्कटा हैमवता गजास्ते विनापि यज्ञादुपतस्युरेनम् ॥ ३ ॥

जो मण्डल ( हाथी मुण्ड ) पद्मकल्प ( पद्मपति ) गजपतियों के द्वारा भी वहाँ नहीं लाये जा सकते मेरे वे हिमालय के मतवाले हाथी, राजा के पास अनायास उपस्थित हो गये ॥३॥

नानाङ्गुचिह्नैर्नवहेभभारडैर्विभूषितैलैम्बसदेस्तशान्वैः ।

संचुचुभे चास्य पुरं तुरङ्गैर्वलेन मैत्र्या च धनेन चाप्नैः ॥ ४ ॥

बजा ( सैन्य ) से, मिट्ठा से, घन ( मूल्य ) से प्राप्त अनेक शुभ चिह्नों से चिह्नित, नवीन स्वर्ण-भूषणों से भूषित एवं लम्ब केश वाले अश्वों से उसका नगर जुब्ब हो गया ॥४॥

पुष्टारच तुष्टारच तदास्य राज्ये साच्छ्वयोऽरजस्का गुणवत्प्रयस्काः ।  
उद्भवत्सेः सहिता बभूत्युर्हृषो बहुत्तीरदुहरच गावः ॥ ५ ॥

उसके राज्य में पुष्ट, सौधी, प्रसन्न, उच्चवल, गुणमय तथा अधिक दूध देने वाली, उज्जत बछड़े वाली गाँव थी ॥५॥

मध्यस्थतां तस्य रिषुर्कंगाम मध्यस्थभावः प्रयन्त्वा सुहृत्वम् ।

विशेषको वाल्यमियाय मित्रं हावस्य पचावपरस्तु नास ॥ ६ ॥

उस राजा का शब्द मल्लसम बन गया, मध्यस्थ मित्र, एवं मित्र शत्यन्त इट मित्र बन गया । उसके दो ही पक्ष यह गये, वोकरा पक्ष (यहु) नहीं ॥६॥

तथास्य मन्दानिलमेघशब्दः सौदामिनीकुण्डलमणिहताभः ।

विनारमवर्णोशनिपातदोपैः काले च देशे प्रब्रवर्णं देवः ॥ ७ ॥

उसके राज्य में मनद पवन और गर्जन से तुक सौदामिनी रूप कुण्डल से मणिहत देव (इन्द्र) ने, वज्रगत एवं धार्म देव से रहित वर्ण उन्नित देश काल में की ॥७॥

रुदोह सस्यं फलवद्यवर्तुं तदाऽकुतेनापि कृपित्रमेण ।

ता एव चास्तीपथयोरुसेन सारेण चैवाभ्यधिका बभूतुः ॥ ८ ॥

उस समय चिना अम के भी कृपि फलपुत्र भान्य समय पर उत्तम दुखा । उस राजा के लिये वे ही श्रीपांचिर्णां अधिक इस एवं लार ( पौष्टिक तत्त्व ) से सम्मन हुईं ॥८॥

शरीरसन्देहकरेऽपि काले संप्राप्तसंभद्रं इव प्रकृते ।

स्वस्थाः सुखं चैव निरागयं च प्रजङ्गिरे कालवर्णेन नायेः ॥ ९ ॥

संग्राम के संघर्ष की भाँति शरीर के लिये सन्देह ( मूर्ख ) कारक प्रसवकाल आने पर भी लियो ने स्वस्थ रहकर यथाप्रयत्न सुखपूर्वक चिना किंची रोग के प्रसव किया ॥९॥

पृथग्व्रतिभ्यो विभवेऽपि गर्भे न प्रार्चयन्ति स्म नराः परेभ्यः ।

अध्यर्थितः सूद्धमधनोऽपि चार्यस्तदा न कविदिमुखो बभूत ॥ १० ॥

वतियो ( बोद्ध भिक्षुओ ) को लोहकर दूसरे लोगो ने अपना धन चोण

दोने पर भी किसी से याचना नहीं की तथा आवें गण कृदम ( थोका ) चन होने पर भी, मार्गे जाने पर विमुक्त नहीं हुए ॥१०॥

नागौरवो बन्धुषु नाप्यदाता नैवाग्रसो नानृतिको न हिंस्तः ।

आसीतदा कञ्चन तस्य राज्ये राज्ञो वयातेरिव नाहृष्ट्य ॥ ११ ॥

नहृष्ट के पुज यथाति के समान उस राजा के राज्य में बन्धुओं का अनादर करने वाला तथा अदाता, अवतो, मिष्यावादी एवं हिंसक कोई नहीं था ॥ ११ ॥

उद्यानदेवायतनाश्रमाणां कृपप्रपापुष्करिणीवनानाम् ।

चकुः कियास्त्र च धर्मकामाः प्रत्यक्षतः स्वर्गमित्रोपलभ्य ॥ १२ ॥

धर्मांभिलापी लोगो ने नाचात् स्वर्ग के समान उमड़कर, उसके राज्य में उद्यान, देवमन्दिर, आश्रम, कुश्मा, पौसरा तालाब च उपवन बनाये एवं शुम कार्य किये ॥ १२ ॥

मुक्तव्य दुर्भिज्ञभयामयेऽयो हृष्टो जनः स्वर्गं इवाभिरेमे ।

पत्नी पतिवां महिषी पति चा परस्परं न व्यभिचेरतुश्च ॥ १३ ॥

दुर्भिज्ञ और रोग के भव से रहित लोग इसके एवं स्वर्गाय सुख से तुली थे । पति ने पत्नी के प्रति तथा पत्नी ने पति के प्रति कोई विरुद्ध आचरण नहीं किये ॥ १३ ॥

कश्चित्सिपेव रतये न कामं कामार्थमत्रै न जुगोप कश्चित् ।

कश्चिद्दुनार्थै न चचार धर्मं धर्माय कश्चित्त चकार हिंसाम् ॥ १४ ॥

इन्द्रसन्तुति के लिये किसी ने काम का सेवन नहीं किया, भोग के लिये किसी ने धन का स्वचा नहीं की, किसी ने धन के लिये धर्माचरण नहीं किया और न किसी ने धर्म के लिये हिंसा की ॥ १४ ॥

स्वेच्छादिभित्त्वाप्यभित्त्व नष्टं स्वस्यं स्वत्रकं परचक्षमुक्तम् ।

क्षेमं सुभित्वं च चमुच तस्य पुरानररथस्य चर्यैव राष्ट्रम् ॥ १५ ॥

प्राचीन काल में अनरण्य के राजा की भाँति उसका राज्य चोर, शत्रु आदि से रहित, स्वस्थ एवं विदेशी शासन से सुक्ष, स्वतंत्र, सुखी एवं धन-धान्य से परियूक्त था ॥ १५ ॥

तथा हि वज्रन्मनि तस्य राज्ञो मनोरिवादित्यसुतस्य राज्ये ।

चचार हर्षः प्रणानाशा पापमा चञ्चाल धर्मः कलुपः शशाम ॥ १६ ॥

सूर्य-पुत्र मनु के राज्य की तरह उस राजा के राज्य में उस बालक के जन्म-काल में हर्ष का संचार हुआ, पाप का नाश हुआ, धर्म प्रचलित हुआ एवं कलुपता मिट गई ॥१६॥

पर्वतिभा राजकुलस्य संपत् सर्वार्थसिद्धिश्च यतो बभूव ।

ततो नृपस्तस्य सुतस्य नाम सर्वार्थसिद्धोऽयमिति प्रचके ॥ १७ ॥

लिसके जन्म के कारण इस प्रकार राजकुल की ऐसी सम्पत्ति एवं सर्वार्थ सिद्धि हुई अतः राजा ने उस बालक का नाम 'सर्वार्थ सिद्ध' ऐसा रखा ॥१७॥

देवी तु माया विवृधिपिक्त्यं इष्टा विशालं तनयप्रभावम् ।

जातं प्रहर्षं न शशाक सांहुं ततो निवासाय दिवं जगाम ॥ १८ ॥

माया देवी अपने पुत्र का देवतीं सदरा विशाल प्रभाव देखकर ( दृश्य में ) उत्तम हर्ष को न समाल लकी अतः निवास के लिये स्वर्ण चली गई ॥१८॥

ततः कुमारं सुरगर्भकल्पं स्नेहेन भावेन च निविशेषम् ।

मातृप्रसादा मातृसम्प्रभावा संबधयामात्सजवद् बभूव ॥ १९ ॥

तब माता के सदरा स्वभाव बाली मौसी ने विशेष प्याव पत्रं मात्र से सर्वे पुत्र की भाँति उस देवतुल्य बालक का पालन-पोषण किया ॥१९॥

ततः स बालार्क इयोदयस्यः समीरितो वहिरिवानिलेन ।

ऋगेण सम्यग्वच्छृण्ये कुमारस्ताराविषः पत्रं इवात्मस्के ॥ २० ॥

तब यह बालक, उदयाचल पर उदित सूर्य की भाँति, बायु से प्रेरित अग्नि के समान, शुक्ल पत्ता के चन्द्रमा की तरह कमराः बढ़ने लगा ॥२०॥

ततो महार्द्दिणि च चन्द्रनानि रत्नावलीश्रीष्ठिभिः सगभीः ।

सूर्यप्रयुक्तान् रथकांश्व ईमानाच्चिन्तेऽस्मै सुहदालयेभ्यः ॥ २१ ॥

तब मित्रों के बरों में उस बालक के लिये उपहार के रूप में निम्न प्रकार औ बस्त्रं आने लगी यथा—बहुमूल्य चन्द्रम, श्रीष्ठियुक्त मोतियों की भाला, स्वर्ण के लते हुए ल्लोटे ल्लोटे पद्मयुक्त रथ ॥२१॥

वयोऽनुरूपाणि च भूषणानि हिरण्यमयान् हस्तिमृगाश्वकांश्च ।

रथांश्च गोपुत्रकसंप्रयुक्तान् पुत्रीश्च चामीकरस्त्वयचित्राः ॥ २२ ॥

अवस्था के अनुकूल अलङ्कार, स्वर्ण के बने हुए छोटे छोटे हाथी, पशु, घोड़े, बछड़े जूते हुए रथ, रथत-स्वर्ण से निर्मित चित्र-निविचित्र पुतलियाँ ॥ २२ ॥

एवं स तैस्तेविषयोपचारैर्वयोऽनुरूपैरुपचर्यमाणः ।

बालोऽत्यधालप्रतिमो वभूव धृत्या च शीर्चेन विद्या श्रिया च ॥ २३ ॥

इस प्रकार वह बालक अवस्था के अनुकूल उन समस्त विद्यों के उपचार से सेवित होने पर भी, खेय, पवित्रता, बुद्धि एवं वैमव से प्रोट के समान प्रतीत होता था ॥ २३ ॥

वयश्च कौमारमतीत्य सम्यक् संप्राप्य काले प्रतिपत्तिकर्म ।

अहपैरहोभिर्वद्दुवर्षगम्या जग्राह विद्याः स्वकुलानुरूपाः ॥ २४ ॥

उसने कुमार अवस्था को विताकर (उचित) समय में उपनयनादि संस्कार से विधिवत् सुसंस्कृत होकर बहुत बयों में सीखी जाने जाली अपने कुल के अनुरूप विद्या थोड़े दिनों में ही सीख ली ॥ २४ ॥

नःश्रेयसं तस्य तु भव्यमर्थं श्रुत्वा पुरस्तादसितान्महर्षेः ।

कामेषु सङ्गं जनयांवभूव वर्नं न यायादिति शाक्यराजः ॥ २५ ॥

आसित महर्षि से पहिले ही उसका भविष्य 'मोह-प्राप्ति' सुनकर, वह वन को 'न जावे—' अतः शाक्यराज ने उसकी आसाक्ष विषयों में उत्सन्न की ॥ २५ ॥

कुलान्ततोऽस्मै स्थिरशीलयुक्तात्सार्थीं वपुर्हो विनयोपपन्नाम् ।

यशोधरां नाम यशोविशालां चामाभिधानां श्रियमाजुहाव ॥ २६ ॥

तब स्थानी शीख से युक्त कुल से साखी, मुन्द्र शरीर, लज्जा विनय से उपयन एवं लिशाल यश चाली यशोधरा नाम की कन्या को, जो कि लियों में लक्ष्मी सहृदय थी, उस ( राजकुमार ) के लिये जुलाया ॥ २६ ॥

विद्योतमानो वपुषा परेण सनकुमारप्रतिमः कुमारः ।

साधै दया शाक्यनरेन्द्रचब्दा शक्या सहस्राङ् इवाभिरेमे ॥ २७ ॥

अत्यन्त मुन्दर शरीर से वेदीप्यमान समस्कुमार के सहश उस राजकुमार ने उस शास्त्र नरेन्द्र की बधू के साथ, इन्द्राणी के साथ इन्द्र मी माँति, रमण किया ॥२७॥

किञ्चिन्मनःचोभकरं प्रतीपं कर्व न पश्येदिति सोऽनुचिन्त्य ।

वासं नृपो न्यादिशाति सम तस्मै हर्म्योदरेष्येव न भूप्रचारम् ॥ २८ ॥

'मन को जुमित करने वाला कोई प्रतिकृत दृश्य, ( कुमार ) किसी तरह न देख सके' ऐसा विचार करके वह नृप उस कुमार के लिये, महल के अन्दर ही रहने की आज्ञा देता था, बाहर घूमने की नहीं ॥२८॥

ततः शरत्तोयदपाएङ्गेषु भूमौ विमानेष्विव रंजितेषु ।

हर्म्येषु सर्वतुमुखाश्रयेषु ऋणामुदार्पवं बहार तृयैः ॥ २९ ॥

तब शरत्कालीन मेघ के सहश शुभ्र पृथ्वी पर उतरे हुए स्वर्गीय विमान के गुल्फ सर्वदा सुख देने वाले महलों में, खिलो के मनोरम तृप्तीणा आदि नाद से विहार करने लगे ॥२९॥

कलोद्धि चामीकरवद्वक्ष्मीरीकरामाभिहत्येष्व दद्धैः ।

वराप्सरोनृत्यसमैश्च नृत्यैः कैलासवत्तद्वनं रराज ॥ ३० ॥

स्वर्ण से मढ़े मध्यमाले तथा खिलो के कराप से बबादे गये मधुर खनित मृदङ्गो से पर्व ब्रेठ अप्सराओं के नृत्य से बह भनन कैलाश-सहश तुरोभित हुआ ॥३०॥

वामिभः कलाभिलोक्लिनेश्च हावैर्भदैः सर्वेलैर्मधुरैश्च हासैः ।

तं तत्र नायो रमयाम्बम् तु र्भूवञ्जितेरर्धनिरीचितंश्च ॥ ३१ ॥

मधुर-वायों से, भलित क्षाणों ( कौड़ाछों ) से, मतावाले हाव भायों से क्रीड़ायुक्त मधुर हास्य से छाणोंनीलित भ्रम्भंग कठाक से उत्तियों ने उसे बहाँ रमाया ॥३१॥

ततः स कामाश्रयपरिहताभिः स्त्रीभिर्गृहीतो रतिकक्षाभिः ।

विमानपृष्ठान्न महों जगाम विमानपृष्ठादिव पुण्यकर्माः ॥ ३२ ॥

तथ कामकला मे परिहत, रतिकोक्ष मे कर्कश ( दद ), जिसो जारा केयाये गये राजकुमार, राबप्राप्तादि से भूमि पर उसी तरह नहीं उतरे वैसे पुण्यात्मा स्वर्ग से नीचे नहीं आते ॥३३॥

नृपस्तु तस्यैव विशुद्धिहेतोस्तद्वाविनार्थेत च चोलमानः ।

शमेऽभिरेमे विराम पापाद् भेजे दर्शन संविवभाज साधून ॥ ३३ ॥

राजा तो उसी की हृदि के लिये उसकी माती भावना से प्रेरित होकर शम ने प्रसन्न हुआ, पाप से विमुख हुआ, दम का अवलम्ब लिया तथा उसने साधुओं को घन दिया ॥३३॥

नाधीरवत्कामसुखे ससन्ने न संररक्षे विषमं जनन्याम् ।

धृत्येन्द्रियारबांश्रपलान्विजिते वन्धुं श्र पौराणच गुरुणिंगाय ॥ ३४ ॥

वह अधीर पुकर की तरह विषय-सुल मे आसक्त नहीं हुआ, जिसो मे ( उसका ) अनुचित अनुराग नहीं हुआ । उसने वैर्य से, चपल शोड़ो की तरह इन्द्रियों को बश मे किया तथा गुबां से बन्धुवर्ग एवं पुरवासियों को बोत लिया ॥३४॥

नाध्येष्टु दुःखाच परस्य विदां ज्ञानं शिवं चतु तदध्यगीष्ट ।

स्वाभ्यः प्रजाभ्यो हि यथा तयैव सर्वप्रजाभ्यः शिवमाशरासे ॥ ३५ ॥

दूसरो के दुःख के लिये ( उसने ) विद्या-आदि नहीं तोती अपितु मुल देनेवाले पवित्र ज्ञान का अध्ययन किया । अपने सभे पुक की माति सब प्रबालों के लिये सुख की कामना की ॥३५॥

अं भासुरं चाङ्गिरसाविदेवं यथावदानन्तं तदायुषे सः ।

जुहाव हृव्यान्यकुरो कुरानी ददौ द्वितेभ्यः कुरानं च गाश्च ॥ ३६ ॥

उसकी दीर्घायु की कामना से राजा ने शुक अविदेव सुक महाचक की विभिन्नत् पूजा की, प्रज्वलित अग्नि मे आहुति दा तथा द्राष्टव्यो को गाय एवं स्वर्ग दिये ॥३६॥

सम्नी शरीरं पवितुं मनस्त तीर्थान्तुभिरचैव गुणान्तुभिरच ।

वेदोपदिष्टं सममात्मजं च सोमं पपीं शान्तिसुखं च हार्दम् ॥ ३७ ॥

शरीर-शुद्धि के लिये तीथों के जल में तथा मन की पवित्रता के लिये  
गुणारूप जल में स्नान किया। वेद-विहित सोम रस के साथ-साथ अपने से  
ही उत्पन्न हार्दिक शान्ति-सुख का पान किया ॥३७॥

सान्त्वं वभागे न च नाथं वशाजजल्य सत्त्वं न च विप्रियं यत् ।

सान्त्वं शतत्त्वं परुषं च तत्त्वं हियाशकभात्मन एव वक्तुम् ॥ ३८ ॥

( वह ) सान्त्व ( प्रिय वचन ) बोला किन्तु यथार्थ ही बोला, व्यर्थ नहीं,  
सत्य वचन बोला किन्तु आप्रिय सत्य नहीं बोला। अपना भी प्रिय असत्य एवं  
कठु सत्य लज्जा से नहीं कह सका ॥३८॥

इष्टेष्वनिष्टेषु च कार्यवस्तु न रागदेषाश्रयतां प्रपेदे ।

शिवं सिषेवे व्यवहारशुद्धं यहं हि मेने न तथा यथा तत् ॥ ३९ ॥

कार्य करने वालों में, जाहे वे इष्ट किये हों या अनिष्ट किये हों, राग-  
देषु नहीं किया। व्यवहार ( शब्द-शासन ) में वस्त्वाशकारी निर्णय किया  
तथा यह को उतना महत्त्व नहीं दिया जितना व्यवहार ( न्याय ) को ॥३९॥

आशावदे चाभिगताय सर्यो देयाम्बुद्धिस्तप्तमचेचिछिदिष्ट ।

युद्धादते बुत्परदरवधेन दिव्दर्पसुद्वत्तमवेभिदिष्ट ॥ ४० ॥

आशा लेकर आये हुए, की प्यास को तत्काल दानरूप जल से छेदा।  
देखो के उद्दत अर्हकार को उद्ध के बिना ही सदाचारलपी कुठार से छेद  
दिया ॥४०॥

एकं विनिन्ये स त्रुगोप सप्त सप्तैव तत्याज ररक्ष पञ्च ।

प्राप त्रिवर्गं त्रुतुधे त्रिवर्गं जले द्विवर्गं प्रजही द्विवर्गम् ॥ ४१ ॥

एक ( मन ) को वश में किया, सात ( धातुओं ) को रक्षा की, सात  
( मलों ) का परित्याग किया, पाँच ( तत्त्वों ) को रक्षा की, त्रिवर्ग ( धर्म, अर्थ,  
काम ) को प्राप्त किया, त्रिवर्ग ( शत्रु, मित्र, उदासीन ) को समझा, द्विवर्ग  
( नीति-अनीति ) को समझा तथा द्विवर्ग ( काम-क्रोध ) को स्थापा ॥४१॥

कुतागसोऽपि प्रतिपाद्य वध्यान्नाजीघनज्ञापि दृष्टा ददर्श ।

ववरघ सान्त्वेन फलेन चैतांस्त्वागोऽपि तेषां शृनयाय दृष्टः ॥ ४२ ॥

आपराखियों को प्राणदण्ड निरुपित करके भी प्राणदण्ड नहीं दिया तथा कोध से भी नहीं देखा ( अपितु ) उनको सान्त्वना रूप फल से लौंघा ( शान्ति की शिक्षा दी ) ( ताप ही ) उनको लौंगना भी अन्याय समझा ॥४२॥

आर्धास्यचारीत्परमब्रतानि वैराग्यहासीचिरसंभृतानि ।

यशांसि चापद् गुणगन्धवन्ति रजांस्यहार्षन्मलिनीकराणि ॥ ४३ ॥

मृगि-सम्बन्धित परम ( पवित्र ) ज्ञातों का पालन किया, चिरसंचित वैरों को त्यागा, गुण रूप गन्धवान् यश प्राप्त किया तथा मलिन करने वाली रक्षोदृच्छिति को छोड़ा ॥४३॥

न चाजिहीर्षद्विलिमप्रवृत्तं न चाचिकीर्षात्परवस्त्वभिभ्याम् ।

न चाविकहीद् द्विषतामधर्मं न चाविकहीद्वृद्धयेन मन्युम् ॥ ४४ ॥

प्रजाओं से अधिक कर लेना नहीं चाहा, परादे वलु हरने की इच्छा नहीं की, शत्रुओं का भी अधर्म ( पाप ) व्यक्त करना नहीं चाहा और हृदय से कोष बहन करना नहीं चाहा ॥४४॥

तस्मिस्तथा भूमिपत्तौ प्रवृत्ते भृत्याश्च पौराण तथैव चेतः ।

शमात्मके चेतसि विप्रसन्ने प्रयुक्तयोगस्य यथेन्द्रियाणि ॥ ४५ ॥

उस राजा का ऐसा आचरण होने पर उसके सेवकों ने तथा फुरवाखियों ने भी ऐसा ही आचरण किया जैसा योगयुक्त प्राणी के निर्मल शान्त चित्त में इन्द्रियों भी उसके अनुकूल हो जाती है ॥४५॥

काले ततश्चाहपयोधरायां यशोधरायां स्वयशोधरायाम् ।

शौद्धोदने राहुसपल्लवक्त्रो जडे सुतो राहुल एव नाम्ना ॥ ४६ ॥

तब सुन्दर स्तन वाली एवं अपने यशस्वी पुत्र को धारण करने वाली यशोधरा से शुद्धोदन के पुत्र को राहु के शत्रु ( चन्द्रमा ) के समान मुखवाला पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम भी राहुल हो हुआ ॥४६॥

अथेष्टपुत्रः परमप्रतीतः कुलस्य वृद्धि प्रति भूमिपालः ।

यथैव पुत्रप्रसवे ननन्द तथैव पौत्रप्रसवे ननन्द ॥ ४७ ॥

तब पुत्र प्रिय राजा को वश के विस्तार का पूर्ण विश्वास हुआ, तथा जिर

प्रकार पुत्र के जन्म से प्रसन्नता हुई थी उसी तरह पौत्र जन्म से भी प्रसन्नता हुई।

पुत्रस्य मे पुत्रगतो भवेव स्नेहः कर्त्ते स्थादिति जातहर्षः ।

जाके स तं तं विविमाललन्वे पुत्रप्रियः स्वर्गमिवानुकृतः ॥ ४८ ॥

'मेरे ही समान मेरे पुत्र को भी आपने पुत्र में प्रेम होवे—' इस प्रसन्नता से उस पुत्रप्रिय राजा ने यथासमय तत्तत् धर्म का आचरण किया मानो स्वर्ग पर चढ़ने की इच्छा कर रहा हो ॥४८॥

स्थित्वा पर्य प्रायमकल्पिकानां राजपूर्णभाणां यशसान्वितानाम् ।

शुक्लान्यमुक्त्वाणि तपांस्वतप्त यज्ञैरच हिसारहितैर्यष्ट ॥ ४९ ॥

सत्य युग के वीतिमान् श्रेष्ठ राजाओं के मार्ग ( आचरण ) में स्थित होकर उसने बस्तों को दिना लौके तप किया एवं हिसारहित वशी से पूछन किया ॥४९॥

अजात्वलिष्टाय स पुरुषकर्मा नृपतिया चैव तपानिया च ।

कुलेन वृत्तेन धिया च दीप्तस्तेजः सहन्नांशुरितोत्सुक्षुः ॥ ५० ॥

पुरुषकर्मा वह राजा राज लक्ष्मी एवं तपस्या के लेख से प्रवल्लित हुआ, तथा अपने उल्लङ्घन कुल, आचरण एवं तुर्दि से प्रदोष हुआ मानो दूर्यो के समान लेख दीप्ताने की इच्छा कर रहा हो ॥५०॥

स्वायंभुवं चार्चिकमर्चयित्वा जजाप पुत्रस्थितये स्थितश्रीः ।

चकार कर्माणि च दुष्कराणि प्रजाः सिमृद्धुः क इवाविकाले ॥ ५१ ॥

स्थिर लक्ष्मी वाले उस राजा ने पुत्र के स्यामी लीबन के लिये पूज्य स्वयम् की पूजा करके जप हिया, तथा युग के आदि ने प्रवाणों की सुषिकरने की इच्छावाले व्रतों के समान दुष्कर कर्म ( तप ) किया ॥५१॥

तत्याज शस्त्रं विमर्शं शास्त्रं शमं सिपेवे नियमं विपेहे ।

वशीव कश्चिद्विषये न भेजे पितेव सर्वान्विषयान्ददर्श ॥ ५२ ॥

उसने शम का परित्याग किया, शास्त्र का विनाम किया, शम का सेषन किया, नियम का पालन किया, वितेन्द्रिय के समान किसी विषय भोग का उपभोग नहीं किया ( असिंग ) पिता के समान ही सब विषय ( राज्य ) को देना चाहता ॥५२॥

बभार राज्यं स हि पुत्रहेतोः पुत्रं कुजायै यशसे कुलं तु ।

स्वर्गीय शब्दं दिवमात्महेतोर्धर्मीर्थमात्मस्थितिमाचकाङ्ग ॥ ५३ ॥

उस राजा ने पत्र के लिये राज्य बाहन किया, बंश के लिये पत्र का पालन किया, वश के लिये कुल की रक्षा की, सर्ग के लिये शब्द (वेद) का अध्ययन किया तथा अपने लिये स्वर्ग की और धर्म के लिये अपने जीने की इच्छा की ॥ ५३ ॥

एवं स धर्मं विविधं चकार सद्गुर्विनिपातं श्रुतिवश्च सिद्धम् ।

हन्त्वा कवं पुत्रमुखं सुतो मे वनं न यायादिति नाथमानः ॥ ५४ ॥

इस तरह राजा ने सत्पुत्रों द्वारा निवित एव वेद-ग्रन्तिसादित विविध धर्मों का सेवन (अनुष्ठान) किया । पुत्र का मुख देखकर वह प्रायंना की कि मेरा पुत्र किसी ग्रकार बन न जावे ॥ ५४ ॥

रिचिष्वन्तः श्रियमात्मसंस्थां रक्षन्ति पुत्रान् भुवि भूमिपालाः ।

पुत्रं नरेन्द्रः स तु धर्मकामो रक्ष धमाद्विषयेषु मुख्यन् ॥ ५५ ॥

पृथ्वी पर राजा लोग पुत्र की रक्षा इसलिये करते हैं कि यह इमारी राजवश्वी की रक्षा करेगा । किन्तु इस धर्मात्मा राजा ने धर्म से विषयों का त्याग करते हुए 'इससे धर्म की रक्षा होगी' इस अभिलाषा से अपने पुत्र की रक्षा की । वनमनुपमसत्त्वा बोधिसत्त्वास्तु सर्वे विषयसुखरसज्ञा जग्मुरुत्पन्नपुत्राः । अत उपचितकर्मा रुदमूलेऽपि हेतौ स रतिमुपासनेवे बोधिमापन्न यावन् ॥

इति श्री अश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये

अन्तःपुरविहारो नाम द्वितीयः सर्गः

अनुपम स्वभाव वाले बोधिसत्त्व, समस्त विषय-सुखों का रक्षास्वादन कर, पुत्र होने पर वन को गये । किन्तु कर्म शेष रह जाने के कारण (वन जाने का हेतु) रुद मूल (दुर्द कारण) पुत्र का पुत्र (पीत्र) उत्पन्न होने पर भी बुद्धत्व प्राप्त तक वह राजा पुत्र में प्रेम करते रहे ॥ ५६ ॥

यह पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्य में अन्तःपुरविहार नामक

द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ तृतीयः सर्गः

संवेगोत्पत्तिः

संवेग-उत्पत्ति

ततः कदाचिन्मृदुशाद्वलानि पुरुषोकिलोन्नादितपादपानि ।

शुश्राव पश्चाकरमरिष्टतानि गीतैर्निवद्धानि स काननानि ॥ १ ॥

तब जिसी समय उस सिद्धार्थ ने अन के सम्बन्ध में सुना कि कोमल नृणां  
में समझ है और वहों के बृहु लोगों की ज्ञान से निनादित ( शुभायमान )  
है तथा कमलों के तालाबों से मुशोभित भाव से निवद्ध है ॥ १ ॥

अत्वा ततः स्त्रीजनवल्लभानां मनोङ्गभावं पुरकाननानाम् ।

बहिःप्रवाणाव चकार बुद्धिमन्तरुहै नाग इवावरुद्धः ॥ २ ॥

तब जिसी के पिय नगर के ठाणों की सुन्दरता सुनकर वर के अन्दर  
में हृषि हाथी के समान राजकुमार ने बाहर जाने की इच्छा की ॥ २ ॥

ततो नृपस्तस्य निशम्य भावं पुत्राभिधानस्य मनोरवस्य ।

स्नेहस्य लक्ष्म्या वयसश्च योग्यामाहापद्यामास विद्वारयात्राम् ॥ ३ ॥

तब पुज नामक उस राजकुमार के मनोमत भाव जानकर प्रेम, लक्ष्मी  
एवं अवस्था के योग्य बन-विद्वार यात्रा की आवादे दी ॥ ३ ॥

निवृत्यामास च राजमार्णे संपातमार्तस्य पृथग्भनस्य ।

मा भूलुमारः सुकुमारचित्तः संचिम्नचेता इति भन्यमानः ॥ ४ ॥

कोमल जितवाले राजकुमार के मन में संवेग ( वैराग्य ) न हो जावे,  
इस विचार से राजमार्ण में रोगादि से पीड़ित अस्य लोगों का आवागमन रोक  
दिया ॥ ४ ॥

प्रत्यङ्गहीनान्विकलेन्द्रियांश्च जीर्णातुरादीन कृपणांश्च दित्त ।

ततः समुत्सार्य परेण साम्ना शोभा परां राजपथस्य चकुः ॥ ५ ॥

तब राजकर्म-नारियों ने राजपथ से अलौहीनों, इन्द्रियहीनों, बुद्धों, रोगियों एवं मरीच जनों को पर शान्ति से हटाकर मार्ग को बहुत सजाया ॥५॥

**ततः कुले श्रीमति राजमार्गे श्रीमान्विनोतानुचरं कुमारः ।**

**प्रासादपृष्ठादवतीर्यं काले कृताभ्यनुज्ञो नृपमध्यगच्छन् ॥ ६ ॥**

तब राजपथ सुशोभित हो जाने पर राजकुमार राजा की आशा पाकर मुन्दर एवं नम्भ सेवकों के साथ राजमहल से उत्तरकर लम्प पर राजा के निकट गया ॥६॥

**आधो नरेन्द्रः सुतमागताश्चुः शिरस्युपाद्राय चिरं निरीच्य ।**

**गच्छेति चाङ्गापयति स्म वाचा स्नेहान्व चैनं मनसा मुग्नोच ॥ ७ ॥**

अनन्तर, प्रेमाभु वहाते हुए, राजा ने कुमार के सिर को चूमकर चिरकाल तक देखकर 'आओ' ऐसे बचन से आज्ञा देवी किन्तु प्रेमवश उसको मन से नहीं छोड़ा ॥७॥

**ततः स जाम्बूनदभाण्डसृद्धिर्युक्तं चतुर्भिर्निभृतैस्तुरङ्गः ।**

**अक्षलीबिविद्वच्छुचिररिमधारं हिरण्यमयं स्वन्दनमारुरोह ॥ ८ ॥**

तब वह कुमार स्थान के आभूयणों से अलंकृत, सुशिङ्गित चार अश्वों से संयुक्त सुवर्णमय रथ पर सवार हुआ विश्वा साराम और कुरुत अनुरक्षणा ॥८॥

**ततः ग्रकीर्णोऽज्ज्वलपुष्पवालं विष्टकमालं प्रचलत्पताकम् ।**

**मार्गं प्रपेदे सदृशानुयाव्रचन्द्रः सनक्षत्र इवान्तरिच्चम् ॥ ९ ॥**

तब आकाश में नक्षत्रों सहित चन्द्रमा के समान वह राजकुमार पोम्प सहस्रों के साथ उस मार्ग में आया जहाँ शुभल पुष्पों का आल सा विज्ञा हुआ था, मालाएं लटक रही थीं एवं पताकाएं फहरा रही थीं ॥९॥

**कौतूहलात्सकीततरैत्रं नेत्रैर्नीलोपलार्द्धेरिव कीर्त्यमाणम् ।**

**शनैः शनै राजपथं जगाहे पौरैः समन्तादभिवीच्यमाणः ॥ १० ॥**

उत्कण्ठाथ अत्यन्त विकसित अर्धनील कमल के समान पुरवासियों के नेत्र मानो विष्णे हुए ही ऐसे राजपथ पर, नगरवासियों के द्वारा चारों ओर से देखे गये कुमार ने शनैः शनैः प्रवेश किया ॥१०॥

तं गुण्डवः सौम्यगुणेन केचिद्वन्द्वे दीप्तया तथात्ये ।

सौमुख्यतस्तु लियमस्य केचिद्वै पुल्यमाशांसिपुरायुषश्च ॥११॥

कुछ लोगों ने उसके शारीर गुण के कारण उसकी ग्राहनी की, कुछ ने तेजस्सी के कारण बन्दना की, तथा कुछ ने सौम्यर्थ गुण के कारण विपुल सम्पत्ति एवं दीर्घाकु भी अभिलाषा की ॥१२॥

निःसूत्य कुरुजात्य महाकुलेभ्यो व्यूहाश्च कैरातकवामनानाम् ।

नार्यः कुरुन्वश्च निवेदनेभ्यो देवानुयानव्यजवल्परणेषुः ॥१३॥

भेद तुली से भूवडे और गरीब परों से कीरत वामनों के समूह ने तथा लियों ने निकलकर, इन्ह की बाजा के खज की तरह उनको प्रगाम किया ॥१४॥

ततः कुमारः व्यलु गच्छतीति श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम् ।

दिट्ठस्या हस्यतस्तानि जस्मुर्जनेन मान्येन कुताभ्यनुज्ञाः ॥१५॥

तब, 'कुमार जाते हैं' ऐसा वयस्य वृत्तान्त सेवकों से सुनकर, लियों मान्य बनों से आहा पाकर, देवने की इच्छा से, अटारियों पर चढ़ गई ॥१६॥

ताः प्रसाकाङ्गांगुणविभिन्नताश्च सुप्रवृद्धाकुललोचनाश्च ।

वृत्तान्तविन्यस्तविभृपणाश्च कौतूहलनानिभृताः परीयुः ॥१७॥

कुछ को शीघ्रता के कारण करघनी सरकने से विज्ञ हो रहा था, कुछ के नेत्र तत्काल सोकर जगने से व्याकुल हो, कुछ ने वृत्तान्त सुनकर शीघ्र भूपण घारण किये और कौतूहल वश वे तब परदार्हित एकज दा गई ॥१८॥

प्रासादसोपानतत्प्रणादैः काञ्चीरवैनूपुरजिस्वनेश्च ।

विद्रासयन्त्यो गृहपक्षिसंघानन्योन्यवेगांश्च समाच्छिपन्त्यः ॥ १९ ॥

छत और सीढ़ियों पर पदन्तल की चानि से करघनियों के स्वर एवं नूपुरों की झड़ार से घर के पालतृ पक्षि समूह को भयभीत करती हुई एवं एक दूसरे के बीच को तिरस्कृत करती हुई थीं गई ॥१९॥

कासाच्छिदासां तु वराङ्गनानां जातत्वराणामपि सोत्सुकानाम् ।

गति गुरुत्वाङ्गुहविशालाः ओणीरथाः पीनपयोधराश्च ॥२०॥

उत्करिष्टत तथा शीघ्रता करनेवालों कुशब्दे लियो के अपने ही विशाल  
मित्रम् तथा पृष्ठ स्तानों ने गुफ्ताके कारण उनकी गतिका अवरोध किया॥१६॥

शीघ्रं समर्थापि तु गन्तुमन्या गति निजग्राह यस्मै न तुर्णम् ।

हिया प्रगल्भा विनिगृहमाना रहः प्रयुक्तानि विभूषणानि ॥१७॥

एक अन्य स्त्री ने, जो कि शीघ्र चलने में समर्थ थी, फिर भी अपनी  
गति रोक ली, शीघ्र नहीं गई । अधिक लजावतो वह, एकत्र में पहिने  
हुए भूपणों को छिपाती हुई, रक्षी ॥१८॥

परस्परोत्पीडनपिण्डितानां संमदंसंचोभितकुरुदलानाम् ।

तासां तदा सस्वनभूपणानां वातायनेष्वप्रशमो वभूव ॥ १९ ॥

परस्पर संघर्ष करती हुई पिण्डीमृत हुई परस्पर संघट से कुशब्दल हिल रहे  
ये । जिनके भूपणों की ज्वनि गूँज रही थी उन लियों से उस समय वातावनों  
में आशान्ति फैल गई ॥२०॥

वातायनेष्वस्तु विनिःस्तानि परस्परायासितकुरुदलानि ।

क्षीणां विरेजुर्मुखपङ्कजानि सक्तानि हर्म्येष्विव पक्षुजानि ॥ २१ ॥

परस्पर संघर्ष के कारण जिनके कुशब्दल हिल रहे ये ऐसी लियों के मुख-  
कमल वातावनों से बाहर निकल रहे थे । वे ऐसे शोभित हुए मानो प्रासादों  
में कमल लिखे हो ॥२१॥

ततो विमानैर्युवतीकरालैः कौतूहलोद्घाटिवातवानैः ।

श्रीमत्समन्तान्नगरं वभासे विवद्विमानैरिव साप्तरोभिः ॥ २० ॥

उस समय कौतूहल से जिनकी गिरफ्तियाँ खोल दी गई थीं और जिनसे  
लियों भाँक रही थीं उन महलों से शोमायुक्त नगर चारों ओर से ऐसा प्रतीत  
हुआ मानो अप्पराज्यों के विमानों से चुक स्वर्ग हो ॥२०॥

वातायनानामविशालभावादन्योन्यगरद्वापितकुरुदलानाम् ।

मुखानि रेजुः प्रमदोन्मानां चद्वाः कलापा इव पक्षुजानाम् ॥ २१ ॥

वातावनों के विशाल न होने के कारण उत्तम लियों एक दूसरे के  
गशडस्थल पर अपने कुशब्दल रखे हुए थीं । उनके मुख ऐसे शोभित हो रहे  
ये मानो कमल के बैंधे हुए गुच्छे हो ॥२१॥

तं साः कुमारं पथि वीक्षमाणाः स्त्रियो वभुवांमिव गन्तुकामाः ।  
ऊर्ध्वोन्मुखाश्चैनमुवीक्षमाणा नरा वभुवांमिव गन्तुकामाः ॥ २२ ॥

मार्ग में उस कुमार को देखती हुई वे लियों ऐसी प्रतीत हुईं मानो वे पृष्ठी पर आने को इच्छा कर रहा हो और उन्हें देखते हुए ऊर्ध्व-मुख-पुश्प ऐसे प्रतीत हुए मानो आकाश में जाने को इच्छा कर रहे हों ॥२२॥

दृष्टु च तं राजसुतं लियस्ता जाज्वल्यमानं वपुषा श्रिया च ।

धन्यास्वभार्येति शनैरयोचञ्चुङ्मै भैरोभिः स्तलु नान्यभावात् ॥ २३ ॥

सुम्दर शरीर और लक्ष्मी से विभूषित उस राजकुमार को देखकर उन लियों ने अन्य भाव रहित, शुद्ध माव से, 'इसको भागी धन्य है'—ऐसा भीरे से कहा ॥२३॥

अयं किल व्याघ्रतपीनवाहू रूपेण साक्षादिव पुष्पकेतुः ।

त्यक्त्वा श्रियं धर्ममुपैर्यतीति सस्मिन् हि ता गौरखमेव चक्रः ॥ २४ ॥

सीन्दर्य से लाढ़ात् कामदेव के समान विशाल एवं स्थूल भुजाबाला यह कुमार लक्ष्मी को छोड़कर धर्म को मात होगा, इस तरह उन्होंने उसमें गौरख ही बढ़ाया ॥२४॥

कीरणं तथा राजपर्वं कुमारः पौरीविनीतैः शुचिधीरवेषैः ।

तत्पूर्वमालोक्य जहर्षं किञ्चन्मेने पुनर्भावमिवात्मनश्च ॥ २५ ॥

पवित्र एवं धीर वेषवाले नम्न नगरवासियों से व्याप्त राजमार्ग को सर्वप्रथम देखकर, वह कुछ प्रसन्न हुआ और उसने अपना पुनर्जन्म सा माना ॥२५॥

पुरं तु वत्सर्गमिव प्रहृष्टं शुद्धाधिवासाः समवेद्य देवाः ।

जीरणं नरं निर्ममिरे प्रथातुं संचोदनार्थं लितिपात्मजस्य ॥ २६ ॥

शुद्धाधिवास ( देवयोनि विशेष ) देवों ने उस नगर को स्वर्ग तुल्य प्रसन्न देखकर, उस राजकुमार को वन में जाने को भेरित करने के लिए एक छह पुष्प का निमाण किया ॥२६॥

ततः कुमारो जरयामिभूतं दृष्टु नरेभ्यः पृथगाकृति तम् ।

त्वाच सङ्ग्याहकमागतास्यस्तत्रैव निष्कम्पनिविष्टदृष्टिः ॥ २७ ॥

तब उस राजकुमार ने अन्य लोगों से विजयाचार आश्रितवाला, बुद्धावस्था से बंदूर उसको, व्यानस्थ निश्चल दृष्टि से देखकर उसीमें स्वच्छ होते हुए, खारधि से कहा ॥२७॥

क एप भोः सूत नरोऽभ्युपेतः कैशोः सितैर्यष्टिविपक्षहस्तः ।

ञ्च संवृताक्षः शिथिलानवाङ्गः किं विकिर्यैषा प्रकृतिर्यद्वद्वा ॥२८॥

हे सत ! यह कौन मनुष्य आया है ? सफेद केशों से युक्त, हाथों में लाठी पकड़े हुए, भौंदों से आंखें ढंकी हैं, शिथिलता के कारण लारीर मुका है । क्या यह विकार है अथवा स्वभाव या अनायास ऐसा हो गया है ॥२८॥

इत्येवमुक्तः स रथप्रणेता निवेदयामास लृपात्मजाय ।

संरक्ष्यमध्यर्थमदोपदर्शी तैरेव देवैः कृतवृद्धिमोहः ॥ २९ ॥

ऐसा पृछे जाने पर उस रथन्वाहक ने राजकुमार के लिये गृह बात भी बता दी । उन्होंने देवों ने उसको बुद्धि में भी मोह कर दिया था अतः इसमें दोष नहीं देखा ॥२९॥

रूपस्य हन्त्री व्यसनं वलस्य शोकस्य योनिनिवनं रतीनाम् ।

नाशः स्मृतीनां रिपुरिन्द्रियाणामेषा जरा नाम यवैष भग्नः ॥ ३० ॥

रूप को नष्ट करनेवाली, वल के लिए विपांच स्वरूप, शोक की जननी, आनन्द का काल, स्मृति का नाश एवं इन्द्रियों का दात्रु, यह जय ब्रह्मस्था है, जिसने इसे तोड़ डाला है ॥३०॥

पीतं हानेनापि पयः शिशुत्वे कालेन भूयः परिन्द्रुप्रमुव्याम् ।

क्रमेण भूत्वा च युवा वपुष्मान् क्रमेण तेनैव जरामुपेतः ॥ ३१ ॥

इसने नी बाल्यावस्था में दूध पिया, फिर समय पाकर पृथ्वी पर सरककर गमन किया । क्रमशः सुन्दर युवा होकर, उसी क्रम से बृद्धत्व को प्राप्त हुआ है ॥३१॥

इत्येवमुक्ते चलितः स किञ्चिद्राजात्मजः सूतमिदं वभाषे ।

किमेष दोषो भविता ममापात्यस्मै ततः सारथिरभ्युवाच ॥ ३२ ॥

ऐसा कहे जाने पर उस राजकुमार ने कुछ चकित होकर सारथि से पूछा कि वया यह दोष मझे भी होगा ? तब सारथि ने उससे कहा ॥३२॥

आयुधमतोऽव्येष वयःप्रकर्पो निःसंशयं कालवशेन भावी ।

एवं जरां रूपविनाशायित्रीं जानाति चैवेच्छुति चैव लोकः ॥ ३३ ॥

यह इदावस्था कालवशात् निवित रूप से आयुधान आपको भी अवश्यम्भावी है । इस रूपविनाशिनी अवस्था को लोग जानते भी हैं और चाहते भी हैं ॥३३ ।

ततः स पूर्वाशयशुद्धुद्विर्विस्तीर्णकलपाच्चितपुरयकर्मा ।

श्रुत्वा जरां संविविजे महात्मा महाशनेयोपमिकान्तिके गौः ॥ ३४ ॥

तब पूर्व को बाधना से शुद्ध द्विदिवाला अनेक बलों से, जिसका पुरय कर्म चित रुद्ध है —ऐसा वह महात्मा, जरा को सुनकर वैसे ही उद्विग्न दूङ्गा जैसे समीप में महाकाञ्च का यन्द सुनकर गाय व्याकुल होती है ॥३४॥

निःश्वस्य दीर्घं स्वशिरः प्रकम्प्य तस्मिंश्च जीर्णे विनिवेश्य चच्छुः ।

तां चैव हृष्ट्वा जनतां सहधीं चाक्यं स संविग्न इदं जगाद् ॥ ३५ ॥

दीर्घं शास लेकर, अपना शिर कैपाकर उसो वृद्ध में दृष्टि लगाकर, उत्त जनता को प्रसन्न ही देखकर उद्विग्न होते हुए, उसने इस प्रकार कहा ॥३५॥

एवं जरा हन्ति च निर्विशेषं स्मृति च रूपं च पराक्रमं च ।

न चैव संवेगमुपैति लोकः प्रत्यज्ञतोऽपीदशार्मीचमाणः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार स्मृति रूप एवं पराक्रम को निःशेष कप से ( पह ) इदावस्था नष्ट करती है तथा प्रत्यक्ष ऐसा देखते हुए भी लोग संवेग को ग्रासनही होते ।

एवं गते सूत निवर्त्याश्वान शीघ्रं गृहाणयेव भवान्प्रयातु ।

जयानभूमी हि कुतो रतिमें जराभये चेतसि वर्तमाने ॥ ३७ ॥

जल कि ऐसा होता है, तो है सूत ! अब्दों को लीटाओ ! आप शीघ्र वर को ही चले । जरा भा भय चित्त में रहते हुए, मुझे उडान भूमि में मुख कहाँ से मिलेगा नाश्च ।

अथाक्षया भर्तुसुतस्य तस्य निवर्तयामास रथं नियन्ता ।

ततः कुमारो मवनं तदेव चिन्तावशः शून्यमिव प्रपेदे ॥ ३८ ॥

तब सारथि ने उस राजपुत्र की आक्षया से रथ को लौटाया । तब कुमार चिन्तावश शून्य की तरह उसी मवन में पहुँचा ॥३८॥

बहा तु तत्रैव न शर्म लेभे जरा जरेति प्रपरीक्षमाणः ।

ततो नरेन्द्रानुमतः स भूयः कमण्ड तेनैव बहिर्जगाम ॥ ३९ ॥

जब 'जरा जरा' ऐसे परीक्षण का चिन्तन करते हुए उसने शान्ति नहीं पाई तब राजा की आक्षया से पुनः उसी कम से बाहर गया ॥३९॥

अथापरं व्याधिपरीतदेहं त एव देवाः समजुर्मनुष्यम् ।

दृष्ट्वा च तं सारथिमावभाषे रौद्रोदनिस्तद्रगतदृष्टिरेव ॥४०॥

अनन्तर व्याधिपस्त शरीर बाले दूसरे मनुष्य को उन्होंने देखा ने बनाया । उसे देखकर शुद्धोदन-भूय उसी में हाथि लगाए हुए सारथि से बोला ॥४०॥

स्थूलोद्दरः श्रासचलच्छरीरः ऋस्तांसवाहुः कुरुपाणहुगात्रः ।

अम्बेति वाचं करुणं ब्रुवाणः परं समाधित्य नरः कप्पः ॥४१॥

जिसका उदर बढ़ा हुआ है, इवाच से शरीर कम्प ही रहा है, इन्ध और मुखाएँ दीली पड़ी हैं, देह दुर्बल एवं पीला पड़ गया है, दूसरे का आक्षय लेकर दुर्गति स्वर में "माँ ! माँ !!?" चिल्ला रहा है—यह कौन है ॥४१॥

ततोऽत्रवीत्सारथिरस्य सौम्य धातुप्रकोपप्रभवः प्रवृद्धः ।

रोगाभिधानः सुमहाननर्थः शक्तोऽपि येनैष कृतोऽस्वतन्त्रः ॥ ४२ ॥

"हे सौम्य ! रसादि धातु के प्रकोप से बढ़ा हुआ यह रोग नामक महान् अनर्थ है, जिसने इस समर्थ को भी परापीन कर दिया है"—इस प्रकार तब उस सारथि ने कुमार से कहा ॥४२॥

इत्यूचिकान् राजसुतः स भूयस्तं सानुकम्पो नर्मीक्षमाणः ।

अस्यैव जातो पृथगेष दोषः सामान्यतो रोगभर्यं प्रजानाम् ॥४३॥

उस मनुष्य को अनुकम्पा के साथ देखते हुए उस राजपुत्र ने पुनः सारथि से पूछा—"यह दोष केवल इसी को हुआ है अथवा सभी प्रजाश्री को सामान्य कष परे यह रोग-भर्य रहता है?" ॥४३॥

ततो वभाये स रथप्रणेता कुमार साधारण एष दोषः ।

एवं हि रोगैः परिपीड्यमानो रुजातुरो हर्षमुपैति लोकः ॥ ४४ ॥

तत्र "हे कुमार ! यह दोष साधारण ( सबको होनेवाला ) है । इसी तरह रोगों से पोकित होते हुए, कष्ट से व्याकुल लोग हर्ष को प्राप्त होते हैं" — इस प्रकार उस रथवाहक ने कहा ॥४४॥

इति भुतार्थः स विषस्याचेताः प्रावेषतान्बूर्मिगतः शशीव ।

इदं च वाक्यं करुणायमानः प्रावाच किञ्चन्मृदुना स्वरेण ॥ ४५ ॥

इस प्रकार रोग का अर्थ सुनकर विद्वाल नित्य होते हुए, चब्दल अलतरम में चन्द्रविन्म जी भाँति काँपने लगा एवं कदम्या से आँद्र ढोकर कुङ्क कोमल स्वर में उत्सने यह बचन कहा ॥४५॥

इदं च रोगायस्तनं प्रजानां पश्यन्ते विश्रम्भमुपैति लोकः ।

विस्तीर्णमज्ञानमहो नराणां हसन्ति ये रोगमयैरसुकाः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार प्रभावों का रोग हुख्य देखता हुआ भी उसार निर्दन्द रहता है । अहो ! मनुष्यों का ( यह ) कितना बड़ा अज्ञान है जो रोगभय से अमुक होने पर भी हँसते हैं ॥४६॥

निवल्यतां सूत वहिःप्रयाणान्नरेन्द्रसद्मैव रथः प्रयातु ।

भुत्वा च मे रोगभयं रतिभ्यः प्रत्याहतं संकुचतीव चेतः ॥ ४७ ॥

हे सूत ! बाहर जाने से लौटाओ । रथ नरेन्द्र भवन को ही जाय । रोग भय सुनकर सुन से निहत मेरा चिच्च संकुचित सा हो रहा है ॥४७॥

ततो निष्ठुतः स निष्ठुनहर्षैः प्रध्यानयुक्तः प्रविषेश वेशम् ।

ते द्विस्त्रिया प्रेष्य च संनिषुच्यं पर्येषणं भूमिपतिश्चकार ॥ ४८ ॥

वहाँ से प्रसन्नता रहित यह लौटा एवं चिन्ता मन छोकर भवन में प्रविष्ट हुआ । उसको दो बार उस प्रकार लौटा देख, भूमिपति ने कारण जानना चाहा ॥४८॥

अस्त्वा निमित्तं तु निवर्तनस्य संत्यक्तमात्मानमनेन मेने ।

मार्गस्य शौचाधिकृताय च चुकोशा रष्टोऽपि च नोप्रदरणः ॥ ४९ ॥

राजा ने लौटने का निमित्त सुनकर उसके द्वारा अपने को त्यागा समझ

और मार्गशोषण में नियुक्त अधिकारी पर केवल कोप किया तथा कुपित होने पर भी उसको कठिन दण्ड नहीं दिया ॥४६॥

भूयश्च तस्मै विद्वै सुताय विशेषयुक्तं विषयप्रचारम् ।

चलेन्द्रियत्वादपि नाम सक्तो नास्मान्विजाप्तिं नाथमानः ॥ ५० ॥

पुनः उस पुत्र के लिये विशेष लगन से विषय का प्रचार ( प्रदर्शन ) किया; इस विचार से कि इन्द्रियों स्वभावतः चंचल होती है, सम्भव है विषयालता होकर मुक्ते न छोड़े ऐसी कामना करता रहा ॥५०॥

यदा च शब्दादिभिरिन्द्रियार्थरन्तः पुरे नैव सुतोऽस्य रेमे ।

ततो बहिर्व्यादिशति स्म यात्रा रसान्तरं स्पादिति मन्यमानः ॥ ५१ ॥

जब अन्तःपुर ( रनिवास ) में उसका पुत्र इन्द्रियों के विषय शब्दादि से नहीं रमा तब बाहर यात्रा करने का आदेश, वह विचार कर, दिया कि रसायाद से संभवतः इसका मन बदल चाय ॥५१॥

स्नेहात् भावं तनयस्य बुद्ध्वा स रागदोषानविचिन्त्य कांशिचन् ।

योग्याः समाज्ञापयति स्म तत्र कलास्वभिज्ञा इति वारमुख्याः ॥ ५२ ॥

तथा स्नेह के कारण किन्हीं भी राग के दोषों का विचार न करते हुए पुत्र का भाव देखकर उसने कला-कुशल योग्य प्रमुख येश्याओं को वहाँ रहने की आशा दी ॥५२॥

ततो विशेषेण नरेन्द्रमार्गे स्वलंकुते चैव परीचिते च ।

व्यत्यस्य सूतं च रथं च राजा प्रस्थापयामास वहिः कुमारम् ॥ ५३ ॥

उब विशेष प्रकार से नरेन्द्र मार्ग ( राजापथ ) को लूप लब लाने एवं बौच कर लेने पर, सारथि एवं रथ को बदलकर, राजा ने कुमार को बाहर भेजा ॥५३॥

ततस्तथा गच्छति राजपुत्रे तैरेव देवैविहितो गतासु ।

तं चैव मार्गं मृतमुखमानं सूतः कुमारस्वददर्शनान्यः ॥ ५४ ॥

पुनः उस प्रकार राजपुत्र के ( मार्ग में ) चलने पर उन्हीं देवों ने एक मृतक बनाया उस मृतक को मार्ग में ले जाते हुए कुमार और सारथि ने देखा ( किन्तु ) दूसरों ने नहीं ॥५४॥

अवात्रबीद्राजसुतः स सूतं नरेन्द्रतुमिर्हिते क एवः ।

दीनैर्मृतुद्येवसुगम्यमानो विमृष्टिरचाप्यवरुद्धते च ॥ ५५ ॥

तब उस राजकुमार ने सारथि से पूछा कि चार पुरुषों से दोया वा रहा पढ़ कीन है ? दुःखी लोग इसका अनुगमन कर रहे हैं तथा विशेष प्रकार से सजाये हुए हैं, फिर भी इसके लिये रो रहे हैं ॥५५॥

**ततः स शुद्धात्मभिरेव देवैः शुद्धाधिवासैरमिभूतचेताः ।**

**अवाच्यमप्यर्थमिमं नियन्ता प्रव्याजहाराद्वैतदीश्वराय ॥ ५६ ॥**

तब शुद्ध आन्तःकरण याके शुद्धाधिवास देवों से चित्तका चित्त अभिभूत ( बदल दिया गया ) है ऐसे उस सारथि ने न कहने योग्य यह घात भी राजकुमार से कह दी ॥५६॥

**बुद्धीन्द्रियप्राणगुणैर्विद्युकः सुप्तो विसंहस्तुणकाप्तभूतः ।**

**संवर्ष्य संरक्ष्य च यज्ञवद्विः वियश्रियैस्त्यज्यत एष कोऽपि ॥ ५७ ॥**

बुद्धि, इन्द्रिय प्राण और गुणों से विद्युक चेतना रहित तृण तथा लकड़ी के समान छोकर, यह कोई सदैव के लिए सो ( मर ) गया है । अभी तक वेमी स्वजनों ने इसे प्रयत्नपूर्वक पाला पोगा ( और ) अब छोक रहे हैं ॥५७॥

इति प्रणेतुः स निशन्य वाक्यं संचुलुभे किञ्चिदुवाच चैनम् ।

**किं केवलोऽस्त्वैव लज्जस्य धर्मः सर्वप्रजानामवर्मीहशोऽन्तः ॥ ५८ ॥**

वह राजकुमार रथवाहक का यह वचन सुनकर कुछ अप्र हुआ और उससे बोला—क्या यह केवल इसी का धर्म है या उभी प्राणियों का इसी प्रकार आन्त होता है ॥५८॥

**ततः प्रणेता वदति स्म तस्मै सर्वप्रजानामिदमन्तकर्मे ।**

**हीनस्य मध्यस्य महात्मनो वा सर्वस्य लोके नियतो विनाशः ॥ ५९ ॥**

तब रथवाहक ने उसे बताया कि सब प्राणियों का यही अनितम कर्म है । उच्चम, मध्यम नीच; कोई भी हो, सबका विनाश नियमित है ॥५९॥

**ततः स धीरोऽपि नरेन्द्रसूनुः श्रुत्वैव श्रुत्युं विष्पसाद सद्यः ।**

**जर्सेन संरिलघ्व च कूवराम् प्रोवाच निहांदवता स्वरेण ॥ ६० ॥**

आनन्दर धीर होने पर भी वह नरेन्द्र सून् ( कुमार ) मूलु ( का विषय ) सुनकर तत्काल दूरधी हुआ और कन्ये से कूवर के अप्रभाग ( केहुनी ) का सहारा लेकर ( हाथ पर गाल रखकर ) गम्भीर स्वर से बोला ॥६०॥

इयं च निष्ठा नियता प्रजानां प्रभाश्यति त्वच्चमयश्च लोकः ।

मनांसि शहुङ्कठिनानि नृणां स्वस्थास्तया गृष्णनि वर्तमानः ॥६१॥

प्राणियों की यह निष्ठा ( मूल्य ) निश्चित है किन्तु यथ छोड़कर लोग भूलकर रहे हैं । मैं समझता हूँ कि मनुष्यों का मन, कठिन ( हठ ) है जो कि इस प्रकार मृत्यु पथ पर चलते हुए भी स्वस्थ ( सुखी ) है ॥६१॥

तस्माद्रथः सूत निवर्त्यतां नो विहारभूमेन हि देशकालः ।

जानन्विनाशं कथमार्तिकाले सचेतनः स्वादिह हि प्रमत्तः ॥६२॥

अतः हे सूत ! हमारे रथ को लौटाओ । विहार भूमि ( आनन्द से घूमने ) का अवसर नहीं है । विनाश ( मूल्य ) को जानता हुआ मी सचेतन ( बृद्धिमान ) विषयिकाल में विमोर कैसे रह सकता है ॥६२॥

इति ब्रवायेऽपि नराधिपात्मजे निवर्त्यामास स नैव तं रथम् ।

विशेषयुक्तं तु नरेन्द्रशासनात्-स पद्मपर्वदं बनमेव निर्णयी ॥६३॥

इस प्रकार राजकुमार के कहते रहने पर भी उस सूत ने रथ नहीं लौटाया, अपितु राजा की आशा से विशेष मुन्द्रता से युक्त पद्मपर्वद नामक बन को ले गया ॥६३॥

ततः शिवं कुसुमितवालपादं परिभ्रमत्रमुदितमत्तकोक्तिलम् ।

विमानवत्स कमलचारुदीर्घिकं ददर्श तद्विव नन्दनं बनम् ॥६४॥

तब उसने फूलते हुए छोटे-छोटे हृत एवं शूमते हुए प्रसन्न मतवाले को किल तथा कमल से मुशोभित मुन्द्र बापी बाला भव्य विमान के सहश उस बन को देखा जो कि नन्दन बन के समान था ॥६४॥

वराङ्गनामणकलिङ्गं नृपात्मवस्तुतो वलाद्वनमतिनीयते स्म तन् ।

वशाप्सरोवृतमलकाधिपालवं नवव्रतो मुनिरिव विनकातरः ॥६५॥

इति श्री अध्ययोपहृते पूर्ववृद्धरितमहाकाव्ये

संवेगोत्पत्तिनाम सर्गः ।

पुनः उत्तम विषयो से परिपूर्ण उस बाग में राजकुमार इठात् दूर दूर ले जाया गया मानो ऐष्ट अप्सराओं से स्वास कुवेर नगर की ओर विघ्न से डरने वाला कोई नवीन वती मुनि बलात् ले जाया जाता हो ॥६५॥

यह पूर्ववृद्धरित महाकाव्य में 'संवेग-उत्पत्ति' नामक तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ चतुर्थः सर्गः

खीविद्यातनः

खी-निवारण

ततस्तस्मात्पुरोग्यानालकौतुहलचलेहणाः ।  
प्रस्तुद्वग्मुर्पसुतं प्राप्तं वरमिव क्षियः ॥१॥

तब उत्तरकमठा से चक्रवाली जियो नगर के उत्तरान से निकलकर राजा के पुत्र के पास आई मानो आये हुए वर का स्वागत करने आई हो ॥१॥

अभिगम्य च तास्तस्मै विस्मयोत्कुललोचनाः ।

जकिरे समुदाचारं पशाकोशनिभैः करैः ॥२॥

प्रसन्नता से विकसित नेत्रवाली उन जियो ने निकट आकर कमल को रु सहृदय करों से स्वागत सलहार किया ॥२॥

तस्युद्ध परिवार्येन मन्मधाचिपचेतसः ।

मिश्वलैः प्रीतिविकर्चैः पिघन्त्य इव लोचनैः ॥३॥

तथा जाम से विचलित चिचवाली ने जियो अनुग्रह से विकसित एव मिश्वलै नैनों से सौन्दर्यमूरत का पान करती हुई की तरह उसको लेर कर बैठ गई ॥३॥

तं हि ता मेनिरे नार्यैः कामो विश्रद्वानिति ।

शोभितं लक्षणैर्दृष्टैः सहजैभू पर्णेरिव ॥४॥

उन जियो ने स्वाभाविक भूपरणों के समान प्रकाशवान् लक्षणों से मुशोभित उस राजकुमार को मूर्तिमान् काम समझा ॥४॥

सौन्यत्वालवैव श्रेयोच काव्यिदेन प्रज्ञिरे ।

अवतीर्णो महीं साक्षाद् गृहांशुअन्द्रमा इति ॥५॥

कुछ लियो ने सौभय एवं धैर्य गुणयुक्त होने के कारण उसके पृथ्वी पर आया हुआ 'किरण रहित' साक्षात् चन्द्रमा समझ ॥५॥

तस्य ता वपुषाक्षिप्ता निश्चीतं जज्ञम्भरे ।

अन्योन्यं हष्टिभिहृत्वा शनैश्च विनिश्चयसुः ॥६॥

उसके शरीर सौन्दर्य से मुख्य होकर उन लियो ने रोककर ( मुँद ढाँक कर ) बंधाइ ली तथा परस्पर कठाल मारती हुई मन्द-मन्द ऊर्ध्व शास की ।

एवं ता दृष्टिमात्रेण नार्यो ददशुरेव तम् ।

न व्याजहु न जहसुः प्रभावेणास्य यंत्रिताः ॥७॥

इस तरह वे नारियों के बल दृष्टि मात्र से देखतो ही रही । उसके प्रभाव से निरुद्ध होकर उससे न कुछ चोल सकी और न हसो ॥७॥

तास्तथा तु निरारम्भा दद्वा प्रणवविक्लवाः ।

युरोहितसुतो धीमानुदायी वाक्यमन्त्रीत ॥८॥

वे लियों कुछ ( चात ) आरम्भ नहीं कर रही थीं किन्तु प्रेम से विहूल थीं, ऐसा देखकर तुष्टिमान् पुरोहित-पुत्र उदायी ने यह बचन कहा ॥८॥

सर्वोः सर्वकलाज्ञाः स्थ भावप्रहणपणिङ्गताः ।

रूपचातुर्यंसंपन्नाः स्वरुणैर्मुख्यतां गताः ॥९॥

आप लोग सब कला को जाननेवाली हो, भाव प्रहण में पशिहता हो, रूप एवं चातुर्य से सम्बन्ध हो तथा अपने गुणों से प्रभानता को प्राप्त हुए हो ॥९॥

शोभयेत् गुणैरेभिरपि तानुत्तरान् कुरुत् ।

कुवेरस्यापि चाकीर्णं प्रागेव बसुधामिमाम् ॥१०॥

आप सब इन गुणों से उत्तर कुरुओं को भी सुशोभित कर सकते हैं तथा कुवेर के कोङ्कास्त्रल को भी । इस पृथ्वी को तो पहले से ही शोभित कर उकी हो ॥१०॥

शक्ताश्यालयितुं यूर्जं वीतरागानृथीनपि ।

अप्सरोभित्र कलितान् ब्रह्मीतुं विषुवानपि ॥११॥

आपलोग बीतराग शूषियों को भी विनलित कर सकती हो एवं अप्सराओं से तुस देवों को भी बश में कर सकती हो ॥११॥

भावलानेन हावेन रूपचातुर्यस्म्यदा ।

स्त्रीणामेव च शक्ताः स्थ संरागे किं पुनर्नृणाम् ॥१२॥

और लियों के ही भाव ( अभिप्राप ) से इति ( अभिनय ) से रूप और कला के वेषब से सारा विश्व राग में आसक्त है, मनुष्यों की तो बात क्या है ॥१२॥

तासामेवंविधानां वो विगुज्जानां स्वगोचरे ।

इयमेवंविधा वेष्टा न तुष्टोऽस्म्यार्जवेन वः ॥१३॥

आपलोग उपरोक्त शुण्डवाली हैं । वे अपने कार्य से उदासीन हैं । उनकी यह वेष्टा ( व्यवहार ) उचित नहीं । मैं आपके आर्जव ( सरलता ) से सन्तुष्ट नहीं हूँ ॥१३॥

इदं नवववृनां वो हीनिकुञ्जितचक्षुपाम् ।

सहर्शं चेष्टितं हि स्यादपि वा गोपयोपिताम् ॥१४॥

आपका यह 'व्यापार' लज्जा से ढकनेवाली नवववृन्दों के अथवा गोप-शुभ्रों के समान है ( जो कि ) उन्हीं को शोभा देता है ॥१४॥

यदपि स्यादद्यं धीरः श्रीप्रभावाम्महानिति ।

स्त्रीणामपि महत्तेज इतः कार्योऽत्र निश्चयः ॥१५॥

यस्यापि यह धीर एवं लक्ष्मी के प्रमाण से भी बड़ा हो तथापि लियों का तेज भी महान् है अतः इस विषय में गहर्ण निश्चय करना चाहिये ॥१५॥

पुरा हि काशिसुन्दर्यां वेशवध्वा महानृपिः ।

तादितोऽभूत्यदा व्यासो दुर्धर्षो दैवतैरपि ॥१६॥

प्राचीन काल में देवों के लिये भी दुर्लभ महान् शूषि व्यास को काशि सुन्दरी वेश्या-वधु ने चरण से प्रहार किया था ॥१६॥

मन्यालगौतमो मिञ्चुर्जङ्घ्या वारमुख्यवा ।

पित्रीपुश्च तदृथीर्थं व्यसूनिरहरत्सुरा ॥ १७ ॥

पूर्व काल में मन्याज्ञ गीतम ( नामक ) गीतम गोचरीय भिन्न बहा  
नामक वेश्या के पिय होने भी इच्छा से तथा उसके लिए जन लाने को इच्छा  
से मुद्दा देया करता था ( क्योंकि वह ) उससे प्रेम करता था ॥१३॥

गीतम दीर्घतपसं महर्षि दीर्घजीविनम् ।

योगिल्लन्तोपवानास चर्णस्वानावरा सती ॥ १८ ॥

दीर्घजीवी महातपस्वी महर्षि गीतम को नीच बर्ण एवं दिग्भिं होने पर  
भी एक स्त्री ने सन्तुष्ट ( मुग्ध ) किया ॥१८॥

श्रुत्यब्धङ्गं मुनिसुतं तर्यैव स्त्रीष्वपरिहृतम् ।

उपायैविविधैः शान्ता जप्राह च बहार च ॥ १९ ॥

उसी प्रकार शान्ता ने, जियो के सम्बन्ध में अनभिश श्रुष्टि कुमार शूष्म  
मृद्ग का विविध उपायो से हरण किया एवं वर रूप में हरण किया ॥१९॥

विश्वामित्रो महर्षिश्च विगादोऽपि महत्तपः ।

दशवर्णांश्यहर्मने घृताच्च्वाप्सरसा हृतः ॥ २० ॥

महर्षि विश्वामित्र ने जो कि महान् तप में विजीत थे, घृताच्च अप्सरा से  
अपहृत होकर दश वर्ष को एक दिन समझा ॥२०॥

एवमादीनृष्टांस्ताननयन्विकियां लियः ।

लज्जितं पूर्ववयसं किं पुनर्नुपतेः सुतम् ॥ २१ ॥

इस प्रकार ( जब ) जियो ने उन उन श्रुष्टियों को विकार प्राप्त करवाया,  
तो यह सुन्दर एवं शुभा राज-पुत्र क्या चीज़ है ॥२१॥

तदेवं सति विश्रितं प्रयत्नं तथा यथा ।

इत्यं नृपस्य वंशशीरितो न स्यात्पराष्टमुखी ॥ २२ ॥

जब कि ऐसी बात है तो निश्चित रूप से ऐसा प्रयत्न करो जिससे यह राजा  
के वंश की शोमा यहाँ से विरक्त होकर न जाने ॥२२॥

या हि काव्यशुब्दतयोः हरन्ति सदर्शं जनम् ।

निकृष्टोऽकृष्टयोर्भीवं या गृहन्ति तु ताः स्त्रियः ॥ २३ ॥

अपने समान लोगो के मन तो जो कोई भी जियो हर सकती है जिन्हों

निकृष्ट उत्कृष्ट सभी प्रकार के लोगों के मन को हर बँडे वे ही जियो  
( जियिष्ट ) है ॥२३॥

**इत्युदायिवचः** श्रुत्वा ता विद्धा इव योगितः ।

**समारुक्तहुरात्मानं** कुमारप्रदण्णं प्रति ॥ २४ ॥

उदायी की ऐसी बात सुनकर वे जियों तो मानो बाणी से विद्ध हो गई हों,  
कुमार को बश में करने के लिए स्वयं पर आकृद् ( तैयार ) हुईं ॥२४॥

ता भ्रमिः प्रेक्षिवैर्हावैर्हसितैर्लोहितैर्गतैः ।

**चक्रुरात्मेपिकाश्चेष्टा भीतभीता इवाङ्गनाः ॥ २५ ॥**

कुछ दरती हुई थी उन जियों ने भोजों के तिरही चितवन से अभिनय,  
विलास, हास्य एवं ललित गति से आकर्षण करने की जेष्ठाएँ की ॥२५॥

**राङ्गस्तु विनियोगेन कुमारस्य च मार्दवात् ।**

जहुः क्षिप्रसविधास्त्वं भद्रेन भद्रेन च ॥ २६ ॥

उन्होंने राजा की आक्षा से तगा कुमार के संकोची भाव के कारण, मद  
जोर फाम के अधीन होकर सहसा अपनी लज्जा छोड़ दी ॥२६॥

**अथ नारीजनयुक्तः कुमारो अप्यचरद्वन्म् ।**

**वासितायूषसहितः करोच हिमबद्वन्म् ॥ २७ ॥**

अनन्तर नारीजनों से घिरा हुआ वह कुमार उद्यानमें विहार करने लगा  
जैसे हिमालय के बन में हृषिनियों के झुएङ के साथ हाथी ॥२७॥

**स तस्मिन् कानने रम्ये जञ्चाल ऋषुरःसरः ।**

**आकांड इव विभ्राजे विवस्वानप्सरोदृतः ॥ २८ ॥**

उस मनोहर चाय में स्त्रियों के साथ चलते हुए वह कुमार ऐसा दुशोभित  
हुआ, मानो विभ्राज ( वेषालय ) के कोदारथल में अप्तराज्ञों के साथ विव-  
वान् ( सूर्य ) हो ॥२८॥

**भद्रेनावर्जिता नाम ते काग्रित्तत्र योगितः ।**

**कठिनैः पस्पृशुः पीनैः संहर्तैर्वल्लुभिः स्तनैः ॥ २९ ॥**

वहाँ पर मद से भर्त कुछ जियों ने कठोर, स्वृत, सान्द्र उम्रत स्तनों से  
उसका स्पर्श किया ॥ २९ ॥

वरस्तांसकोमलालान्वमृदुचाहुकतावला ।

अनृतं सखलितं काचित्कृत्वैनं सस्वजे अलात् ॥ ३० ॥

शिखिल कन्दे से कोमल लम्बायमान मृदुल लुब्ज लता वाली एक बाला  
मिथ्या पतन के बहाने उठासे लिपट गई ॥ ३० ॥

काचिचान्नापरोष्ठेन मुखेनासवगन्विना ।

विनिशश्वास कर्णेऽस्य रहस्यं श्रुयतामिति ॥ ३१ ॥

लाला, निचला आँध वाली किसी ने मदिरा की गंध से युक्त मुख से उसके  
कान के पास (गाल में) चुम्बन किया—‘इस बहाने की एक चात हुम  
सुनिये’ ॥ ३१ ॥

काचिचान्नापयन्तीव प्रोवाचाद्रीनुलेपना ।

इह भक्ति कुरुष्वेति हस्तसंश्लेषलिप्सया ॥ ३२ ॥

उसके हाथ के स्पर्श की हत्ता से आई अनुलेप (गीला चन्दन) लिए  
किसी ने बहाना पूर्वक आशा देरे हुए यह बहा—यहाँ भक्ति (सेवा) करो ॥ ३२ ॥

मुदुर्मुहुर्मदव्याजमस्तनीलांशुकापरा ।

आलाद्यरशाना रेजे लुरदियुदिव ज्ञपा ॥ ३३ ॥

एक दूसरी लड़ी, जो मद में अन्धी होने के बहाने अपनी साड़ी को बार  
बार गिरा देती है एवं जिसकी करघनी दिल चाती है, इस प्रकार मुखोभित  
हुई मानो राजि में विजली चमकती हो ॥ ३३ ॥

काशिच्चित्कनककाङ्गीभिर्मुखराभिरितस्ततः ।

वभ्रमुर्दर्शयन्त्योऽस्य ओशीस्तन्वंशुकाकुताः ॥ ३४ ॥

रुन मुन बज्जसे वाली सोने की करघनियों से बैचे, भींगी साड़ी से ढके  
अपने भितन्डों को दशातो हुई कुछ यहाँ वहाँ धूमने लगी ॥ ३४ ॥

चूतशाखां कुसुमितां प्रगृह्णान्वा ललम्बिरे ।

सुवर्णाकलशप्रस्त्वानदर्शयन्त्यः पयोधरान् ॥ ३५ ॥

कुछ छियाँ, स्वर्ण घट सदृश चढ़े स्तनों को दिखाती हुई, पुष्पित आम-  
शाला को पकड़कर लटकने लगी ॥ ३५ ॥

काचित्पद्मवनादेत्य सपष्टा पश्चलोचना ।

पद्मवस्त्रस्य पार्श्वे उत्स्व पद्मधीरित तस्थुपी ॥३५॥

एक कोई कमल लोचना, कमल के बन से कमल लेकर आई एवं कमल सहस्र-मुख-राजकुमार के पास कमल शोभा की भाँति लड़ी हो गई ॥३६॥

मधुरं गोतमन्वयं काचित्साभिनयं जगी ।

तं स्वस्य चोदयन्तीव वज्रितोऽसीत्यवेच्छितः ॥३७॥

किसी ने अभिनय सहित साथें मधुर गीत गाया तथा उस 'शान्त' को कटाऊं से विचलित करती हुई ऐसा देखा मानो—“तुम बंचित हो रहे हो ॥३८॥

शुभेन वदनेनान्या भूकार्मुकविकर्षिणा ।

प्रापृत्यानुचकारास्य चेष्टितं धीरलीलया ॥३९॥

किसी दूसरी ने, भक्तों रूप चनुप पर, कटाऊ रूप बाण को तानते हुए, गम्भीर लीला से लौट-लौट कर मनोहर मुख से इसी चेष्टा का अनुकरण किया ॥३८॥

पीनबलगुस्तनी काचिद्वासामूर्हितकुरडला ।

उच्चैरबजहासैनं समाप्नोतु भवानिति ॥३९॥

वहे एवं मुन्दर स्तनवाली, हँसी से जिसके कुरडल दिल रहे ये ऐसी कोई 'आप समाप्त करें' (रति करें) —ऐसा कह, उसको जोरों से हँसी ॥४०॥

अपयान्तं तथैवान्या वचनघुर्मालयदामभिः ।

कारिचत्सादेपमधुरैर्जग्नुर्वैचनाक्षरौः ॥४०॥

उसी प्रकार दूसरी ने (लुडाकर) जाते हुए राजकुमार को माला की रसों से बांधा । अन्य किसी ने आदेप (बृहङ्ग) सहित बचन रूप अङ्गुष्ठों से रोका ।

प्रतियोगार्थिनी काचिद् गृहीत्या चूतवज्रीम् ।

इदं पुष्पं तु कस्येति पप्रच्छ मदविकल्पा ॥४१॥

तपशों करनेवाली ने आम की मंजरी लेकर पूछा कि यह कूज़ किसका है ?

काचित्पुरुषवल्लुत्वा गतिं संस्थानमेव च ।

उच्चाचैनं जितः स्त्रीभिर्जय भो पृथिवीमिमाम् ॥४२॥

कोई, मनुष्य के समान ही गति एवं स्थिति बनाकर उससे बोली—  
“अहो ! आप कियों से जीते गये, अब इस पृथ्वी को जीतो” ॥४२॥

अथ लोलेचाणा काचिजिङ्गन्ती नीलमुत्पलम् ।

किञ्चिन्मद्दकलैर्वाक्यैर्न पात्मजमभाषत ॥ ४३ ॥

इस प्रकार एक चपलनयना ने नील कमल को संप्रती हुई मद से मधुर वचन द्वारा रावकुमार से कुछ कहा ॥४३॥

पश्य भर्तव्यितं चूतं कुसुमैर्मधुगन्धिभिः ।

हेमपञ्चरहस्यो वा कोकिलो यत्र कृगति ॥ ४४ ॥

ऐ पतिदेव ! इस आर गंधयुक्त मुखों से ज्यात इस आम को देखो, जहाँ कोकिल इस प्रकार कृब रही है मानो सोने के पिंडके में बन्द हो ॥४४॥

अशोको दश्यतामेष कामिशोकविवर्धनः ।

रुचन्ति भ्रमय यत्र दशमाना इवामिना ॥ ४५ ॥

वियुक्त कामियों के शोक को अदाने वाले इस अशोक को देखिये, जहाँ मैंवरे ऐसे गूँज रहे हैं मानो अमिन से बल रहे हो ॥४५॥

चूतयश्चास समाशिलष्टो दश्यतां तिळकनुमः ।

शुक्लवासा इव नरः किया पीताङ्गरागया ॥ ४६ ॥

आम को शास्त्रा से चिपके हुए तिळक बृत्र को देखो । मानो शुक्ल वज्र आरण्य किये हुए पुरुष, पीले अंग राग वाली लोंग से आलिङ्गन कर रहा हो ॥४६॥

फुलं कुरुचकं पश्य निमुक्तालक्कप्रभम् ।

यो नखप्रभया स्त्रीणां निर्भिस्त इवानतः ॥ ४७ ॥

निचोये हुए आलक्क ( माहुर ) की प्रभावाला कुरुचक को देखो जो कि जियों के नस्स की प्रभा से मानो तिरस्कृत होकर नम्र अयवा लजित हो गया है ॥४७॥

बालाशोकश्च निचितो दश्यतामेष पल्लवैः ।

योऽस्माकं दशशोभाभिर्लज्जमान इव स्थितः ॥ ४८ ॥

( कोमल ) पल्लवों से सपन इस नृत्य शशीक को देखो जो हमारे शापों  
भी ( गदलियों की ) शोभा से सज्जित ला होकर स्थित है ॥४८॥

दीर्घिकों प्रायृतां पश्य तीर्तज्ञः सिन्दुवारकैः ।

पास्तुरांशुकसंबीतां शयानां प्रमदामित्र ॥४९॥

तटपत्तीं सिन्दुवारकों से टक्की हुई वापी को तो देखो जो कि श्वेत बल  
छोड़कर सो रही प्रमदा की तरह दिखती है ॥४९॥

हश्यतां खोपु माहात्म्यं चक्रवाको छासी जले ।

पृष्ठतः प्रेष्यवद्वार्यामनुवर्त्यनुगच्छति ॥५०॥

लियों की महिमा देखो—वशवतीं यह चक्रवाक जल में अपनी भाँपों  
के पीछे सेवक की भाँति जल रहा है ॥५०॥

मत्तस्य परमुम्भस्य रवतः शूयतां ध्वनिः ।

अपरः कोकिलोऽन्वचं प्रतिश्रुत्येव कृजति ॥५१॥

मदमत्त कोकिल की कृजन-ध्वनि तुमें, दूसरा कोकिल अनुकरण करने  
की तरह निरन्तर कृज रहा है ॥५१॥

अपि नाम विहङ्गानां वसन्तेनाहृतो भदः ।

न तु विन्तयतोऽविन्त्यं जनस्य प्राणमानिनः ॥५२॥

वसन्त ( श्रुत ) पश्चियों को, जाहे मदमत्त के किन्तु अविन्त्य ( आत्म )-  
विन्तन करने वाले स्वाभिमानी मनुष्य को ( मदमत्त ) नहीं कर लकड़ा  
है ॥५२॥

इत्येवं ता युवतयो भन्मयोहामचेतसः ।

कुमारं विविषेत्तैस्तेनपचकमिते नयैः ॥५३॥

इस प्रकार काम से उड़ीस चित्त उन लियों ने तत्त् विविष प्रकार के  
उपायों से कुमार को आकृष्ट करने का उपकाम किया ॥५३॥

एवमान्तिष्यमाणोऽपि स तु यैर्याष्टेन्द्रियः ।

मर्त्यवमिति सोद्देगो न जहर्यं न विलयेऽ ॥५४॥

इस प्रकार आकृष्ट किये जाने पर भी यैर्य से बंधी है इन्द्रियों जिसकी

ऐसा वह 'मरना होगा' यह सोचकर पैराम्य-सहित न तो प्रसन्न हो दृश्या और न दृश्यी ही ॥५४॥

तासां तत्त्वेऽनवस्थानं दृश्या स पुरुषोत्तमः ।

समं विनेन धीरेण चिन्तयामास चेतसा ॥५५॥

वह पुरुष भेष्ट, तत्त्व ( ज्ञान ) में उनकी स्थिति न देख, एक ही साथ उद्दिभ्व एवं धीर चित्त से साचने लगा ॥५५॥

किमेता नायगच्छन्ति चपलं योवनं क्षियः ।

यतो रूपेण संमतं जरा यन्नाशयिष्यति ॥५६॥

क्या ये क्लियाँ योवन को चालिक नहीं समझती है? जो कि अपने रूप से उन्मत्त है, जिसको दृढ़ावस्था नहीं कर देगी ॥५६॥

ननमेता न पश्यन्ति कस्यचिद्गोगसंप्लवम् ।

तथा दृष्टा भयं त्वक्स्वा जगति व्याधिधर्मिणि ॥५७॥

सच में ये किसी को रोग से व्याकुल नहीं देखती। अतएव व्याधिधर्मी जगत में भय त्याग कर प्रसन्न है ॥५७॥

अनभिज्ञात्र सुन्यक्तं मृत्योः सर्वीपहारिणः ।

ततः स्वस्या निरुद्गिर्नाः कीडन्ति च हसन्ति च ॥५८॥

सब कुछ हर लेने वालों मृत्यु से ये स्वष्ट अनभिज्ञ हैं तभी तो स्वस्थ ( मुखी ) एवं उद्देश-रहित होकर ज्ञेताओं श्रीर हैंसती है ॥५८॥

जरा व्याधि च मृत्युं च को हि जानन्सचेतनः ।

स्वस्थस्तिष्ठेनिषीदेहा शयेहा किं पुनर्हसेन् ॥५९॥

फौन सचेतन ( बुद्धिमान ), जरा, व्याधि एवं मृत्यु को जानता दृश्या स्वस्थ ( शान्त ), खड़ा, तैठा, सोचा रह सकता है, फिर हँस कैसे सकता है ॥५९॥

बस्तु दृश्या परं जीर्णं व्याधितं मृतमेव च ।

स्वस्यो भवति नोद्दिग्मो यथाचेतास्तथैव सः ॥६०॥

जो, किसी दृढ़, रोगी, या मृतक को देखकर स्वस्थ ( शान्त ) रहता है, एवं उद्दिभ्व नहीं होता, वह अचेतन ( जड़ ) सहश है ॥६०॥

वियुज्यमाने हि तरी पुण्येरपि फलैरपि ।  
पतति चिद्ग्रयमाने वा तरुरन्यो न शोचते ॥६१॥

निष्ठय ही, एक तृक्ष, पुण्य या फल से वियुक्त होता है, अथवा काटे जाने पर गिरता है तब दूसरा तृक्ष शोक नहीं करता ॥६१॥

इति ध्यानपरं हृष्टा विषयेभ्यो गतस्तुहम् ।  
उदायी नोतिशाक्षङ्गस्तमुवाच सुहृत्या ॥६२॥

इस तरह उसको ध्यान-ममन एव विषयों से निस्तृह देख, नीति शाल का जाता उदायी उससे मित्रतापूर्वक बोला ॥६२॥

अहं नृपतिना दत्तः सखा तु भ्यं ज्ञमः किल ।  
यस्मात्त्वयि विवक्षा मे तथा प्रणयवत्त्या ॥६३॥

राजा द्वारा नियुक्त में, तुम्हारे लिये निष्ठय ही समयं मित्र हूँ । अतः मित्रता के नाते मुझे तुमसे कुछ कहना है ॥६३॥

अहितात् प्रतिषेषश्च हिते चानुप्रवर्तनम् ।  
व्यसने चापरित्वागस्त्रिविधं मित्रलक्षणम् ॥६४॥

अहित में निषेष करना, हित में नियुक्त करना, विषयि में भी न छोडना, ये ही मित्र के तीन लक्षण हैं ॥६४॥

सोऽहं मैत्रीं प्रतिज्ञाय पुरुषार्थात्पराङ्गमुखः ।

यदि त्वां समुपेक्षेय न भवेन्मित्रता मयि ॥६५॥

सो मैं, मित्रता की प्रतिज्ञा कर, पुरुषार्थ ( स्वकर्त्तव्य ) से विमुख होकर, यदि तुम्हारी उपेक्षा कर तो मुझमें मित्रता नहीं होगी ॥६५॥

तद्वर्वीमि सुहृदभूत्या तरुणस्य वपुष्मतः ।

इदं न प्रतिरूपं ते स्त्रीप्ववाचित्यमीहशम् ॥६६॥

अतः मित्र होकर मैं बोलता हूँ कि लियो के प्रति, इस प्रकार की, यह उदासीनता तुम जैसे सुना सुन्दर के अनुरूप नहीं है ॥६६॥

अनृतेनापि नारीणां युक्तं समनुवर्तनम् ।

तद्व्रींहापरित्वारार्थमात्मरत्यर्थमेव च ॥६७॥

खियो के लज्जा वरिहार ( समोधन ) के लिये तथा अपने मनोरंजन के लिये दिस्त्रावापन से भी उनके अनुकूल व्यवहार करना चोय है ॥६७॥

संनतिव्यानुवृत्तिश्च खीणां हृदयवन्धनम् ।

स्नेहस्य हि गुणा वोनिर्मानकामाश्च योगितः ॥६८॥

नम्रता एव अनुकूल आचरण ही खियो का हृदय ( प्रेम ) बन्धन है । गुण ( सद्वाच ) ही प्रेम का उद्गम स्थान है । खियों सम्मान चाहती है ॥६८॥

तदर्हसि विशालाक्षं हृदयेऽपि पराङ्मुखे ।

रूपस्यास्यानुरूपेण दाचिएनानुवर्तितुम् ॥६९॥

अतः हे विषुलनयन ! हृदय विमूख उदासीन होने पर भी, इस सौन्दर्य के अनुरूप भी चातुर्पं से उनके अनुरूप व्यवहार करना चाहिये ॥६९॥

दाचिष्यमीपदं खीणां दाचिष्यं भूषणं परम् ।

दाचिष्यरहितं रूपं निष्पुण्प्रिव काननम् ॥७०॥

'सहृदयता' खियो के लिये खोपषि है, सहृदयता उत्तम भूषण है । सहृदयता-रहित रूप ( सौन्दर्य ) पुण्य शृण्य बाटिका सहशा है ॥७०॥

किं वा दाचिष्यमात्रेण भावेनास्तु परिग्रहः ।

विषयान्दुर्भाँडव्या न एवज्ञातुमर्हसि ॥७१॥

केवल चतुर्पं से ही यो ? भाव ( अन्तर्मन ) से महाय ( सेवन ) करना चाहिये । दुर्लभ विषय को पाकर, तुम्हें उनकी अवहेलना नहीं करना चाहिये ॥७१॥

कामं पदमिति ज्ञात्वा चेवोऽपि हि पुरन्दरः ।

गौतमस्य मुनेः पल्लीमहल्यां चकमे पुरा ॥७२॥

काम को उत्तम जानकर इन्द्र देव ने भी गौतम मुनि की पल्ली अहिल्या को कभी चाहा था ॥७२॥

अगस्त्यः प्रार्थयामास सोममार्या च रोहिणीम् ।

तस्मात्तस्त्वशरीरं केभे लोपामुद्रामिति श्रुतिः ॥७३॥

अगस्त्य ने चन्द्रमा की मार्या रोहिणी की प्रार्थना की भी अतः उसी के समान लोपामुद्रा पल्ली प्रात की—ऐसी लृति है ॥७३॥

उत्तरथस्य च भायोद्यां ममतायां महातपाः ।

मारुत्यां जनयामास भरद्वाजं वृहस्पतिः ॥७४॥

उत्तरथ की भायों, महत की पुत्री मनका में, महातपस्त्री दृष्टिपति ने भरद्वाज को उत्पन्न किया ॥७४॥

वृहस्पतेमहिष्यां च जुहत्यां जुहतां चरः ।

सुवै विवुधकर्माणं जनयामास चन्द्रमाः ॥७५॥

जुहती नामक, वृहस्पति को महिषी में, हवन करने वालों में ऐह चन्द्रमा ने देवता के समान कर्मवाले विवुध को उत्पन्न किया ॥७५॥

कालीं चैव पुरा कन्यां जलप्रभवसंभवाम् ।

जगाम यमुनातीरे जातरागः पराशरः ॥७॥

पूर्व काल में काम राग होने पर, पराशर ने यमुना तट पर मछुली से प्रभव ( उत्पन्न ) काली नामक कन्या से संभोग किया ॥७६॥

मातञ्ज्यामङ्गमालायां गर्हितायां रिंसया ।

कपिङ्गलावं तनव्यं वसिष्ठोऽजनयन्मुनिः ॥७७॥

वसिष्ठ मुनि ने रमण की इच्छा से गहित ( निमित ) मठङ्ग ( चाष्टाल ) की कल्पा में कपिङ्गलाद नामक पुत्र उत्पन्न किया ॥७७॥

यथातिरचेव राजपिर्वयस्यपि विनिर्गते ।

विश्वाच्याप्सरसा साधै रेमे चैत्रवथे वने ॥७८॥

तथा अवस्था निकल जाने पर भी राजपि यथाति ने चैत्रवथ में विश्वाच्यो अप्सरा के चार रमण किया ॥७८॥

कीसंसंगं विनाशान्तं पाण्डुक्षोत्वापि कौरवः ।

माद्रीकृपगुणाच्चिपः सिषेवं कामजं सुखम् ॥७९॥

कुरुवंशी पाण्डु ने क्षेत्रसमागम को प्राप्तान्तकारी जानकर भी माद्री के गुण से मोहित होकर कामजन्य सुख का सेवन किया ॥७९॥

करालजनकरचेव हृत्या ब्राह्मणकन्दकाम् ।

अवाप अंशमप्लेवं न तु सेजे न मन्मथम् ॥८०॥

करालबनक भी इसी तरह ब्राह्मण कल्पा का अपहरण करके भष्ट हुआ तिस पर भी काम में आसक्त नहीं हुआ ? अपितु हुआ ही ॥८०॥

एवमाद्या महात्मानो विषयान् गर्हितात्मपि ।

रतिहेतोर्बुभुजिरे प्रागेव गुणसंहितान् ॥८१॥

इस प्रकार आद्य शूष्यियो ने सुख के लिये निनित विषयों का उपभोग किया गुणसुकृ विषयों का प्रथम ही ॥८१॥

त्वं पुनर्न्योयतः प्राप्तान् बलवान् रूपवान्युवा ।

विषयानवज्ञानात्मि यत्र सक्तमिदं जगत् ॥८२॥

तुम तो बलवान् रूपवान् युवक हो, किर न्यायतः प्राप्त विषयों का तिरस्कार करते हो जिसमें यह विश्व अनुरक्त है ॥८२॥

इति श्रुत्वा बचस्तस्य ऋद्धणमागमसंहितम् ।

मेघस्तनितनिर्धोषः कुमारः प्रत्यभाषत ॥८३॥

उस उदायो का मधुर एवं शास्त्र-संशोहीत वचन सुनकर मेघ-गर्वन-धनि सहृदय कुमार ने उत्तर दिया ॥८३॥

लपपञ्चमिदं वाक्यं सौहार्दव्यञ्जकं त्वयि ।

अत्र च त्वानुनेष्यामि यत्र मा दुष्टु मन्यसे ॥८४॥

यह मैथ्रीदूचक वचन तुममें योग्य है (ऐसा कौन कह सकता है ) किन्तु इस विषय में मैं तुमसे कुछ अनुग्रह करूँगा जिसमें मेरा दोष मानते हो ॥८४॥

नावज्ञानामि विषयात् जाने लोकं तदात्मकम् ।

अनित्यं तु जगन्मत्वा नात्र मे रमते मनः ॥८५॥

मैं विषयों की उपेक्षा नहीं करता हूँ । उंसार को तन्मय (विषयस्वरूप) जानता हूँ, किन्तु जगत् को अनित्य मानकर मेरा मन इसमें नहीं रम रहा है ॥८५॥

जरा व्याख्या मृस्युश्च यदि न स्यादिदं त्रयम् ।

ममापि हि मनोऽपेषु विषयेषु रतिर्भवेत् ॥८६॥

यदि जरा, व्याख्या एवं मृस्यु, ये कीनों न होते तो इन मनोहर विषयों में मेरा भी व्रेम होता ॥८६॥

नित्यं चापि त्रि र्णीणामेतदेव बपुभवेत् ।

दोषवत्स्वपि कामेषु कामं रज्जेत मे पुनः ॥८७॥

जियों का यह शरीर भी यदि नित्य ( शाश्वत ) होता तो दोषयुक्त होने पर भी विषयों में मेरा मन अवश्य रमता ॥८७॥

यदा तु जरया पीतं रूपमासां भविष्यति ।

आत्मनोऽप्यनभिप्रेतं मोहात्तत्र रतिभवेत् ॥८८॥

जब कि इनका रूप बृद्धत्व के द्वारा पी लिया जावेगा, तब आपने लिये भी वह वृग्यास्पद प्रतीत होगा, अतः मोह के कारण उसमें प्रेम होता है ॥८८॥

मृत्युब्याधिजराधमा मृत्युब्याधिजरात्मभिः ।

रममाणो हासंविम्नः समानो मृगपच्छिभिः ॥८९॥

मृत्यु व्याधि एवं वरा स्वरूप मनुष्य, मृत्यु, व्याधि तथा वरा रूप विषयों से रमता हुआ यदि अनुरक्त ही रहता है तो वह मृग-पच्छियों के समान है ।

यदप्यात्म्य महात्मानस्तेऽपि कामात्मका इति ।

संवेगोऽन्नैव कर्तव्यो यदा तेषामपि चयः ॥९०॥

जो तुमने कहा कि वे महात्मा भी कामात्मक हैं, इसमें तो संवेग ( भय ) ही करना चाहिये क्योंकि उनका भी पतन ही हुआ है ॥९०॥

माहात्म्यं नहि तन्मन्ये यत्र सामान्यतः ज्ञयः ।

विषयेषु प्रसक्तिर्वा युक्तिर्वा नात्मवच्या ॥९१॥

मैं उसे महत्वपूर्व नहीं मानता जिसमें सर्वधा चय होता है । आत्मवेचा को विषयों में आसक्त नहीं होती और न वे उस सम्बन्ध में उपाय ही करते हैं ॥९१॥

यदप्यात्मानुतेनापि र्णीजने वर्त्येतामिति ।

अनुतं नावगच्छामि दाक्षिण्येनापि किञ्चन ॥९२॥

और तुमने जो कहा कि जियों में मिथ्यापन से भी बर्ताव करना चाहिए तो मैं कपट नहीं समझता हूँ और न चतुराई से कुछ समझता हूँ ॥९२॥

न चातुर्वर्तनं तन्मे रुचिं यत्र नार्जवम् ।

सर्वभावेन संपर्को यदि नास्ति धिगस्तु तत् ॥९३॥

मुझे उस सदा आचरण नहीं करता जिसमें निश्चलता न हो। यदि सर्वमात्र ( बाह्यान्तर ) से सम्बन्ध नहीं है तो उसे चिनकार है ॥६३॥

अचृतेः अहघानस्य सरकस्यादोपदर्शिनः ।

किं हि बज्जयितव्यं स्याज्जातरागस्य चेतसः ॥६४॥

अधीर, विभस्त, आस्तक, जिन्हें दोष नहीं दीखता और अनुरक्त चित्त को क्या घोखा देना चाहिये ? ॥६४॥

बज्जयन्ति च यदेवं जातरागाः परस्परम् ।

ननु नैव चमं त्रष्णुं नरा: खीणां नृणां क्षियः ॥६५॥

यदि अनुरक्त मनुष्य एक दूसरे को इस तरह घोखा देते हैं तो वे पुरुष लियों के तथा वे लियों पुरुषों के देखने योग्य नहीं हैं ॥६५॥

तदेवं सति दुःखातैः जरामरणभागिनम् ।

न मां कामेष्वनार्थेषु प्रतारयितुमर्हसि ॥६६॥

अतः जो ( मैं ) दुख से पीड़ित हूँ एवं बन्म-मूलु का मार्ग हूँ—ऐसा मुझे अशुभ विषयों में फँसाकर ( तुम ) न ठगो ॥६६॥

अहोऽतिधीरं बलवद्य ते भनश्चलेषु कामेषु च सारदर्शिनः ।

भयेऽतितीव्रे विषयेषु सज्जसे निरीक्षमाणो मरणऽवनि प्रजाः ॥६७॥

छहो ! तम्हारा मन अत्यन्त धीर एव बलवान् है जो कि तुम जाग्रिक विषयों में सार देखते हो। अत्यन्त तोदण तथा भयंकर मूलु मार्ग में स्थित प्रजाओं को देखते हुए भी तुम विषयों में आचक होते हो ॥६७॥

अहं पुनर्भीरतोविकल्पवा जराविपदून्याधिभयं विचिन्तयन् ।  
लेभे न शान्तिं न धृतिं कुतो रति निशामयन्दीपमिवाग्निना जगत् ॥६८॥

मैं तो जन्म, मृत्यु और व्याधि से होनेवाले भय को देखकर अत्यन्त भयातुर एवं विकल हूँ। अग्नि से जलते हुए के समान जगत् को देखते हुए मुझे न शान्ति है, न धीरत्व है ॥६८॥

असंशयं मृत्युरिति प्रजानतो नरस्य रागो हृदि यस्य जायते ।

अयोमर्यां तस्य परैमि चेतनां महामये रज्यति यो न रोदिति ॥६९॥

‘मृत्यु निवृत्त है’—यह जात जानते हुए भी जिन मनुष्यों के हृदय में भोगेन्द्रिय होती है उनकी बुद्धि ( मैं ) जोहे की समझता हूँ, जो कि महामय ( मृत्यु ) को देखते हुए भी विषय से राग करता है ( किन्तु ) रोता नहीं है ॥६९॥

अथो कुमारश्च विनिश्चयात्मिकां चकार कामाभयभातिर्ना कथाम् ।  
जनस्य चलुर्गमनोचमण्डलो महीघरं चास्तमियाय भास्करः ॥१००॥

इस प्रकार कुमार ने काम के आधार (मूल) को नष्ट करनेवाली निश्चयात्मक बताते कहीं। तब लोगों के नेत्र देख सकने पोन्प मण्डल द्वारा तात सर्व अस्ताचल को गये ॥१००॥

ततो वृथा धारितभूपणस्तजः कलागुणैश्च प्रणायैश्च निष्ठफलैः ।

स्व एव भावे विनिश्चय मन्मर्थं पुरं यदुभूम्नमतोरथाः स्त्रियः ॥१०१॥

तब वे स्त्रियों, जिनके घारण किंते हुए भूपण तथा मालाये व्यर्थ हो गये हैं और उच्छृष्ट कला, गुणों तथा प्रेम-लीलाओं के निष्ठल हो जाने से, काम भाव को अपने आप में निरुद्ध करके, निराश होकर नगर को लौट गए ॥१०१॥

ततः पुरोक्षानगतां जनभियं निरीद्य सार्वं प्रतिसंहृतां पुनः ।

अनित्यतां सर्वंगतां विचिन्तयविन्वेश विषयं चितिपालकात्मजः ॥१०२॥

तब नगर की उत्तरानगत जनशोभा को सार्वकाल पुनः लिमटो हुई देखकर 'अनित्यता सर्वंगत (सर्वव्यापी) है'—ऐसा चिन्तन करते हुए चितिपाल-पुत्र प्रापाद को गया ॥१०२॥

ततः अत्या राजा विषयविमुद्वं तस्य तु मनो

नशिश्च तां रात्रि द्वद्यगतशस्त्र्यो गज इव ।

अथ आन्तो मन्त्रे वहुविविधमार्गं संसचिवो

न सोऽन्यत्कामेभ्यो नियमनमपश्यत् सुकृतम् ॥१०३॥

इति खीनिवारणो नाम चतुर्थः सर्गः ।

तब राजा उस कुमार का मन विषयों से विमुद्व हुआ सुन, जिसके हृदय में जागा खुम गया हो—ऐसे हाथी के समान, उस रात्रि को नहीं सो सका तथा मन्त्री सहित विविध प्रयत्न करने की मन्त्रणा में यक्षकर उसने पुत्र की उद्धि को नियन्त्रण करने के लिए, काम के अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं देखा।

'खीनिवारण' नामक चतुर्थ सर्गः समाप्त ।

अथ पंचमः सर्गः

अभिनिष्कामणम्

अभिनिष्करण

स तथा विद्यर्थिनोभ्यमानः परमाहंरपि शाकवराजसुनः।

न जगाम धृतिं न शर्मं लेभे हृदये सिंह इशातिदिग्भविदः ॥१॥

वह शान्तिराज का पुत्र बद्यापि परम उच्छृं विषयो से लुभाया गया किन्तु अत्यन्त विद्याकृ बास्य से विद्य सिंहके समान उसको न धैर्य दूआ न शान्ति ॥१॥

अथ मन्त्रसुतैः त्वमैः कदाचित् सखिभित्रित्वकर्यैः कृतानुवात्रः।

वनभूमिदिवचया शमेष्मुनरवेवानुभतो वहिः प्रतस्थे ॥२॥

तब एक समय, शान्ति की इच्छावाला वह चित्र-विचित्र कहानियाँ बाननेवाले अपने समर्थ मन्त्र-पुत्रों के साथ बनप्रान्त देखने को इच्छा से, राजा की आहा पाकर बाहर निकला ॥२॥

नवरकमस्तुतीनकिंकिणीकं प्रचलतामरताकहेमभाषडम् ।

अभिरुदा स कन्धकं सदृशं प्रययौ केतुमिव दूमावजकेतुः ॥३॥

हृत एवं कमल अँकित पताका चाला वह, नबीन तुवर्ण निर्मित लगाम  
और घटो से युक्त, चलायमान चामर और सुन्दर स्वर्ण भूपणवाले, केनु के  
समान कम्युक (जाति विशेष) शुभ लक्षण युक्त थोड़े पर चढ़कर निकला ॥३॥

स विकृष्टतरं वनान्तभूमि वनलोभाच ययौ महीगुणाच ।

सलिलोर्मिविकारसीरमागां वसुधां चैव ददर्श कुष्माणाम् ॥४॥

वन-दर्शन के लोभ और पृथ्वी के गुण विशेष से आकृष्ट होकर सुदूर वन के अन्त (पार) की भूमि की ओर गया, तभा जल-चरण की भाँति विहृत, इल मार्ग (जुनी हड्डी भाली) बाली पृथ्वी को त्रुतते हुए उसने देखा ॥४॥

हलभिन्नविकीर्णशाष्टपदभाँ हतसूक्तमकिमिकीटजन्तुकीर्णाम् ।

समवेष्य रसां तथाविधां तां स्वजनस्येव वधे भृशं शुशोच ॥५॥

इति जुतने से तुण, कुशार्ण, लिङ्गभिन्न दो गई थीं, छोटे-छोटे कीड़े मक्खों के मरकर चिछू गये थे—वैसी उस बसुधा को देखकर अत्यन्त शोक किया, मानो स्वप्न का वध हुआ हो ॥५॥

कृपतः पुरुषांश्च वीक्षमाणः पवनाकांशुरजोविभिन्नवर्णान् ।

वहनकलमविकलावांश्च धुर्यान् परमार्थः परमां कृपां चकार ॥६॥

पवन, सूर्यनिकरण एवं धूजि से विवरण (कल) किसानों को, तथा इति दोने के परिषेष से व्याकुल बैलों को देखकर, अत्यन्त सखल कुमार ने वही करुणा की ॥६॥

अवसीर्यं ततस्तुरङ्गपुष्पाच्छनकेगां व्यचरच्छुचा परीतः ।

जगतो जननव्ययं विचिन्वन् कृपणं स्वलिवदमित्युवाच चार्तः ॥७॥

तब अर्थ को पीठ से उत्तरकर शोक से विहूल वह पृष्ठो पर मन्द गति से चला था विश्व के जन्म मृत्यु का विवेचन करते हुए, दुःखी होकर बोला—‘संतार जन्ममुख में दीन है’ ॥७॥

मनसा च विविक्तामभीसुः सुहृदस्ताननुयायिनो निवार्य ।

अभितप्त्वालचारुपर्णवत्या विजने मूलमुपेयवान् स जन्मवाः ॥८॥

मन ने एकाग्रता को अभिजापा से, पीछे आनेवाले मिथों को वहाँ रोककर, वह चारों ओर दिल रहे पसेवाले एकान्त स्थित जम्बु वृक्ष के मूल में गया ॥८॥

निषसाद स यत्र शौचवस्त्रां भुवि वैहूर्बनिकाशराद्वलायाम् ।

जगतः प्रमवाप्ययौ विचिन्वन् मनसव्र नियतिर्मार्गमाललम्बे ॥९॥

वहाँ वह, हरित मणि सहवा तुण मुक्त पवित्र भूमि पर बैठा और विश के जन्म मृत्यु की गवेषणा करते हुए मन की एकाग्रता के मार्ग का सदाचार लिया ॥९॥

समवाप्तमनःस्थितिज्ञ सदो विपर्येच्छादिभिराधिभित्र सुक्तः ।

सविवर्कविचारमाप शान्तं प्रथमं ज्यानमनाश्रवप्रकारम् ॥१०॥

प्रथम वह विषयों की दृष्टि आदि मानसिक दुःख से युक्त था ( किन्तु ) वहाँ उसने शीघ्र ही मानसिक स्थिरता प्राप्त की तथा राग-द्वेष आदि दून्द्र का न होने का प्रकार, शान्त, तर्क सहित विचार रूप ध्यान-प्राप्त किया ॥१०॥

अधिगम्य ततो विवेकज्ञं तु परमप्रीतिसुखं मनःसमाधिम् ।

इदमेव ततः परं प्रदृष्ट्यौ मनसा लोकगतिं निशाम्य सम्यक् ॥११॥

तब ( उसने ) विवेकज्ञ अत्यन्त प्रेम एवं मुख देनेवाली, मानसिक समाधि ( एकाग्रता ) प्राप्त करके, इसके अगे लोक की गति को आच्छादी तरह देखते हुए, इसी विषय का प्रगाढ़ ध्यान ( विचार ) किया ॥११॥

कुपणां बत यजजनः स्वयं सञ्चवशो व्याधिजराविनाशधर्मो ।

जरयान्दितमातुरं मृतं वा परमज्ञो विजुगुप्तस्ते मदान्धः ॥१२॥

कितनी मूर्खता है कि व्याधि, जरा, मरणशील तथा स्वयं पराधीन अशानो मदान्ध पुरुष, जरा से पीड़ित रोगी तथा मृत अन्य लोगों को देखकर, उनकी अचैतन्यता करता है ॥१२॥

इह चेदहमीहशः स्वयं सन् विजुमुप्सेव परं तथास्वभावम् ।

न भवेत्सदृशं हि तत्त्वम् वा परमं धर्ममिमं विज्ञानतो मे ॥१३॥

इस संसार में यदि मैं स्वयं इस प्रकार का होकर के भी दूसरे वैकाहा हो ( मरण-अव्याधि ) स्वभाव वाले की उपेक्षा करूँ तो परम धर्म को जाननेवाले मेरे अनुत्तर ( योग्य ) यह नहीं होगा ॥१३॥

इति तस्य विपश्यतो यथावज्जगतो व्याधिजराविपत्तिदोषान् ।

वलयौक्षनजीवितप्रवृत्तो विजगामात्मगतो मदः च्छेन ॥१४॥

इस प्रकार जगत के व्याधि-जरा-विनाश रूप दोषों को यथावत् विचारते हुए, उसका बल यौवन वीवन से जन्य आत्मगत मद ( अभिमान ) वस्त्राल विगलित हो गया ॥१४॥

न जहर्यं न चापि चानुतेषे विचिकित्सां न ययी न सन्द्रिनिद्रे ।

न च कामगुणेषु संरक्षणे न विदिष्टे पूरं न चावमेने ॥१५॥

उसको इर्द्दं, सन्ताप और सन्देह नहीं हुए, निद्रा वा तन्द्रा नहीं आई,

काम ( विषय ) के गुणों ( स्वाद ) में प्रेम नहीं हुआ । उसके द्वारा न तो किसी से द्रेप हुआ और न किसी का अपमान हुआ ॥१५॥

इति बुद्धिरितं च नीरजस्का बृद्धे तस्य महात्मनो विशुद्धा ।

पुरुषैरपरं दृश्यमानः पुरुषोपसंसर्पं भिन्नवेषः ॥१६॥

इस तरह उस महात्मा की यह मल रहित विशुद्ध बुद्धि बढ़ी और दूसरे लोगों द्वारा नहीं देखा जाता हुआ एक पुरुष भिन्न वेष में उसके पास आया ।

नरवेषसुतस्तम्यपुच्छद्वद् कोऽसीति शार्णसं सोऽत्र तस्मै ।

नरपुंगवं जन्ममृत्युभीतः अमरणः प्रत्रजितोऽस्मि मोक्षहेतोः ॥१७॥

राजन्पुत्र ने उससे पूछा — “कहो, कौन हो ?” तब उसने उससे कहा — ऐ नरभेष ! जन्ममृत्यु से डरा हुआ मैं सन्यासी हूँ तथा मोक्ष के लिए संन्यास किया हूँ ॥१७॥

जगति ज्ञयधर्मके सुमुक्तुमृग्येऽहं शिवमत्तयं परं तत् ।

स्वत्रनेऽन्यजने च तुन्यबुद्धिरिषयेऽयो विनिवृत्तरागदोषः ॥१८॥

नक्षर जगत् में मोक्ष की इच्छाकाला में, प्रसिद्ध कल्याणमय आविनाशी पद खोज रहा है । निव और पराये में समान बुद्धि होकर, विषयों के राग-द्वेष से रहित हो गया है ॥१८॥

निवसनं कच्चिदेवं बुद्धमूले विजने वायतने गिरी बने वा ।

विचराम्यपरिप्रहो निराशः परमार्थाय यथोपपत्रमैचः ॥१९॥

कभी कृष्ण की जड़ में, कभी निर्जन देवालय में, कभी पर्वत पर और कभी बन में रहता हुआ, संप्रदर्शित, आशारहित अनायास जो मिल जावे, वही काकर मोक्ष के लिए चूम रहा है ॥१९॥

इति पश्यत एव राजसूनोरिदमुक्त्वा स नमः समुत्पपात ।

स हि तद्वपुरन्यबुद्धवर्णी स्मृतये तस्य समेयिवान्दिवौकाः ॥२०॥

ऐसा कहकर, राजकुमार के देखते वह आकाश में ठड़ गया । दूसरे बुद्ध को देखनेवाला वह ऐसा शरीरभारी देवता था ( जो कि ) उसकी स्मृति जगाने के लिए आया था ॥२०॥

गगनं खगवद्रुते च तस्मिन्नलूपवरः संजहूये विसिस्मिये च ।

तपलाभ्य ततश्च धर्मसंज्ञामभिनिर्वाणविधी मति चकार ॥२१॥

पंछो को तरह ( पञ्च सदृश ) उसके आकाश में उड़ जाने पर, वह नर बड़ा प्रसन्न एवं विस्मित हुआ तथा उससे घमं का बान प्राप्त कर, उसने घर से निकलने को सोचा ॥२२॥

तत इन्द्रसमो जितेन्द्रियाभ्यः प्रविविज्ञुः पुरमश्वमारुदोह ।

परिवारजनं त्वं वेद्यमाणस्तत एवाभिमतं वनं न भेजे ॥२३॥

तब, इन्द्रिय रूप अश्वोंको जीतने लाला, इन्द्र के समान वह, नगर में जाने की इच्छा से थोड़े पर चढ़ा । वहाँ परिजनों को देखता हुआ, वही से आभीष बन को नहीं गया ॥२४॥

स जरामरणात्तर्य चिकीपुर्वनवासाय मति स्मृतौ निधाय ।

प्रविवेश पुनः पुरं न कामाद्वनभूमेदिव मरहलं द्विपेन्द्रः ॥२५॥

जरा-मरण का ज्यय करने की इच्छा से कन में निवास करने का अपना निश्चय स्मरण में रखते हुए, अनिच्छापूर्वक नगर में उसी तरह प्रवेश किया जैसे इर्थी बनभूमि से, पालतृ हाथियों के मुराद में प्रवेश करता हो ॥२६॥

सुखिता वत निवृता च सा स्त्री पतिरीटक्ष इहायतात् यस्याः ।

इति तं समुदीद्य राजकन्या प्रविशन्तं पथि साङ्गलिर्जगाद् ॥२७॥

किसी राजकन्या ने [मार्ग में प्रवेश करते हुए, उसे देखकर हाथ ढोइ कर कहा—हे विशालनयन ! इस लोक में जिसका पति ऐसा है वह जो सुखी एवं कृतार्थ है ॥२८॥

अथ घोषमिम महाभ्रघोपः परिशुश्राव शमं परं च लेभे ।

श्रुतवान्स हि निवृतेति शब्दं परिनिर्वाणविधी मति चकार ॥२९॥

महामेष लद्या गम्भीर ज्वनि वाला उसने 'निहृत' ( कृतार्थ ) वह शब्द सुनकर परम शान्ति प्राप्त की, तथा उस शब्द को सुनकर परिनिर्वाणी की विधि ( मुक्ति ) सोची ॥२५॥

अथ काङ्गनशैलशृङ्गवप्मो गजमेघपर्भवाहुनिस्वनातः ।

ज्ययमज्ज्यधर्मजातरागः शशिसिंहाननविक्रमः प्रपेदे ॥२६॥

तब सुमेह शिलार के समान उन्नत शरीर वाला, हाथी (के सूँड) के समान भुवा वाला, मेघ के समान घनि वाला, प्रधगम (मीन) के समान नेत्र वाला, चन्द्रमा के समान सुख वाला एवं यिंह के समान पराक्रम वाला 'वह' जिसको अच्छाय धर्म में प्रेम उत्पन्न हुआ है, महल में गया ॥२५॥

मूगराजगतिस्ततोऽभ्यगच्छन्तपति मन्त्रिगणैकपास्यमानम् ।

समितौ मरुतामित्र च्वलन्तं मघवन्तं त्रिविदे सनत्कुमारः ॥२६॥

तब मूगराज के समान गतिमान् 'वह' मन्त्रियों द्वारा सेवित राजा के पास गया, जैसे स्वर्ग में देवताओं की समा में सुशोभित इन्द्र के पास सनत्कुमार आते हैं ॥२६॥

प्रणिपत्य च साञ्जलिर्बभाषे दिशा मह नरदेव साध्वनुवाम ।

नरिविज्ञियामि मोच्छटेतीर्नियतो रास्य जनस्य विप्रयोगः ॥ २८ ॥

और करवद्द व्रश्याम कर बोला— हे नरदेव ! मुझे शुभ आज्ञा देवे । मैं नोङ्क के लिए तन्मास लेना चाहता हूँ, जोकि एक दिन इस (मुझ) व्यक्ति से अपश्य ही वियोग होगा ॥२८॥

इति तस्य वचो निशन्य राजा करिणोवाभिहतो द्रुमश्चचाल ।

कमलप्रतिमेऽञ्जली गृहीत्वा वचनं चेदमुवाच वाष्पकरणः ॥ २९ ॥

उसका वचन सुनकर, हाथी (की ठोकर) से आहत हृषि की मौति, राजा को प गया और कमलसहरा कर-पुट में पकड़कर अश्रुद्व गद्वगद स्वर से यह वचन बोला—॥२९॥

प्रतिसंहर तात बुद्धिमेतां न हि कालस्तव धर्मसंशयस्य ।

वयसि ग्रथमे भर्तौ चलायां वहुदोपां हि वदन्ति धर्मचर्याम् ॥ ३० ॥

हे तात ! इस बुद्धि को लौटा लो । धर्म का आधार (सेवन) का तुम्हारा समय (अवस्था) नहो है । प्रथम अवस्था में मन बंबल रहने के कारण धर्म-चरण में बहुत दोष बताते हैं ॥३०॥

विषयेषु कुलहत्तेन्द्रियस्य त्रतस्येष्वसमर्थनिश्चयस्य ।

तत्त्वाणस्य मनस्त्वतस्यरण्यादत्तमिङ्गस्य विशेषतो विवेके ॥ ३१ ॥

विषयो के प्रति, तरण को इन्द्रियों उत्कण्ठित रहती है तथा वत के दुःख सहने में वह निर्दित रूप में असमर्थ रहता है। अतः अरथ से (उत्तरा) मन विचलित हो जाता है, विशेषतः विवेक ( निर्णय ) में वह अनभिज्ञ रहता है ॥३१॥

मम तु प्रियधर्मं धर्मकालस्त्वयि लक्ष्मीमवसृज्य लक्ष्मभूते ।

स्थिरविक्रमं विक्रमेण धर्मस्तव हित्वा तु तु तु भवेद्धर्मः ॥३२॥

हे प्रियधर्म ! लक्ष्मणसमग्र तु भ एव लक्ष्मी ( राज्य ) सौपकर भेरा धर्म ( आचरण ) का काल ( आ गया ) है। हे स्थिरविक्रम ! पुराणार्थ से तुम्हें धर्म होगा । ( किन्तु ) पिता के त्याग से तो अधर्म हो जायगा ॥३२॥

तदिमं व्यवसायमुत्सृज त्वं भव तावभिरतो गृहस्थधर्मे ।

पुरुषस्य वयःसुखानां भुक्त्वा रमणीयो द्वि तपोवनप्रवेशः ॥३३॥

अतः तुम इस निश्चय को त्यागो और व्याप्त धर्म में उत्तर दोओ । युवावस्था का सुख भोग लेने पर मनुष्य का तपोवन में प्रवेश करना शामा देता है ॥३३॥

इति वाक्यभिदं निश्चय राज्ञः कलविङ्गस्वर उत्तरं वभाषे ।

यदि भे प्रतिभूत्वतुषु राज्ञ भवसि त्वं न तपोवनं अविद्ये ॥३४॥

राजा का यह वचन सुनकर कलविङ्ग ( पढ़ी का नाम ) के स्वर से उसने यह उत्तर दिया—हे राज्ञ ! यदि चार बातों में मेरे रक्त के बीच से भी वन का आश्रय न हूँ ॥३४॥

न भवेन्मरणात् जीवितं मे विहरेत्स्वास्थ्यभिदं च मे न रोगः ।

न च यीवनमाक्षिपेवरा मे न च सपत्निमिमां हरोद्विपत्तिः ॥३५॥

मेरा जीवन, मरण के लिये न हो, रोग, हमारे इस आरोग्य को न हरे, कुदापा, यीवन को चिकित्सा न करे और न विपत्ति मेरी इस सम्पत्ति, को हरे ॥

इति दुर्लभमर्थमृचिवांसं तनयं वाक्यमुवाच शाक्यराजः ।

त्वं बुद्धिमिमामविप्रवृद्धामवहास्योऽतिमनोरथोऽक्रमश्च ॥३६॥

इस तरह असमव बात को कहने वाले अपने पुत्र से शाक्यराज ने ५ दु० च०

कहा—कापिक वहीं नहो इस ज़ुब्द का भरियाग ल्हो । अलज्जद्व एवं अपाप्य  
कामना ( करने वालो ) का उपहास ( निष्ठा ) होता है ॥३५॥

अथ मेरुगुरुनुक वर्माये यदि नास्ति कम पण नास्ति वार्यः ।

शरसणावज्जलनेन दक्षामानान्न हि निश्चिकमिषुः कृमं गर्हानुम् ॥३६॥

तब मेरु सहज महाम् पुत्र ने कहा—यदि यह कम ( सम्भव ) नहीं है  
तो भी मुझे न छेड़िये; करोक कल रहे चर से भागने की इच्छा लाले को  
रोकना उचित नहीं है ॥३७॥

जगतश्च यदा भ्रुवो वियोगो ननु धर्माय वरं स्वयं वियोगः ।

अवरां ननु विश्वयोऽजयेन्मामकृतस्वार्थमतुप्रभेव सूलुः ॥३८॥

अथ कि विश्व से वियोग निवित है तो धर्माचरण के लिये स्वयं पृथक्  
हो जाना पर्याप्त में उत्तम है कर्मांक मूल्य, स्वार्थ ( मनोरथ ) को पूर्ण तुसि  
( विश्व संतुष्टि ) के लिया ही मुझे अवश्य पृथक् कर देंगे ॥३८॥

इति भूमिपतिनिश्चास्य तस्य व्यवसाये तनयस्य निमुक्तुः ।

अभिधाय न यास्यतीति भूयो विद्ये रक्षणमुत्तमांश्च कामान् ॥३९॥

निवार्गा की इच्छा वाले उस जातिज्ञ का ऐसा निहचय गुसाकर “नहीं  
जायगा ( वालक है, यों ही कहता है )”—भूमिपति ने ऐसा कहा और एने  
विशेष रक्षा तपा उत्तम विषय-भोगी का विधान किया ॥३९॥

सचिवैस्तु निदर्शितो यथावद् वहमानात्पण्याक्ष शास्त्रपूर्वम् ।

गुरुणा च निवारितोऽनुपासैः प्रविवेशावसर्थं ततः स शोचन् ॥४०॥

प्रधियो ने शास्त्रानुकूल आदर एवं प्रेमपूर्वक विधिवत् समझाया तथा  
पिता ने अभु वाले हुए ( पुत्र के ) रोका । वह शोक करते हुए उसने अपने  
महज मे प्रवेश किया ॥४०॥

चलयुक्तदक्षानुनिवाननाभिश्वेननिश्वासविहास्पतस्तनीमिः ।

वनिताभिरधीरलोकनाभिमृगशाकाभिरिवाभ्युदीद्यमाणः ॥४१॥

नेतृत्व कुरुदलो मे जिनके मुख नुनियत हैं, सान्द्र इवासोऽद्युक्षास से जिनके  
कान कीप रहे हैं जिनकी धौंसे दूरगायको के समान है ऐसी युतियों ने  
उसे देखा ॥४१॥

स हि काङ्क्षनपर्वतावदातो हृदयोन्मादकरो वराङ्गनानाम् ।

अवशाङ्गविलोचनात्मभावान्वचनस्पशांवपुरुगेऽर्जहार ॥४२॥

सुमेह पर्वत सदृश देवीप्यमान उस राजकुमार ने अेड़ सुखतियों के हृदय को उन्मत्ता कर दिया तभा अपने वचन, स्वर्ण, शरीर एवं गुच्छों से कमश्यः उनके अवश्य, शरीर, लोकन तथा आत्मभाव (रूपानिमान) हर लिये ॥४२॥

विगते दिवसे ततो विमाने वपुषा सूर्य इव प्रदीप्यमानः ।

तिभिरं विजिचांसुरात्ममासा रघुवर्णनिव मेनमानरोह ॥४३॥

तब दिन असत होने पर, शरीर से सूर्य सहश्र प्रकाशवान वह विमान आला ( महल के क्षयर का कमरा ) पर पहुँचा मानो उदित हुआ सूर्य अपने प्रकाश से अन्धकार को नष्ट करने की इच्छा से सुमेह पर पहुँचा हो ॥४३॥

कनकोऽज्ज्वलादीपदीपहृत्तं वरकालागुरुपूर्णोर्गर्भम् ।

अधिरुद्ध स वज्रभक्षिचित्रं प्रवर्त काङ्क्षनमासनं सिपेचे ॥४४॥

सूर्यो सदृश उज्ज्वल एवं प्रकाशमान दीपों के तुल ( फाड़ फालूल ) बाला उत्तम अग्रुद धूप ( सुगन्धि ) से परिपूर्ण गर्भ ( कल ) बाला ( वह ) उस चन्द्रशाला पर चढ़कर बज्र ( मणि ) के खण्डों से चिह्नित अेष्टु सिंहासन पर बैठा ॥४४॥

तत उत्तममुत्तमांगनास्तं निशि तूर्यकृपतस्तुरिन्द्रकल्पम् ॥

हिमवच्छिद्रसीव चन्द्रगोरे द्रविणेन्द्रात्मजमप्सरोगणीघाः ॥४५॥

तब रात्रि में इन्द्र सदृश उस उत्तम ( अेड़ ) के पास सुन्दर सुखतियों वाले गाढ़े के साथ उपस्थित हुएँ मानो चन्द्र से उज्ज्वल दिमशिलर पर भनापिप युध के पास अप्सराओं के मुराद आ पहुँचे हो ॥४५॥

परमैरपि दिव्यतूर्यकलपैः स तु तैर्नेव रति ययौ न हर्षम् ।

परमार्थसुखाय तस्य साधोरमिनिश्चक्षिप्ता यतो न रमे ॥४६॥

उन स्वर्णीय वालों के सदृश अेष्ट वालों से भी वह न तो तुल्य हुआ और न प्रसन्न ही । परमार्थ सुख के लिये उस ताषु को निकल मारने की इच्छा थी अतः रति नहीं हुई ॥४६॥

स्वयं तत्र सुरेष्टपोवरिष्टैरकनिष्ठैर्न्यैवसायमस्य उद्भवा ।

दुगपत्रमदाननस्य निद्रा विहितासीदिकृताश्च गात्रचेष्टा ॥४७॥

तब तपस्या से ऐड अकनिष्ठ ( बड़े ) देवों ने उसका निवित अभिप्राय लानकर वहाँ सब प्रमदाओं को एक साथ निरित तथा उनकी गात्रचेष्टाओं को विहृत कर दिया ॥४८॥

अभवन्धयित । हि तत्र काञ्चिद् विनिवेश्य प्रचलो करे कपोलम् ।

द्वियतामपि रुक्मिपत्रचित्रां छुपितेवाङ्गतां विहाय वीणाम् ॥४९॥

वहाँ कोइ नहीं, नद्यान हयेलो पर गाल रखकर, मानो कुपित होकर स्वर्ण पत्र से मटो प्रिय वीणा को गोद में ही लौहकर सो गई थी ॥४९॥

विवर्मी करलग्नवेगुरन्या स्तनविन्द्रस्तसितांशुका शवाना ।

छञ्जुष्टपदपङ्गिजुष्टपदा बलफेनप्रहसन्तदा नदीव ॥५०॥

एक अन्य लो, हाथ ने बांसुरी लिये थी उसके लक्ष पर से शुभ्र बल सरक गया था, वह सोतो तुड़े ऐना सुन्दर लगी जैसे सीधी भ्रमरपंक्ति में सेवित दगद-गुल कमलबालो, बलफेन की ( उच्चबलता से ) मानो हँस रही तटबाली नदी हो ॥५०॥

नवपुष्करगर्भकोमलाम्यां तपनीयोउज्ज्वलसंगताङ्गशाम्याम् ।

स्वपिति स्म तथापरा भुजाम्यां परिरभ्य ग्रियवन्मृदङ्गमेव ॥५०॥

एक और दूसरी, नवीन कमल के हृदय के समान कोमल सुवर्णमय उज्ज्वल पदं सुडोल अङ्गद ( केयूर ) वालो भुजाओं से ही प्रियतम की तरह मृदंग का ही आलिङ्गन करके सो गई ॥५०॥

नवहाटकभूषणास्तथान्या वसनं पीतमनुचामं धसानाः ।

अवशता यननिद्र्या निषेतुर्गंतभग्ना इव कर्णिकाशशाखाः ॥५१॥

तद्वत्, स्वर्ण के नवे भूषणों से भूषित एवं उच्चम पीले बल शारण किये, कुछ अन्य लियों गान् निद्रा के अधीन होकर, हाथी ढारा तोड़ी गई कनेर की शाला नहरा यिही ॥५१॥

अवलम्ब्य गवाङ्गपारखेमन्या शविता चापविभुग्नग्रवयष्टिः ।

विरराज विलम्बित्वारुहारा रचिता सोरणशालभजिकेव ॥५२॥

लभ्यावमान सुन्दर हार पहिने हुए, भनुप के समान मुके कामदेववाली एक अन्य लोगवाले की वाज, के साहारे सोती हुई इस प्रकार शोभित हुई मानो तोरण ( बहिंद्रं ) पर ( निमित ) कठपुतली हो ॥५३॥

मणिकुण्डलादृष्टपत्रलेख मुखपद्मं विनतं तथापरस्याः ।

शतपत्रमिवार्धवक्तनादं स्थितकारहडवधृतं चकारो ॥५३॥

उसी तरह सोई हुई एक अन्य-लोगी का, मुक्ता हुवा एवं मणिवटित कुरड़ला से घिस रहे पश्चरचनावाला सुखमल—आपा मुक्ता नालवाला, बैठे हुए कारहडव ( पहां ) से उंधरित कमल सदृश चमक रहा था ॥५३॥

अपरा: शमिता यथोपविष्टा: स्तनभारैरवनम्यमानगात्राः ।

उपराह्य परस्परं विरेजुभुजपाशैस्तपनीयपारिहार्यः ॥५४॥

स्तनों के भार से नम्म गालवाली तुच्छ अन्य लियाँ त्वरणं केक्ष्य युक बाहुन्याशों से एक दूसरे को पकड़े, बैठो-बैठो सोसो हुई बहुत ही सुन्दर प्रीत हुई ॥५४॥

महतीं परिवादिनों च काचिद्विनितालिङ्गम् सत्तीमिव प्रसुपा ।

विलुधूणि चक्रत्सुवर्णसूत्रा वदेनेनाकुत्तयोक्त्रकेण ॥५५॥

चक्रल मुखर्णसूत्र ( करघनी ) वाली एक कोई बनिता, बहुत छोटी बीणा का, सर्वी के समान आलिङ्गन किये हुए, शोती हुई विचित्र योक्त्र ( प्रमामणदल ) युक भुल से मानो घम ( चक्कर ला ) रही हो ॥५५॥

पणवं युवतिर्भुजांसदेशादविक्ष्यसितचारपारामन्या ।

सविलामरतान्तवान्तमूर्वांविवरं कान्तमिवाभिनीय शिष्ये ॥५६॥

एक अन्य युक्ती, मुक्ता के अंस ( कम्पा ) प्रदेश से गिर गई ढोरीपाला यथाव ( सारंगी ) को सोन्माद रति कोडा के झन्त में शिपिल पति की तरह दोनो वाचो के बीच लेकर सोई थी ॥५६॥

अपरा वभुवुर्निमीलिवाद्यो विपुलाद्योऽपि शुभभ्रुवोऽपि सत्यः ।

प्रतिसद्विनितारविन्दकोशाः सवितर्यस्तमिते यथा नलिन्यः ॥५७॥

दूसरी लियाँ विशालनवनी एवं सुन्दर बहुदीयवाली होने पर भी, आँखें

नन्द हो जाने पर, सूर्य के अस्त होने पर, चारों ओर से लिकुडे हुए कमल की उपवासी कमलिनियों की माँति हो गई थी ॥५७॥

शिथिलाकुलभूर्णजा तथान्या बघनन्त्रस्तचिभूषणांशुकान्ता ।

अशयिष्ट विकार्त्तिकरणम् वा गवमना प्रात्यातनाङ्गनेव ॥५८॥

ऐसा शिथिल एवं चिकित है, जो पर भूषण ( करधनी ) तथा गव के छोर ( बन्धुज ) सरक गये हैं, गले के हार ( मणियों ) चिकित गये हैं—ऐसी अन्य दिवायां इस प्रकार सो रही थीं जैसे दाढ़ी डारा तोड़ी गई खी की पतिमा हो ॥५८॥

अपरास्त्ववदा दिवा विशुका धृतिमत्वोऽपि वपुगुणैरुपेताः ।

विनिश्चयसुखलबण्यं शयाना विकृताः विप्रमुजा बजृमिमरे च ॥५९॥

अन्य खियां, घोरब तथा शर्यर के गुणों ( रूपों ) से सम्प्रभ होने पर मो निद्रालभ होने के कारण लज्जारहित, देवो-भेदी तथा मुवाञ्चों को पैलाकर सोतो हुई फूकार सांझे एवं जंभाहर्यां ले रही थीं ॥५९॥

न्यपतिद्विभूषणम्भजोऽन्या विसृतमन्धनवाससो विसंज्ञाः ।

अनिमीतितशुक्लानिष्ठलाङ्घो न विरेजुः शापिता गतासुकलपाः ॥६०॥

भूषण एवं मालाएं अलग हो गये हैं, वस्त्रों की गाँठे खुल गई हैं—ऐसी कुछ अन्य खियां जिनके संकेत एवं निष्ठल नेत्र खुले रह गए हैं, ( वे ) वेशेश सोती हुई शब ( मुरदे ) के समान शोभित नहीं हुईं ॥६०॥

विकृतास्त्वयुदा विकृदगात्री प्रपतद्वक्त्रजला प्रकाशगुला ।

अपरा मदन्तुर्यितेव शिष्येन वमसे विकृते वपुः पुषोष ॥६१॥

अन्य एक जो जिसका मुख पुट थुला था, उसीर मुला था, मुख से लार ढपक रही थी, शुक्र इन्द्रियों दोनों रही थी, वह मतवाली थी तरह सोनेवाली शोभा नहीं पा रही थी ( ज्योकि ) उसका शरीर लिकराल था ॥६१॥

इति सत्त्वकुलानवयानुरूपं विविधं स प्रसदाजनः शयानः ।

सरसः सहस्रं वभार रूपं पश्चात्विसकाण्यपुण्डरस्व ॥६२॥

इस प्रकार प्रहृति, कुल एवं वंश के अनुरूप विविध प्रकार से सो रही

उन लोगों ने पवन से विक्षिप्त एवं मुरझाये कमल युक्त लटोबर के लद्धा  
हस्य उपरिषत किया ॥६२॥

समवेद्य तथा तथा शयाना विकृतास्ता युक्तीरवीरचेष्टाः ।

गुणावद्गुणोऽपि वल्गुभाषा नृपसूनुः स विगर्हयांवभूव ॥६३॥

यद्यपि उनके शारीर सुन्दर थे, एवं वाणी मधुर थी, तथापि इस प्रकार से  
सोने के कारण उनकी आहुतियाँ विकृत एवं चेष्टाएं चश्चल थी, जिन्हें देखकर  
उस राजसूनु ने निन्दा की ॥६३॥

अशुचिविकृतश्च जीवलोके वनितानामयमीदृशः स्वभावः ।

वसनाभरणौस्तु वद्यव्यमानः पुरुषः ऊर्ध्विषयेषु रागमेति ॥६४॥

इस संसार में वनिताओं का ऐसा विकराल तथा अपवित्र स्वभाव है  
तथापि वस्त्रभूषणों ( कृष्ण गुणों ) ने वज्रित पुरुष, जिन्होंने विषय में राग  
करता है ॥६४॥

विमुशेश्वदि योगितां मनुष्यः प्रकृतिं स्वप्नविकारमीदृशं च ।

प्रवमन्त्र न वर्धयित्रमादं गुणसंकल्पहतस्तु रागमेति ॥६५॥

यदि मनुष्य जिन्होंने के ऐसे स्वभाव तथा स्वप्नविकार का विचार करे तो  
यथार्थ में आनंदी भूल को आगे न बढ़ने दे । किन्तु जिन्होंने सीन्द्रयं है—  
ऐसा संकल्प करने ते ही उनमें राग करता है ॥६५॥

इति तस्य तदन्तरं विशित्वा निशि निषिक्रमिषा समुद्रभूव ।

अवगम्य मनस्ततोऽस्य देवैर्भवनद्वारमपावृतं चमूव ॥६६॥

इस प्रकार यह आनंदरिक रहस्य चानकर, उसको इच्छा, रात्रि में ही  
निकल भागने की हुई । तब उसका मानसिक भाव समझकर देवों ने द्वार  
लोक दिये ॥६६॥

अथ सोञ्चततार हर्म्यंगुष्ठायुवनीस्ताः शयिता विगर्हमाणः ।

अवतीये ततश्च निर्विशङ्को गृहकर्त्त्यां प्रथमां विनिजगाम ॥६७॥

तब सो रही उन जिन्होंने की निन्दा करता हुआ, महल के करी मार से  
वह उत्तरा श्रीर निर्वाक वहाँ से उत्तर कर भवन के प्रथम कक्ष में निकला ।

तुरगावचरं स शोधयित्वा जयिनं छन्दकमित्यमित्युवाच ।

हृषमानय कन्यकं त्वरत्वानसृतं प्राप्तुमितोऽव मे यियासा ॥५३॥

शीघ्रगामी 'छन्दक' नामक अश्वस्त्रक को जगाकर उसने ऐसा कहा—  
इत्यगामी कन्यक अदृश को शीघ्र लाओ, मोह पाने के लिये आज यहाँ से  
जाने की मेरी इच्छा है ॥५३॥

इदि या मम तुष्टिरथ जाता व्यवसायश्च यथा मतौ निविष्टः ।

विजनेऽपि च नायवानिवास्मि भ्रुबमर्थोऽभिमुखः समेत इष्टः ॥५४॥

आज मेरे हृषय मे जो तुष्टि हुई है और बुद्धि मे जिस प्रकार निर्धित  
गारण्या जम गई है, तथा निर्बन्म मे भी सनाय सहशा है, अतः अवश्य मेरा  
अभीष्टापि सम्मुख आ गया है ॥५४॥

ह्रियमेव च संनतिं च हित्वा शयिता मत्यमुखे यथा युवत्यः ।

विचृते च यथा स्वर्णं कपाटे नियर्तं यातुमतो ममाद्य कालः ॥५५॥

जगा एवं सरलता को छोड़कर छिपाये जिस प्रकार हमारे सन्मुख सो गई  
और जिस प्रकार दरवाजे अपने आप खुल गये, अतः निर्भय ही आज यहाँ  
से जाने का मेरा समय आ गया है ॥५५॥

प्रतिगृह्ण ततः स भर्तुराङ्गो विदितार्थोऽपि नरेन्द्रशासनस्य ।

मनसीवं परेण चोद्यमानस्तुरगस्त्वानयने मति चकार ॥५६॥

तथा नरेन्द्र के आदेश का ज्ञानिप्राय जानते हुए भी स्वामी (राजकुमार)  
की आङ्गी स्वीकार कर, उसने किसी अन्य से मन मे प्रेरित किये जाने की  
कठह, अश्व लाने के लिये मन किया ॥५६॥

अथ हेमस्तलीनपूर्णवन्कं लघुशश्यास्तरणोपगृहपृष्ठम् ।

बलसस्त्वज्जवान्वयोपपञ्चं स वराश्च तमुपानिनाय भर्ते ॥५७॥

अनन्तर 'उसने' ऐसा बल, साहस, वेग एवं बंश ने समझ भेड़ बोड़ा  
स्वामी के लिये लाया जिसके कि मुँह मे स्वर्ण की लगाम एवं पीठ पर कोमल  
बोन तथा झूल करे दे ॥५७॥

प्रदत्तविकपुरुच्छमूलयापिणी निश्चृतहस्तवनूवमुच्छकरीम् ।

विजनोभतपृष्ठहुङ्गिपास्वं विपुलप्रोथललाटकन्त्रुरस्कम् ॥५८॥

उस घोडे की गोद, पूँछ का मूल तथा एकियाँ फैली थीं, बाल पूँछ एवं  
कान निश्चल और लोटे थे। पीठ, पेट और बगल नरोन्नत ( चदाव उतार ) वे  
एवं ग्रीष्म ( मुखाम ) ललाट, कटि और बद्धस्थल विशाल हैं ॥७३॥

उपगुण स तं विशालवच्छाः कमलाभेन च सान्त्वयन् करेण ।

मधुराद्वरया गिरा शशास च्वजिनीमध्यमिव प्रवेष्टुकामः ॥७४॥

उस चौड़ी ज्ञाती धाके ने कमल सहश कोमल हाथों से उसे स्पर्श करके  
मधुर अच्छरयुक्त वाणी से सम्बोधन करते हुए ऐसा अदिश दिया मानो शक्ति  
सेना के मध्य प्रवेश करना चाहता है ॥७४॥

बहुशः किञ्च शप्रबो निरस्ताः समरे त्वामधिकां पायिवेन ।

अहमप्यासृतं पदं यथावत् तुरसशेष्व लभेय तत्कुरुष्व ॥७५॥

हे तुरस ओढ़ ! तुम पर चढ़कर राजा ने समर में बहुत बार शत्रुओं को  
जीता है । मैं भी विजिवत् मोक्षपद, वैसे पा सकूँ वैसः करो ॥७५॥

सुलभाः खलु संयुगे सहाया विषयावाप्तसुखे धनाज्जने वा ।

पुरुषस्य तु दुर्लभाः सहायाः पतितस्यापदि धर्मसंश्रये वा ॥७६॥

निष्ठय ही, संग्राम में, विषयजन्य सुख में तथा धन अवलाय में सहायक  
सुखम होते हैं किन्तु आपसि में गिरने पर तथा धर्म का आभय लेने पर पुरुष  
के सहायक दुर्लभ हैं ॥७६॥

इह चैव भवन्ति ये सहायाः कलुपे कर्मणि धर्मसंश्रये वा ।

अवगच्छ्रुति में यथान्तरात्मा नियर्तं तेऽपि जनास्तदंशभाजः ॥७७॥

इस लोक में, पाप धर्म करने में और पुरुष कर्म का आभय लेने पर जो  
सहायक होते हैं, मेरी अन्तरात्मा जहाँ तक समझती है कि वे लोग भी उस  
( पाप-पुरुष ) के झंश के मार्गदार अवश्य होते हैं ॥७७॥

तदिदं परिगम्य धर्मयुक्तं मम निर्याणमिति जगद्विताय ।

तुरगोचरम् वेगविक्रमाभ्यां प्रवतस्यात्महिते जगद्विते च ॥७८॥

अतः मेरा यहाँ से निकलना जगत् द्वित के लिये एवं धर्मयुक्त यमकर,  
हे तुरगभेड ! स्व = द्वित तथा जगत्के द्वित के लिये वेग और पराक्रम से प्रयत्न  
करो ॥७८॥

इति सुहृदमिवानुशिष्यं कृत्ये तुरगच्छं नुवरो वनं विद्यासुः ।  
सितमसितगतिश्चित्तर्थपुष्पमान् रविरिव शारदमञ्चमानशोह ॥७६॥

इस प्रकार वन जाने की इच्छा से नरथेषु, कुमार ने उस उच्चम अथ ले कर्त्तव्य लभे का, सिव के समान उपदेश दिया और उच्चल मति एवं वृत्तिवाला वपुष्पमान् राजकुमार सफेद धोके पर इस प्रकार चढ़ा जैसे शरदकालीन भेद पर तूर्ण ॥७६॥

अथ स परिहरणिशीधच्छरहं परिजनघोषकरं अवनि सदध्यः ।

विगतहनुरवः प्रशान्ताहु पश्चकितविमुक्तपद्कमो जगाम ॥८०॥

तब वह सातु-अरव, राजिकालिङ्ग भयंकर तथा परिवनो को जगानेवालो अभिनि को रोकता हुआ, इनु के स्वर बचाता हुआ एवं हिनहिनाइट शान्त किये, जंचलता त्वाग कर, डग स्वता हुआ चला ॥८०॥

कनकबलयभूषितप्रकोण्ठैः कमलनिमैः कमलानिव्र प्रविष्य ।

अवनततनस्वस्तवोऽस्य यज्ञाप्रकितगतेऽधिरे सुरान् करामैः ॥८१॥

तब यद्दो ने गारीर कुकाकर, स्वर्य-कङ्कण से भ्रूपत, जंचल गति बले कमल के समान हाथो के अप्र माम से उस अरव क कमल सदृश खुरे को याम लिये; मानो कमल खिला रहे हो ॥८१॥

गुरुनरिधकपाटसंवृत्ता या न सुखमपि द्विरदैरपात्रियन्ते ।

ब्रजति नृपसुते गतस्वनास्ताः स्वयमभवन्विवृताः पुरः प्रतोल्यः ॥८२॥

विशाल एवं विश्वोऽयं नगर बहिद्वार, जो द्वि हाथियो से भी सरलतापूर्वक नहो खुलते थे, वे राजकुमार के परिवर्ग (जाने) पर स्वर्य शब्द गहित खुल गये पितरमधिमुखं सुतं च बालं बनमनुरक्तमनुचमां च लक्ष्मीम् ।

कृतमतिरप्याग निव्यपेषुः पितॄनगरात्स ततो विनिर्जिगाम ॥८३॥

हट रङ्गलय प्रव निरपेक्ष होकर वह आनुकूल पिता थे, यित्रु पुत्र को, अमुरक लोगो को एवं उच्चम लङ्घनी को होकर उस पिता के नगर से निकल पड़ा ॥८३॥

अथ स विमलापक्षजायताहः पुरमवलोक्य ननाद सिहनावम् ।

जननमरणयोरदृष्टपारो न पुरमहं कपिलाहुसं प्रवेष्टा ॥८४॥

अनन्तर विमल कमल के समान विपुल नयन उसने नगर की ओर देखकर सिहनाद करते हुए कहा—“अन्य एवं मूल्य का अन्त देखे बिना इस कापिलवस्तु नामक नगर में प्रवेश नहीं कर्वा” ॥८३॥

इति वचनभिदं निशम्य तस्य द्रविणपतेः परिषद्गणा ननन्दुः ।

प्रसुदितमनसत्र देवसंघा व्यवसितपारशामाशासिरेऽसमै ॥८४॥

इस प्रकार उसकी बात सुनकर कुबेर के समासद् प्रसन्न हुए एवं मफुजिव चित्त देव-समुदाय ने उसका मनोरथ सिद्ध करने का संकल्प किया ॥८५॥

हुतवहवपुषो दिवौकसोऽन्ये व्यवसितमस्य सुदुष्करं विदित्वा ।

अकृपत तुहिने पर्थि प्रकाशं घनविवरप्रसृता इचेन्तुपादाः ॥८६॥

उसके अस्पन्त, दुःसाध्य एवं निश्चित अभिप्राय को जानकर, कृष्ण अन्य देवो ने, अग्नि रूप धारणा करके उसके वर्णलि मार्गे में उसी तरह प्रकाश किया जैसे मेघों के छिद्र में प्राणह होकर चन्द्रमा की किरणेः ॥८६॥

हरितुरगतुरज्ञवत्तुरज्ञः स तु विचरन्मनसीव चोद्यमानः ।

आहुप्रपत्तारमन्तरिक्षं स च सुवहूसि जगाम योजनानि ॥८७॥

इति श्री अश्वघोषकुते पूर्ववृद्धचरितमहाकल्पे

आभिनिष्ठमणी नाम पञ्चमः सर्गः ।

सूर्य के थोड़े के समान वह थोड़ा मानो किसी के द्वारा मन में प्रेरणा पाता हुआ चला जा रहा था और वह कुमार, सूर्य की किरणों से आकाश के तारे मलिन नहीं हो पाये तब तक वहूंस योजन दूर निकल गया ॥८८॥

पूर्ववृद्धचरितमहाकाल में आभिनिष्ठमणी नामक

पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ षष्ठः सर्गः

छुन्दक-निवर्तनः

छुन्दक विसर्जन

ततो मुहूर्ताभ्युपि जगच्चतुषि भास्करे ।

भार्गवस्थाश्रमपदं स ददर्श नृणां वरः ॥१॥

तब नरो मे लेषु उस राजकुमार ने कुल मुहूर्त मे विश्व-चतुषि भास्कर के उद्दित होने पर भागीव वा आश्रम देखा ॥१॥

सुप्रविश्वस्तहरिणं स्वस्थस्थितविहरगमम् ।

विश्वान्त इव यद् हृष्टा कृतार्थ इव चाभवत् ॥२॥

हरिण, विश्वस्त (परिचित) की तरह सो रहे थे, पक्षी शान्त मैठे वे—  
ऐसे उस आश्रम को देखकर वह मानो कृतार्थ होकर अमरहित-सदृश हो गया ॥२॥

स विस्मयनिकृत्यर्थं तपःपूजार्थमेव च ।

स्वां चानुवर्तितां रक्षभश्पृष्ठादवातरत् ॥३॥

अपना अभिमान त्यागने के लिये, एवं तपस्या का आदर करने के लिए  
आपने आनन्दरथा की रक्षा करते हुए वह अश्व-पृष्ठ से उतरा ॥३॥

अवतीर्थं च पस्पर्शी निस्तीर्णमिति वाचिनम् ।

छुन्दक चापवीतीवः स्नापयन्तव चतुषा ॥४॥

उतर कर वाचि (धोके) को सहराया एवं कहा—“तुमने पार कर दिया”  
एवं स्निग्ध होकर से मानो सेचन करते हुए प्रसन्न होकर छुन्दक से कहा ॥४॥

इनं ताङ्गोपमजवं तुरज्जमनुगच्छता ।

दर्शिता सौन्ध मद्भक्तिविकलायमात्मनः ॥५॥

हे सौम्य ! गणह तुल्य द्रुतगामी इस लोडे के पीछे चलकर हमने मुझमें  
भक्ति एवं अपना यह पराक्रम दिलाया ॥५॥

सर्ववास्त्वयन्यकार्योऽपि गृहीतो भवता हृवि ।

भर्तुस्नेहश्च वस्त्वायमीदृष्टः शक्तिरेव च ॥६॥

यथापि मैं सर्वथा अन्य कार्य-रत हूँ किन्तु जिसकी स्वामिभक्ति तथा  
शक्ति भी इस प्रकार की है—ऐसे आप ने मेरे हृदय में ग्रहण ( निवास )  
पाया है ॥६॥

अस्तिनग्धोऽपि समार्थोऽस्ति निःसामर्थ्योऽपि भक्तिमान् ।

भक्तिमार्चनैव शक्तश्च दुर्लभस्त्वद्विधो भुवि ॥७॥

मक्तिहीन ज्ञातमी भी समर्थ होता है, सामर्थ्यहीन भी भक्तिमान होता  
है किन्तु तुम सदृश भक्तिमान् एवं समर्थ भी पृथ्वी पर दुर्लभ है ॥७॥

तलीतोऽस्मि तवानेन महाभागेन कर्मणा ।

यस्य ते मयि भावोऽयं फलेभ्योऽपि पराक्षुखः ॥८॥

आतः तुम्हारे इस महान् फलवान् कर्म से मैं सन्तुष्ट हूँ। मेरे प्रति तुम्हारा  
यह भाव फल कामना से रहित है ॥८॥

को जनस्य फलस्थस्य न न्याद्यमिगुच्छो जनः ।

जनीभवति भूचिष्ठं स्वजनोऽपि विपर्यये ॥९॥

फल देने में समर्थ व्यक्ति का आज्ञावशवत्ती कौन नहीं होगा ? ( अथान्  
सब होते हैं ) इसके विपरीत ( अकिञ्चन व्यक्ति ) में स्वजन भी ज्ञात्यन्त  
साधारण जन के समान हो जाता है ॥९॥

कुलार्थं धार्यने पुत्रः पोषार्थं सेव्यते पितः ।

आशयास्त्रिलक्ष्यति जगन्नास्ति निष्कारणाम्बवता ॥१०॥

वंश की रक्षा करने के लिये पुत्र का पात्रन होता है। पोषण के लिये  
पिता को सेवा की जाती है। आशय से ही जगत् एक दूसरे से भेल-बोल  
रखता है। विना हेतु के निजपना ( अपनत्व ) नहीं ॥१०॥

किमुक्त्वा वहु संचेपात्कृतं सुमहत्वियम् ।

निवर्त्तस्वाशवमादाय संप्राप्नोऽस्मीक्षितं पदम् ॥११॥

अधिक भृत्ये से कृपा लान ? संक्षेप में यहो कि तुमसे मेरा महान् प्रिय किया । अरव लेकर लौट जाओ । मैं बोल्हत स्थान पर आ गया हूँ ॥१३॥

इत्युक्त्वा स महावाहुर्तुशास्त्रचिकीर्णवा ।

भृत्यगणन्यवमुच्यास्मै संतप्तमनसे ददी ॥१२॥

इतना लहर उस महावाहु ने प्रसुत्यार करने की इच्छा से अपने सब भूषण उत्तराखण उस पियाद ( दुख ) करने वाले को दे दिये ॥१३॥

गुजुदाद्वीप कर्माणुं मणिमावाय मास्वरम् ।

त्रूक्त्वाक्यमिदं तस्यौ सादित्य इव मन्दरः ॥१४॥

दीपक का काम करने वाली एक तेजस्वी मणि, मुकुट में से लेकर, यह वचन लहते हुए दूर दूर सहित मन्दराचल के सदृश मुरोमित हुए ॥ ३॥

अनेन मणिना द्रन्द प्रशम्य चहुशो दुपः ।

विज्ञाप्योऽगुक्तिविभूम्भं संतापत्तिनिचृत्ये ॥१५॥

ऐ शम्दक ! इस मणि से शारा को धारम्यार प्रणाम करते हुए, उनके शोक निवारण के लिये अमुक्त विभूम्भ ( जिसमें आशा न रही ही ) ऐसा ( वक्ष्यमाण ) यह सन्देश कहना ॥१५॥

वरामरणानाशार्थं प्रविष्टोऽस्मि तपोवनम् ।

न खलु स्वर्गतर्पणं नास्नेहेन न मन्युना ॥१५॥

शार्थ में स्वर्ग की तुष्णा से नहीं और न वैराग्य तथा क्रोध से, ( अपितु तेवल ) वरा-मरण नाश के लिये ही हैं तपोवन में आया हूँ ॥१५॥

तदेवमभिनिष्कान्तं न मां शोचितुमहंसि ।

भूत्वापि हि चिरं श्लोणः कालेन न भविष्यति ॥१६॥

अतः इस प्रकार निकलने वाले मेरे लिये शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि अनन्त काल तक संयोग होने पर भी काल आने पर नहीं रहेगा ॥१६॥

भ्रुवो यस्माच विश्लेषस्तस्मान्मोक्षाय मे मतिः ।

विप्रयोगः कर्थं न स्थाद भ्रुवोऽपि स्वजनादिति ॥१७॥

कथोकि विषेश मुख है अतः मोक्ष पाने का मेरा विचार है जिसमें फिर कभी स्वजनों से विषेश न हो ॥१७॥

**शोकत्यागाय निष्कान्तं न मां शोचितुमहसि ।**

**शोकहेतुषु कामेषु सत्ताः शोक्यात्तु यगिणः ॥१८॥**

शोक त्यागने के निष्कान्ते पाले मेरे लिये शोक करना योग्य नहीं है । शोक के कारणाभृत विषयों में खात्तने रागी गुरुव ही शोनने योग्य है ॥१८॥

**अथं च किल पूर्वेषामस्माकं निष्क्रियः स्थिरः ।**

**इति दायाद्यभूतेन न शोच्योऽस्मि पथा ब्रजन् ॥१९॥**

यह तो हमारे पूर्वजों का हद निष्क्रिय ( तप करना कप ) है अतः इस पैतृक ( परम्परागत ) मार्म से चलते हुए मैं शोक करने योग्य नहीं हूँ ॥१९॥

**भवन्ति शार्दूलायादाः पुरुषस्य विपर्यये ।**

**पृथिव्यां घर्मदायादाः दुर्लभास्तु न सन्ति वा ॥२०॥**

विपर्यय ( बदल जाने या मर जाने ) में शार्दूलायाद ( घर्म-घर्मजि ) के उत्तराधिकारी होते हैं ( किन्तु ) इस गृणी पर घर्मदायाद ( घर्म के उत्तराधिकारी ) दुर्लभ है अभवा नहीं ही है ॥२०॥

**यदपि स्यादसमये यातो वनमसाविति ।**

**अकालो नास्ति घर्मस्य जीविते चञ्चले सति ॥२१॥**

नव्यपि यह कहा जा सकता है कि यह असमय में वन गया है, तो जीवन चञ्चल ( चूष-मंगुर ) होने से घर्म का काल निर्धारित नहीं है ॥२१॥

**तस्माद्यैव मे श्रेयस्तेतत्यमिति निष्क्रियः ।**

**जीविते को हि विश्वम्भो मृत्यौ प्रत्यर्थिनि स्थिते ॥२२॥**

अतः इसी ही ( मुखवस्था में ) कल्पाया का संग्रह करने का मैंने निश्चय किया है । मृत्यु रूप प्रतिपद्धी के रहते, जीवन में क्या विश्वास ।

**एवमादि त्वया सौम्य विज्ञाप्यो वसुधाविमः ।**

**प्रवतेयास्तथा चैव त्वया मां न स्मरेदपि ॥२३॥**

हे सीम ! इसी प्रकार को और मी अन्य जाते तुम राजा से कहना और  
ऐसा प्रयत्न करना कि जिससे मेरा समरण भी न करे ॥२३॥

अपि नैर्गुण्यमस्माकं वाच्यं नरपतेऽत्यया ।

नैर्गुण्यात्पञ्चते स्नेहः स्नेहत्यागान्न शोक्यते ॥२४॥

और तुम राजा से हमारी निरुगाता ( निहरता-देह ) मी बताना । दोष  
के कारण स्नेह छुट जाता है ( तभा ) स्नेहत्याग से शोक नहीं होता है ॥२५॥

इति वाच्यमिदं अत्या छन्दः सन्तापविकलः ।

वाच्यप्रथितया वाचा प्रत्युत्तात् कृताङ्गिः ॥२५॥

ऐसे वचन सुनकर, संताप से व्याकुल छन्दक ने अभ्युपसित ( मदगद )  
वाची से अङ्गिलि बांधकर उत्तर दिया ॥२६॥

अनेन तत्र भावेन वान्धवायासदायिना ।

भर्तः सीद्वति मे चेतो नदीपद्म इव द्विषः ॥२६॥

हे स्वामिन् ! अनुष्ठान को कष देने वाले आपके इस भाव ( विचार ) से,  
नदी के कीरण में ( कंसकर ) हाथी की तरह मेरा मन व्यथित  
ही रहा है ॥२६॥

कस्य नोत्पादयेद् वाच्यं निश्चयस्तेऽयमीदशः ।

अयोमवेऽपि हृदये किं पुनः स्नेहविकलवे ॥२७॥

आपका यह इस प्रकार का निश्चय किसके लोहमय ( कठिन ) हृदय में  
भी शोक उत्पन्न नहीं करेगा ? ( किर ) स्नेहविकल ( हृदय में ) की तो वाक  
ही क्या है ? ॥२७॥

विमानशायनाहै दि सौकुमार्यमिदं क्वच च ।

स्वरदर्भाकूरवर्णी तपोवनमही क्वच च ॥२८॥

कहाँ विमान ( चन्द्रशाला ) की शैल्या के योग्य यह कोमलता, और  
कहाँ छठोर कुण ( लिङ्घण कुण ) के अङ्गुष्ठे वाली तपोवन की भूमि ॥२८॥

अत्या तु व्यवसायं ते यदर्शोऽत्रं मत्याहृतः ।

वकात्कारेण तन्नाथ देवेनैवास्मि कारितः ॥२९॥

हे नाथ ! आपका निश्चय मुनकर मैं भी यह अस्त्र लाया, वह सो बल-  
पूर्वक दैव के द्वारा मुझसे करवाया गया ॥२६॥

कथं हात्मवशो जानन् त्यक्षसायमिमं तत्र ।

उपानयेयं तुरगं शोकं कपिलवास्तुनः ॥२०॥

यदि मैं अपने आभोन होता तो आपका यह कर्त्तव्य-निश्चय जानका हुआ  
भी कपिलवास्तु के रोकन्हस्त अस्त्र को कैसे लाता ॥२०॥

तन्नार्हसि महाकाहो विहार्तुं पुत्रलालसम् ।

स्तिर्घं बृह्मं च राजानं सद्गर्मिव नास्तिकः ॥२१॥

आतः हे महाकाहो ! पुत्र में उत्कृष्टित प्रेमी एवं बृह्म राजा ( पिता ) को  
आप उस प्रकार न छोड़ें जिसप्रकार कि नास्तिक सद्गर्म को छोड़ता है ॥२१॥

संवर्धनपरिश्रान्तां द्वितीयां तां च मातरम् ।

देवीं नार्हसि विस्मृतुं कृतज्ञ इव सत्कियाम् ॥२२॥

पालम पापण को सेवा के शिखिल उत्त दूररी देवी माता ( विमाता ) को  
आप जैसा नहीं भुलावे जैसा कृतज्ञ सत्कार भुला देता है ॥२२॥

यालपुत्रां गुणवतीं कुलश्लाघ्यां पतित्रताम् ।

देवीमहर्सि न त्यक्तुं बलीचः प्राप्नामिव अियम् ॥२३॥

जिसका पुत्र अर्भा छोटा है तथा गुणवता भेष्ट कुलोद्वा पतित्रता देवी  
( वशोघरा ) को जैसा नहीं लौड़ना चाहिये, जैसा कि निश्चयमीं आई हुए  
कुम्हचि को त्यागता है ॥२३॥

पुत्रं याशोधरं श्लाघ्यं वशोधर्मभृतां वरम् ।

बालमहर्सि न त्यक्तुं त्यसनीवोत्तरं यशः ॥२४॥

यश और भर्म भारण करने वालों में भेष्ट एवं प्रशंसनीय, यशोधरा का  
वह याल-पुत्र ( राहुल ) को जैसा नहीं त्यागना चाहिये जैसे व्यसनी उत्तम  
यश को त्यागता है ॥२४॥

अथ बन्धुं च राज्यं च त्यक्तुमेव कृता मस्तिः ।

मां नार्हसि विभी त्यक्तुं त्यत्यादी हि गतिर्मम ॥२५॥

यदि आपने बन्हु एव गत्वा को स्पाग्ने का निश्चय ही किया है तो भी  
मुझे न ल्याने । आपके चरणों में ही मेरी राति है ॥३५॥

नास्मि यातुं पुरं शक्तो वहामानेन चेतसा ।

त्वामरत्वे परित्यज्य सुमन्त्र इव राथवम् ॥३६॥

राथव की वन में होइकर तुमन्त्र को माँति, आपको यही छोड़कर संताप  
चित्त से नगर को जाने जे, मैं समर्थ नहीं हूँ ॥३६॥

कि हि वद्यति मां राजा त्वद्वते नगरं गतम् ।

वद्याम्युचितदर्शित्वात्किं तवान्तः पुराणि वा ॥३७॥

तुम्हारे बिना नगर में जाने पर राजा क्या कहेंगे ? और आपको इस  
यथार्थ रूप में देखने के कारण मैं अन्तःपुर (रानियों) को क्या  
कहूँगा ॥३७॥

यदप्यात्थापि नैरुर्यं वाच्यं नरपताविति ।

कि तद्वद्याम्यभूतं ते निर्दोषस्तु मुनेरिव ॥३८॥

यथापि आपने कहा कि राजा से मेरी निर्गुणता कहना, तो भला मुनि  
सहज निर्दोष आपके सम्बन्ध में अभूत (दोषरहित) असत्य कहेंगा ॥३८॥

हृदयेन सलज्जेन जिह्या सज्जसानया ।

आहं यथापि वा ब्रूः कस्त्वच्छ्रद्धातुमर्हति ॥३९॥

किसी तरह सलज्ज हृदय से तथा समर्थ जीभ से यथापि मैं कहूँ भी, तो  
उस पर विश्वास कोन करेगा ? ॥३९॥

यो हि चन्द्रमस्तैश्चर्यं कथयेच्छ्रद्धीत वा ।

स दोषांस्तत्र दोषङ्ग कथयेच्छ्रद्धीत वा ॥४०॥

हे दोषज ! जो चन्द्रमा की तीक्ष्णता कहे और जो उस पर विश्वास करे,  
वही आपके दोष कहे और उस पर विश्वास करे ॥४०॥

सानुकोशस्य सततं निल्यं करुणवेदिनः ।

स्तिर्घस्तप्यग्नो न सदृशो निवर्त्स्य असीद मे ॥४१॥

सदैव दयवान् एवं नित्य करुणा के शाता आप को सोही का त्याग उचित नहीं । ( आप ) लोटे, ( एवं ) मुझसे प्रश्न होवें ॥४१॥

इति शोकाभिभूतस्य अुत्त्वा छन्दस्य भाषितम् ।

स्वस्यः परमया धूत्वा जगाद् बदतां वरः ॥४२॥

बस्ताओं में अेठ, कुमार ने शोकनिहृत छन्दक का ऐसा माघण सुन तर शान्त तथा परम वैर्य से कहा—॥४२॥

महियोर्गं प्रति छन्दं संतापस्त्यजपत्तमयम् ।

नानाभावोऽहि नियतं पृथग्भासिषु देहिषु ॥४३॥

हे छन्दक ! मेरे वियोग ममन्त्यो वह संताप छाँडो । पृथक्-पृथक् जाति-  
( योनि ) वाले देहाशियों में वियोग होना एवं नाना भाव ( अन्म ) होना नियत है ॥४३॥

स्वजनं यद्यपि स्नेहात्म त्यजेयमहं स्वयम् ।

मृत्युरन्योन्यमवशानस्मान् संन्यान्यिष्यति ॥४४॥

बयपि स्नेह के कारण स्वजन को स्वयं हम न छोड़ें, तो भी मृत्यु एक दिन अवश्य परवश हम जीमो ने परस्पर त्याग करा देगी ॥४४॥

गहत्या तुष्णाया तुऽत्यैर्गर्भेणास्मि यदा धृतः ।

तस्या निष्कलायलायाः काहं मातुः क सा सम ॥४५॥

जिसने बड़ी तृप्ता से दुःखपूर्वक गुम्भे गर्भ में भारण किया, उस निष्कल प्रयत्नबाली माता का मैं ( पुत्र ) कहाँ ? और वह मेरी माता कहाँ ? ॥४५॥

वासवृत्ते समागम्य विगच्छन्ति यदारडजाः ।

नियतं विप्रयोगास्तत्त्वाद् भूतसमागमः ॥४६॥

जिस प्रकार पक्षी, निवान हृत भर ( रात्रि में ) एकत्र होकर, ( प्रातः ) वियुक्त ( विपरीत दिशा ) में हो जाते हैं; उसी प्रकार मृतों का समागम अवश्य वियोगान्त ( अन्त में वियोग होने वाला ) है ॥४६॥

समेत्य च यदा भूयो लघपयान्ति वसाहकाः ।

संयोगो विप्रयोगश्च तथा मे प्राणिनां मतः ॥४७॥

मेरे विनार में, जैसे बादल मिलकर फिर विलग हो जाते हैं, उसी प्रकार ग्रामियों का भी संयोग और विशेष होता है ॥४७॥

यस्मात्ताति च लोकोऽयं विप्रलभ्य परस्परम् ।

ममत्वं न ज्ञानं तस्मात्स्वप्नभूते समागमे ॥४८॥

जब कि ये लोग परस्पर छल कर जाते जाते हैं, अतः तपनकर समागम में ममता योग्य नहीं ॥४८॥

सहजेन विद्युत्यन्ते पर्याप्तोण पादपाः ।

अन्येनाभ्यस्य विलोपः किं पुनर्न भविष्यति ॥४९॥

कुछ वहजात पत्तों के रंग से विद्युक हो जाते हैं तो अन्य से अन्य का विशेष, क्या नहीं होगा ? ॥४९॥

तदेवं सति संतापं मा कार्योः सौम्य गम्यताम् ।

लन्दते यदि तु स्नेहो गत्वापि पुनरावृत्त ॥५०॥

जब भी ऐसी बात है ( तो ) वे योग्य ! सन्ताप न करो । जाओ । यदि स्नेह पकड़ता है तो जाकर भी फिर आ सकते हो ॥५०॥

कृयाश्रासमलक्षतापेत्तुं जनं कपिलवास्तुनि ।

त्यज्यतां तद्रूपः स्नेहः अूद्यतो चास्य निश्चयः ॥५१॥

कपिल वस्तु में भेरी आशा कर रहे लोगों से कहना कि तद्रूप स्नेह होओ और उत्तमा निश्चय मुनो ॥५१॥

चिप्रभेद्यति वा कृत्वा जन्मष्टुक्यात्यं किल ।

अकृतार्थो निरारम्भो निधनं यास्तवीति वा ॥५२॥

या तो कम्म मृत्यु का नाश करके ( वह ) अवश्य एक आयगा आपका असफल एवं निकम्मा होकर निधन की पात होगा ॥५२॥

इति तस्य वचः कृत्वा कन्यकस्तुरगोत्तमः ।

जिह्वा ललिहे पादो वाण्यमुष्यां मुमोच च ॥५३॥

उसका यह वचन सुनकर, दुर्गा-वर कन्यक, उसके वरणों को ज्ञान से चाटने लगा और उसे अभ्यु प्रवाहित करने लगा ॥५३॥

जालिना स्वलिकाङ्केन चक्रमध्येन पाणिना ।

आममर्दा कुमारस्तं चमापे च चयस्ववत् ॥५४॥

तब कुमार बाल स्वलिक एवं चक्रोचह युक्त हाथ से सहरते हुए सखा सहश गोला ॥५४॥

मुख कन्धक मा बाल्यं दर्शितेऽयं सदभवता ।

सहयतां सफलः शीघ्रं अमस्तेऽयं भविष्यति ॥५५॥

हे कन्धक ! अश्वन्धन न करो तुमने वह ऐड अरुक का जर्म दिलाया ।  
सहन करो, तुम्हारा यह परिभ्रम शीघ्र सफल होगा ॥५५॥

मणिस्तरकु छन्दकहस्तासंस्वर्यं ततः स धीरो निरित गृहीत्वा ।

कोशादसि काञ्जनभक्तिचित्रं चिलादिवाशीक्रिपमुद्वचह ॥५६॥

तब उस ओर ने माणिक्यों की बेट बाला त्वरणंचटित पैगा कृपाण, जो छन्दक के हाथ में था, लेकर म्यान से निकाला जैसे चिल से चिरेला सर्प निकला ही ॥५६॥

निष्कास्य तं चोत्पलपत्रनीलं चिक्केद चित्रं मुकुटं सकेशाम् ।

विकीर्यमाणांशुकमन्तरीचे चिच्छेप चैनं सरसीष दंसम् ॥५७॥

नोल कमल के पत्ती के सहश नील बण वाला वह कृपाण निकाल कर केश सहित चिलिंग रंग वाले ( अपने ) मुकुट को कादा एवं चिसकी किरणें कैल रही थीं —ऐसे उस मुकुट को आकाश में केवा भानो हस को तालाब में पेंका हो ॥५७॥

पूजाभिलापेण च बाहुमान्यादिवौकसस्तं जगृहुः प्रविद्म् ।

यथावदेनं दिवि देवसङ्कु दिल्लीविशेषैर्महयां च चकुः ॥५८॥

श्रीं देवताओं ने उस छिल भिज मुकुट को अति आदर के कारण पूजा करने की अभिलापा से ले लिया, तथा स्वर्ण में देवसंघों में स्वर्णीय सामरियों से विभिन्न पूजा की ॥५८॥

मुकुल्या त्वलङ्कारकलत्रवत्तां श्रीविश्रवासं शिरसश्च कृत्वा ।

द्वांशुकं काञ्जनहस्तचिह्नं बन्यं स धीरोऽभिचकाङ्क्ष वासः ॥५९॥

पुनः अलङ्घार रूप कलब के स्वामीपने को त्याग कर, उसको शोभा से नियुक्त कर, काञ्चनमय हँसो से चिह्नित ( अपने ) वस्त्रो को देखकर उस और ने बनतासो वस्त्र की अभिलाषा की ॥५६॥

ततो मृगाव्याघवपुर्विवीका भावं विदित्वास्त्वं विशुद्धभावः ।

कापाववस्त्रोऽभियवौ समीपं तं शाक्यराजप्रभवोऽभ्युवाच ॥५७॥

तब परिव्रष्ट अन्तःकरण याला ( एक ) देखता उसका अभिप्राय जान कर, शिकानी के बेष्ट में कापाव वस्त्र यारता किये, उसके पास गया । उससे शाक्यराज के पुत्र ने कहा ॥५८॥

शिवं च कापावस्त्रपित्तवजस्ते न युज्यते हित्तमिदं घनुत्रा ।

तत्सौम्य यशस्ति न सक्तिरत्र महां प्रयच्छेदभिदं गृहाण ॥५९॥

ऐ सौम्य ! यह शूर्पिणी का चिह्न परिव्रष्ट गेहश्चा वस्त्र के साथ, हित्तक घनुत्रा त्रुम्हे शोभा नहीं देता है । अन्तःकरणमें ममता न हो तो यह ( मेरा शुक्ल वस्त्र ) तुम लो और यह ( आपना कापाव वस्त्र ) मुझे दो ॥५९॥

व्याघोऽपवीत्कामद काममारपदनेन विश्वास्य मृगान्धिहन्मि ।

अर्थस्तु राकोपम यदानेन हन्तं प्रतीक्षानय शुक्लमेतत् ॥६०॥

ज्याघ जोला—हे कामनापद ! मैं इससे विश्वास उत्पन्न कराके समीप आकर परेच्छ मूर्गो को मारता हूँ । हे इन्द्रकल्प ! यदि आपको इससे प्रयोगत हो तो प्रसन्नता की बात है, ला और यह शुक्ल ( आपना वस्त्र ) लाओ ॥६०॥

परेण हर्षेण ततः स वन्यं लग्राह वासोऽशुक्लमुत्सर्ज ।

व्याघस्तु दिव्यं वपुरेव विभृत्तच्छुक्लमाद्य दिवं जगाम ॥६१॥

तब उसने परम हर्षपूर्वक धनयास योग्य ( वस्त्र ) प्रदण किया और आपना शंखुक ( वस्त्र ) दे दिया । ज्याघ मो दिन-शारीर यारतु किये शुक्ल ( वस्त्र ) लेकर स्वर्ग चला गया ॥६१॥

ततः कुमारअ स चान्दगोपस्तस्मिस्तथा याति विसिस्मयाते ।

आररथके बासस्ति चैव भूषस्तस्मिन्नकाम्पी वहुमानमाशु ॥६२॥

तब कुमार और वह अररथक उसके इस प्रकार जाने पर आश्वर्य

चकित हुए और फिर उस भास्यक बल में उसने यीग्र ही बड़ा आदर किया ॥६४॥

छन्दं ततः साक्षुमुखं विसृज्य कापायसंभृद्धृतकीर्तिभृत्सः ।

येनाभ्यस्तेन यद्यौ महात्मा संध्याभ्यसंवात् इबोहुराजः ॥६५॥

तब पैर्यंवान् कातिमान् कापायवधारी वह महात्मा, रोते हुए छन्दक को लौटाकर साथकालिक भेजो से खिरे हुए चन्द्रमा के समान, उस मार्ग से स्वयं गया जो कि आभ्य की ओर चाहता था ॥६५॥

ततस्तथा भर्तरि राज्यनिःस्थृते तपोवनं याति विवरण्वाससि ।

मुज्जी समुत्कृष्य ततः स वार्जिभृद्दु भृशं विचुकोशं पपात च विती ॥६६॥

तब राज्य से विरक्त हुआ त्वामी उस प्रकार विवर्ण बल भास्य करके तपोवन को गया । तब वह अश्वरक्षक भुजा फैला-फैलाकर बहुत रोया और पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥६६॥

विलोक्य भूयश्च रुपोद सस्वरं हृयं भुजाभ्यामुपगुणं कन्यकम् ।

ततो निराशो विलपन्सुहुसु हृदयो शरीरेण पुरं न चेतसा ॥६७॥

और धारम्भार ( पीछे ) रेखकर बाह्यों से कन्यक घोड़े से लिपट कर उच्च स्वर ने रोया तथा बार-चार विलाप करता हुआ आशा लौटकर बहों से शरीरमात्र से लौटा ( किंतु ) चित्र से नहीं ॥६७॥

क्वचित्प्रदृढयौ विललाप च क्वचित् क्वचित्प्रचम्बालं पपात च क्वचित् ।

अतो ब्रजन् भक्तिवशेन दुर्भितश्चार वहीरवशः पश्य कियाः ॥६८॥

इति श्रीभृश्वर्णोपकृते पूर्वबुद्धरितमहाकाव्ये

छन्दकनिष्ठवर्तनो नामं पञ्चः सर्गः ।

मार्ग में जाते हुए उसने कही आन किमा, कठी विलाप, कठी फिल यहा, कठी गिरा । इस प्रकार भक्तिवश दुर्भितश्चार उसने बहुत प्रकार की कियाएँ की ॥६८॥

यह पूर्वबुद्धरितमहाकाव्य में छन्दक-विसर्जन नामक  
पञ्चसर्ग समाप्त हुआ ।

## अथ सप्तमः सर्गः

### तपोवन-प्रवेश

### तपोवन-प्रवेशः

ततो विसृज्याश्रुमुखं रुदन्तं छन्दं वनचक्षुन्दतया निराश्यः ।

सर्वार्थसिद्धो बपुषाभिभूय तमात्रम् सिद्धं इति प्रपेदे ॥१॥

तब अधूप्यात् मुख से रोते हुए छन्दक को विसर्जित कर, वन में स्वच्छन्दता की इच्छा से निरबलम् 'वह' सर्वार्थसिद्ध सिद्ध के समान अपने शरीर की शोभा से आभ्रम् को आकाशन्त करके वहाँ पहुँचा ॥१॥

स राजस् तुर्मगराजगामी मृगाभिरं तन्मृगवत्पविष्टः ।

लक्ष्मीवियुक्तोऽपि शरीरलक्ष्म्या चक्षुषि सर्वाश्रमिणां जहार ॥२॥

सिहगमन उस राजपुत्र ने उन पशुओं के मैदान में मृगवत् प्रवेश किया और राज्य चिह्न के चिना भी उसने अपनी शरीर-शोभा से सब आभ्रम-वासियों के नेत्र आकृष्ट किये ॥२॥

स्थिता हि हस्तस्ययुगाः सवैव कौतूहलाचकधराः सदाराः ।

तमिन्द्रकर्त्तव्यं ददृशुर्न जग्मुर्धुर्यो इवार्थवनतः शिरोभिः ॥३॥

हाथ में युग ( जुए ) लिये चक्रधारी ( किंचान ) स्थितों सहित कौतूहल वण जों के स्पो लहे लेकर, भारवाहक शूप्रम के समान अर्जनामित सिरों से इन्द्रोपम उसको देखते रहे आगे नहीं बढ़े ॥३॥

विप्राश्र गत्वा वहिरिष्यमहेतोः प्राप्ताः समित्युपपविच्चहस्ताः ।

तपःप्रधानाः कृतवृद्धयोऽपि तं ददुसीयुनं मठानर्मासुः ॥४॥

और होम के इन्द्रन के लिए बाहर गए हुए ब्राह्मण, हाथों ने पवित्र कुण्ड और पुष्प लेकर लीटे, तपस्या श्री प्रधान कार्य एवं निश्चल त्रुदि होने पर भी उसको देखने गये ( किन्तु ) मठों में नहीं गये ॥४॥

हृष्टाव्य केका मुमुक्षुर्भयूरा द्युम्नुदं नीलभिवोलमन्तः ।  
शास्पार्णा दिल्वाभिमुखाव्य तस्युम्रगाव्यलाज्ञा मृगचारिणव्य ॥५॥

मयूर प्रसज्ज एवं उम्मत होकर वैसे ही केका वाणी बोलते लगे वैसे नील  
मेघ देखकर बोलते हैं । शध (कवल ) द्वोहकर नंचल-नेत्र मृग तथा चरवाहे  
संमुख लाडे हो गये ॥५॥

हृष्टा तमिद्वाकुकुलप्रदीपे ज्वलन्तमुद्धन्तमिवांशुमन्तम् ।

कुरेऽपि दोहे जनितप्रमोदाः प्रसुरुदुर्होमदुहव्य गावः ॥६॥

दोहन किया हो जाने पर भी उत्सन्न हुए प्रमोद वाली होमदुहा ( होमार्च  
दृश वाली ) मूनि की जाये उदयकालीन यज्ञ के समान तेजस्वी उस इच्छाकु  
के कुल-प्रदीप ( प्रकाश ) को देखकर प्रसादित हुई ( दृश दुहाने लगी ) ॥६॥

कविद्वसुनाभयमष्टुमः स्यात् स्याद्विनोरन्यतरश्चद्युतो वा ।

उच्चचेहुरुचेरिति तत्र वाचस्पदर्दीनादिस्मयज्ञा मुनीनाम् ॥७॥

क्या यह वसुओं में से आठवाँ है अथवा आश्विनीकुमारों में से एक  
( स्वर्ग से ) दवका ( गिरा ) है ? इस प्रकार वहाँ उसके दर्शन से ( चकित )  
मूनिदों के विस्मयज्ञ वन्नन जोरी ने उच्चारित हुए ॥७॥

लेखर्पेभस्येव वपुद्दितीयं धामेव लोकस्य चराचरस्य ।

स चोत्यामास वन हि कुत्सं यहच्छ्या सूर्य इवावतीर्णः ॥८॥

लेखर्पम ( इन्द्र ) के दूसरे शरीर के समान, चराचर विश्व के तेज  
के समान, एवं सहस्र उत्तरे हुए दूर्य के समान उस ( कुमार ) ने सबका भन  
प्रकाशित किया ॥८॥

ततः स तेराश्चमिभिर्यथावद्ध्यचित्त्रोपनिमन्त्रितव्य ।

प्रत्यचर्चयां धर्मभृतो ब्रह्मद स्वरेण साम्योऽन्युवरोपमेने ॥९॥

तब उन आशमवालियों के द्वारा विविष्ट पूजित एवं उपनिमन्त्रित  
होकर, उसने सबज अत्तवर गद्य ( गम्भीर ) धाणी से वन धर्मचार्यों की  
प्रस्तर्यां की ॥९॥

कीरणं तथा पुण्यकृता जनेन स्वर्गोभिकामेन विमोक्षकामः ।

तमाशम्भ सोऽनुच्चार धीरस्तपांसि चित्राणि निरीक्षमाणः ॥१०॥

मोदाभिलाषी और उस कुमार ने द्वयाभिजापों पुण्यकर्त्ता जली से परिपूर्ण उस आश्रम को तथा वहाँ ( की वा रही ) विविध तपस्याओं को देखते हुए चिन्हरण किया ॥१३॥

तपःप्रकारांत्रं निरीच्य सीम्बस्तपोवने तत्र तपोधनानाम् ।

तपस्विनं कंचिदतुत्रजन्तं तत्त्वं वित्तिकासुरिदं यमाये ॥१४॥

उस शान्त ने वही तपोवन में तपोधनों की तपस्या के प्रकार देखकर, अनुगमन करते हुए किसी तपस्यों को, तत्त्वज्ञान की इच्छा से यह कहा—॥१५॥

तत्पूर्णभूषाभमदर्शनं मे यस्मादिमं धर्मविधि न जाने ।

तस्माद्वत्तानहंति भाषितुं मे यो निष्क्रयो यत्पति वः प्रकृतः ॥१६॥

मेरा यह आज प्रथम आश्रम दर्शन है जो कि मैं इस धर्म विधि को नहीं जानता हूँ । अतः आपकी जिसके प्रति यह अवृत्ति है और जो आपका निश्चय है—दूर्मेर जानें ॥१७॥

ततो द्विजातिः स तपोविद्यारः शाक्यर्थभायर्थभविक्माय ।

क्रमेण तस्मै कथयोचकार तपोविशेषांस्तपसः फलं च ॥१८॥

बब उस तपोविद्यार्थी द्विजाति ( बाह्यर्थ ) ने उस श्रेष्ठताकर्त्ता शाक्य-भेष्ट के लिए तपस्याओं की विशेषताएं एवं तपस्या का फल कम से बताये ।

अग्रान्तमन्नं सलिले प्रसुदं वर्णानि तोयं फलमूलमेव ।

यथागमं चृत्तिरियं मुनीनां भिजास्तु ते ते तपसां विकल्पाः ॥१९॥

जल ने जायमान बन्न जान्य तथा पर्व, जल, फल, कन्द, शाक्यानुकूल वे ही मुनियों की गृन्ध ( आवायिका अथवा आदार ) हैं और तपस्याओं का ये मिल बतात् प्रकार है ॥२०॥

उच्छ्रेत जीवनि सगा इवान्ये लृणानि केचिन्दृगवद्वरनित ।

सेचिद् मुञ्जःैः सह वर्तयन्ति वल्मीकमूता बनमारुतेन ॥२१॥

कुञ्ज दूसरे ( घर्मांचारी ) पद्मो की तरह उच्छ्र ( जोने हुए जान्य ) खाकर बौते हैं । कुञ्ज मर्मो की तरह तृण चरते हैं तथा कुञ्ज तो वर्मीटो ही हों गये हैं कि भुजङ्गों के साथ बनवायु से ही भीते हैं ॥२२॥

अश्वप्रयज्ञार्जितकृत्योऽन्ये वेचित्स्वदन्तापहसान्नभज्ञाः ।

कृत्वा पराधूं शपणं तथान्ये कुर्वन्ति कार्यं यदि शेषमालित ॥१६॥

कुछ अन्य, परथर से कृठीसकर आते हैं, कुछ अपने दर्तों से छिले अथ आते हैं, कुछ अन्य, दूसरों ( अतिथियों ) के लिए पकाकर यदि शेष ( बचता ) है तो उसीसे अपना आहार करते हैं ॥१६॥

केचिज्जलस्त्रियजटाकलापा द्विः पावकं जुहुति मन्त्रपूर्वम् ।

मानैः समं केचिदपो विगाहा वसन्ति कूर्मीलिखितैः शारीरैः ॥१७॥

कोई चल से भीगे जटाकलापवाले मन्त्र से अग्नि में दो बार इच्छन करते हैं, कोई चल में पविष्ठ होकर कछुओं से सुरखे गये शरीरों ने मछुलियों के साथ रहते हैं ॥१७॥

एवंविधैः कालचितैस्तपोभिः पर्वदिवं यान्त्यपरेन्द्रलोकम् ।

दुःखेन मार्गेण सुखं हृपैति सुखं दि चर्मस्य वदन्ति सूलम् ॥१८॥

इस प्रकार बहुत काल में संचित ऐष्ट तपों से ( लोग ) स्वर्ग आते हैं और निकृष्ट से ममुप्य लोक में हो आते हैं । दुःख के मार्ग से सुख मास होता है । ( लोग ) सुख को ही भर्त का मूल कहते हैं ॥१८॥

इत्येवमादि द्विपदेन्द्रवत्सः श्रुत्वा वचस्तस्य तपोधनस्य ।

अहमृतस्त्वोऽपि न संतुतोष शनैरिदं चात्मगतं षभाषे ॥१९॥

यत्पि तत्त्वकान नहीं हुआ था—ऐसे उस द्विपदेन्द्रवत्स ( राजपुत्र ) को उस तपोधन का वचन सुनकर संतोष नहीं हुआ और उसने मन्दस्वर से खगत ही ऐसा कहा ॥१९॥

दुःखालमकं नैकविधं तपश्च स्वर्गप्रधानं तपसः फलं च ।

लोकात्थ सर्वे परिणामवन्तः स्वरूपे अमः खलवयमाशमाणाप् ॥२०॥

विविध प्रकार की तपस्याएँ दुम्भस्त्रूप हैं और तपस्या को प्रमुख फल स्वर्ग है तथा समस्त लोक बदलते रहने वाले हैं अतः आभमवालियों का यह परिभ्रम सचमुच में लघुकर के लिये है ॥२०॥

प्रियांश्च बन्धून्विषयारंत्र हित्वा ये स्वर्गंहेतोनियमं चरन्ति ।

ते विप्रयुक्ताः स्वलु गन्तुकामा महत्तरं बन्धनमेव भूयः ॥२१॥

जो प्रिय बान्धवों और भोगों को लौककर स्वर्ग के लिए नियम ( तपोव्रत ) का आचरण करते हैं वे ( एक से ) वियुक्त होकर फिर ( उससे भी ) भारी बन्धन में हो जाना चाहते हैं ॥२१॥

कायकज्ञमेर्यश्च तपोऽभियानैः प्रयुक्तिमाकाङ्गुति कामदेतोः ।

संसारदोषानपरीक्षमाणो दुःखेन सोऽन्विच्छ्रिति दुःखमेव ॥२२॥

और वो, तपस्या नामक शारीरिक क्लेशों से विप्रसुख के लिए कर्म की इच्छा करता है वह संसार के दोषों ( जरामरणादिकों ) को न विचारता हुआ दुःख ( नियम पालन ) से दुःख ( विषय ) को ही चाहता है ॥२२॥

त्रासश्च निस्यं मरणात्मजानां यस्तेन चेच्छन्ति पुनः प्रसूतिम् ।

सत्यां प्रयुक्ती नियतश्च गत्युस्तवेच ममना यत एव भीताः ॥२३॥

जोग भरने से हमेशा डरते हैं और पुनर्जन्म के लिए प्रयत्न करते हैं। उनमें भर मूलु निश्चित है। अतः जिससे डरते हैं उसी में मम ( झूँसते ) है।

इहार्थसेवे प्रविशान्ति खेदं स्वार्थमन्ये ब्रह्ममाणुबन्धिति ।

सुखार्थमाशाकुपणोऽकृतार्थः पतत्यनर्थं स्वलु जीवलोकः ॥२४॥

कुछ तो इस लोक के लिये कष्ट सहते हैं। दूसरे स्वर्ग के लिये परिश्रम करते हैं। वास्तव में आदा से दीन-धद जीव लोक असफल होकर सुख के लोम से दुःख में गिरता है ॥२४॥

न स्वल्पवर्णं गाहित एव यज्ञो यो हीनमुत्सृज्य विशेषगामी ।

प्राह्णैः समानेन परिअमेण कार्यं तु तथात्र पुनर्न कार्यम् ॥२५॥

वास्तव में यह प्रथल निन्दित नहीं जो स्वल्प को लौककर अधिक ही और जाता है। किन्तु विद्वानों को समान रूप से वह करना चाहिये जिसमें फिर कुछ न करना पड़े ॥२५॥

शारीरपीडा तु अदीह धर्मः सुखं शरीरस्य भवत्यधर्मः ।

धर्मेण चाप्नोति सुखं परत्र तस्माद्यधर्मं फलतीह धर्मः ॥२६॥

यदि इस लोक मे शरीर-धीरा ( दुःख-सहन रूप सप ) शर्म है तो शरीर का सुख अथर्व ( माना बायगा ) धर्म से परलोक मे ( प्राणी ) सुख पाता है अतः धर्म इस लोक मे अथर्व रूप फल देता है ॥२५॥

यतः शरीरं मनसो बशेन प्रवर्तते चापि निवर्तते च ।

युक्ते दमरचेतस एव तस्माच्चिनाहृते काष्ठसमं शरीरम् ॥२६॥

तब कि मन के अधीन होकर शरीर ( चित्तमे ) प्रवृत्त तथा निवृत्त होता है, तब चित्तका ही दमन करना उचित है । चित्त के बिना शरीर लकड़ी के सहर है ॥२६॥

आहारशुद्धया यदि पुण्यमिष्टं तस्मान्मुगाणामपि पुण्यमस्ति ।

ये चापि बाह्याः पुरुषाः फलेभ्यो भाग्यापराधेन पराङ्मुखायाः ॥२८॥

यदि आहार ( भोजनादि को ) शुद्धि से अभीष्ट पुण्य होता है तब तो मूगो ( तुणादि-मादयो ) को भी ( पुण्य ) होता है तथा जो भाग्य के अपराध ( दोष ) से घन गहित है वे फलो ( विषय-भोगो ) से बाँझत है ( तब तो ) वे भी पुण्य के भागी होगे ॥२८॥

दुःखेऽभिसंधिस्त्वपुण्यहेतुः सुखेऽपि कार्यो ननु सोऽभिसंधिः ।

अथ प्रमाणं न सुखेऽभिसंधिदुःखे प्रमाणं ननु नाभिसंधिः ॥२९॥

यदि दुःख मे उद्देश पुण्य का हेतु है तो सुख मे भी वही उद्देश करना चाहिये । यदि सुख मे उद्देश प्रमाण नहीं है तो दुःख मे भी उद्देश प्रमाण नहीं है ॥२९॥

तथैव ये कर्मविशुद्धिहेतोः सूक्ष्मान्त्यपस्तीर्थमिति प्रवृत्ताः ।

तत्रापि तोषो हृदि केवलोऽयं न पावयिष्यन्ति हि पापमापः ॥३०॥

उसी प्रकार जो ( मनुष्य ) कर्म शुद्धि ( चर्य ) के लिये तीर्थ मानकर जल मे स्नान करते है वही भी उनके हृदय मे यह केवल संत प मान है, क्योंकि जल पाप को पवित्र नहीं कर सकता ॥३०॥

स्युष्टं हि यशद् गुणवद्विरन्भस्तत्पृथिव्यां यद्वा तीर्थमिष्टम् ।

तस्माद् गुणानेव परैमि तीर्थमापस्तु निःसंशयमाप एव ॥३१॥

गुणवानो ( ज्ञानवानो ) के द्वारा जो ज्ञान स्पर्श किया गया यदि वह ज्ञान पुरुषी पर तीर्थ है तब तो गुणी को ही मैं तीर्थ समझता हूँ ( न्योकि ) ज्ञान तो निस्तर्वदेह ज्ञान ही है ॥३१॥

इति सम तत्त्वद्वयहुक्तियुक्तं जगाद चास्तं च यथौ विवस्वान् ।

ततो हविष्वर्मविवर्यावृत्तं तपः प्रशान्तं स वनं विवेश ॥३२॥

इस प्रकार उसने खुक्खियुक्त तत्त्व विचार किये तब तक सूर्य अस्त हो गया । तब उसने हथन के धुए से मलिन इच्छा वाले तपस्या के प्रभाव से शास्त्र वन में ग्रन्थेश किया ॥३२॥

अभ्युद्भूतप्रव्यलिताग्निहोत्रं कृताभिषेकपिं जनावकीर्णम् ।

जाप्यस्वनाकृतितदेवकोष्ठं धर्मस्य कर्मान्तभिव प्रवृत्तम् ॥३३॥

प्रवलित अग्निहोत्र उठा लिये गये थे, यज्ञान्तर्मान किये गृहियो ते ज्यात था, जपके स्वरसे देव मन्दिर गृह रहे थे—ऐसा वह वनधर्मकर्मान्ति ( कर्ममय ) ही गया था ॥३३॥

काश्यनिनशास्त्र निशाकराभः परीक्षामागत्र तपांस्तुवास ।

सर्वं परिच्छेष्य तपश्च मत्वा तस्मात्पङ्क्तितलाजगाम ॥३४॥

शशिकान्त 'उसने' तपस्याओंसे परीक्षा करता हुआ कृतिपय रात्रि तक वहाँ निवास किया और बंदिश में सब तप को समझ कर उस तपोभूमि से नल दिया ॥३४॥

अन्वद्वजनाश्रमिणस्तत्स्तं तद्रूपमाहात्म्यगतैर्मनोभिः ।

देशादनार्द्दरभिमूलमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम् ॥३५॥

उसके रूप और महिमा से मुख आश्रमवासी वहाँ से उसके पीछे-पीछे गये जैसे अनायों से पराजित देश से हटते हुए धर्म के पीछे महर्षि गया जाते हैं ॥३५॥

ततो जटावलकलचीरखेतांस्तपोधनांश्चैव स तान्ददर्शी ।

तपांसि चैषामनुकृत्यमानसत्स्वौ शिवे श्रीमति शृङ्गमूले ॥३६॥

तब जटान्वस्तु चौर से योगित उन तपोषनों की उसने देश एवं

उनकी उपस्थानों का अनुरोध (आदर) करते हुए शोभायुक्त परिवर्त उच्च के मूल में विश्राम किया ॥३६॥

अथोपमन्त्याश्रमवासिनस्तं मनुष्यवर्यं परिवार्यं तस्युः ।

बुद्धश्च तेषां बहुमातपूर्वं कलेन साम्ना गिरमित्युवाच ॥३७॥

तु आश्रमवासी उच्च मनुष्य ऐड के निकट आकर बेरकर लड़े हो गये । उनमें से (एक) हुद्द ने अत्यन्त आदरपूर्वक कोमलता एवं शान्ति से यह कहा—॥३७॥

त्वय्यागते पूर्णे इवान्मोऽभूत्संपदाते शून्य इव प्रवाते ।

तस्मादिमं नार्हसि तात शानुं जिजीविपोदेहमिवेष्टमायुः ॥३८॥

आपके आने से यह आश्रम भरा था ही गया था (एवं) जाने पर शून्य (रिक्त) था ही रहा है । अतः हे तात ! जीवित रहने की इच्छा वाले के शरीर के शाशु के समान थाय इस आश्रम का न ल्योऽहं ॥३८॥

ज्ञापिराजपिसुरपिज्ञुषः पुरुषः समीये हिमवान् हि शैलः ।

तपांसि तान्वेव तपोधनानां वत्सनिकर्णोद्भवलीभवन्ति ॥३९॥

यहाँ निकट ही ज्ञापिं, राजपि एवं देवरियों से जीवित परिव्र द्विमालय पर्वत है जिसके सामिन्द्रिय से उपस्थियों की वे ही उपस्थाएँ (नेत्र से) विस्तीर्ण हो जाती हैं ॥३९॥

दीर्घीनि पुण्यान्वभितस्तथैव सोपानभूतानि नभस्तलस्य ।

जुष्टानि धर्मात्मभिरात्मद्विदेवपिभिर्वेव महापिभिर्वच ॥४०॥

उसी प्रकार धर्मात्माओं, आत्मवेच्चाओं, देवरियों एवं महरियों से सेवित चाहो और परिव्र तोर्ण है जो कि देवलोक के सोपान-संहरा है ॥४०॥

इतरच भूयः जग्मुत्तरैव दिक्सेवितुं धर्मविशेषहेतोः ।

न तु ज्ञाम दक्षिणतो बुधेन पदं भवेदेकमपि प्रवातुम् ॥४१॥

तथा ज्ञाम विशेष के लिये फिर उच्चर दिशा का ही सेवन करना चाह्या है । विद्वान् को दक्षिण दिशा में एक पर्ग भी जाना डनित नहीं ॥४१॥

तपोषनेऽस्मिन्नथ निष्कर्षो वा संकीर्णवर्गाप्रतितोऽशुचिर्वा ।

हम्मस्तववा येन न ते विवल्सा तद् ब्रूहि यावद्रुचितोऽस्तु वासः ॥४२॥

यदि आप ने इस तपोषन में किसी का निकम्मा अथवा संकुचित विचार में पड़ा हुआ या अपविल देखा हो जिससे कि आपको यह रहने को इच्छा नहीं रही, तो कहे और वह तक आपको उचे तब तक हो रहे ॥४२॥

इमे हि वाच्छन्ति तपःसहायं तपोनिधानप्रतिमं भवन्तम् ।

वासस्त्ववा हीन्द्रसमेन साध्यं ब्रह्मपतेरभ्युदयावहः स्यात् ॥४३॥

ये तपोषन, तपःपृथ्व सहश, आपको आपनो तपत्वा का सहायक बनाना चाहते हैं। आप के साथ चाल करने से उसी प्रकार अन्युदय होगा जैसे इन्द्र के साथ वृहस्पति को हुआ या ॥४३॥

इत्येवमुक्तः स तपस्त्विमध्ये तपस्त्विमुख्येन मनोपिमुख्यः ।

भवप्रणाशाय कृतप्रतिज्ञः स्वं भावमन्तर्गतमाच्चर्चते ॥४४॥

तपस्त्वियो ये से प्रमुख दस तपस्त्रों ने जब ऐसा कहा तब भव (जन्म) छेदने के लिये प्रतिज्ञा करने वाला, मननशोलामें थेठ, उसने हृद्रुत विचार व्यक्त किया।

कुञ्जात्मनां धर्मभूतां मुनोनामिष्टातिथित्वात्स्वजनोपमानाम् ।

एवंविधीमौ प्रति भावजाते प्रीतिः परा मे जनितश्च मानः ॥४५॥

अतिथि प्रिय होने के कारण जिनके लिये तब, स्वजन-सहश है—ऐसे सरल स्वभाव, धर्माचार्य मुनियों के द्वारा मेरे प्रति ऐसे भावों से भेद वहा प्यार एवं आदर हुआ ॥४५॥

स्तिग्नाभिराभिहृदयंगमाभिः समाप्ततः स्नात इवास्मि वाग्मिः ।

रतिश्च मे धर्मनवप्रहस्य विस्यन्दिता संप्रति भूय एव ॥४६॥

दृदयाही इन प्रिय बचनों से मैं संक्षेप में अभियक्त महस्य ही गया हूँ एवं नया धर्मग्राही होने पर मौ मेरा धर्म के प्रति प्राप्त (प्रेम) इस समय फिर आधिक जागत हुआ है ॥४६॥

एवं प्रवृत्तान् भवतः शरस्यानतीव संदर्शितमङ्गपातान् ।

यास्यामि हित्येति ममापि दुःखं यथव चन्द्रौ स्तम्भतस्त्वयैव ॥४७॥

इस प्रकार मेरे ग्रति आकृष्ट एवं शरण्यागत वस्तुल अत्यन्त पच्चापात (मेरे ग्रति ममत्व ) दिलानेवाले आप सब को छोड़ कर जाऊंगा—यह मुझे भी उतना ही दुःख है बितना (अपने) अनुच्छां को छोड़ते समय हुआ था ॥४३॥

स्वर्गाय युध्माकमयं तु धर्मो ममाभिलापस्त्वपुनर्भवाय ।

अस्मिन्वने येन न मे विवत्सा भिन्नः प्रधृत्या हि निवृत्तिधर्मः ॥४४॥

आप सब का यह धर्म त्वर्ग के लिये है किन्तु मेरी आभिलाषा मोक्ष की है । इसी कारण से इस बन में रहने की मेरी इच्छा नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति से निवृत्ति धर्म भिन्न अन्य ) है ॥४४॥

तज्जारतिर्म न परापचारो वनादितो येन परित्रजामि ।

धर्मे स्थिताः पूर्णयुगानुरूपे सर्वे भवन्तो हि महर्पिंकलपाः ॥४५॥

अतः यहाँ न मेरी अरुचि है क्योर न दूसरी का अपनार ( आचार दोष ) जिससे कि मैं इस बन से जा रहा हूँ । आप जोग महर्पि सहशर हैं क्योंकि उग्रयुगान्त से प्रचालित धर्म में स्थित है ॥४५॥

ततो वचः सनृतमर्थवच मुश्लदणमोजस्वि च गर्वितं च ।

श्रुत्वा कुमारस्य तपस्विनस्ते विशेषयुक्तं चहुमानमीयुः ॥५०॥

तब ये उपर्यों कुमार के मनोहर अर्थुक्त, मुख्लिगच, प्रभावशाली एवं गोरक्षान्वित बचन सुनकर विशेषता युक्त अत्यन्त सम्मानित हुए ॥५०॥

कथिद्विजस्तत्र तु भस्मशायो प्राण्युः शिखी दारवचीरवासाः ।

अपिङ्गलाकस्तुदीर्घधोणः कुरुदेकहस्तो गिरमित्युवाच ॥५१॥

यहाँ कोई भस्माहृलेपी, दीर्घकाय, जटिल, बल्कलधारी, रक्ष तयन, पतली एवं लम्बी नालिका वाले, कमरेवल्ल शर्प में लिये हुए द्वित्र यह बचन बोला—॥५१॥

यीमन्तुवारः खलु निरचयस्ते यस्तं दुवा जन्मनि दृष्ट्योषः ।

स्वर्गायवर्गी हि विचार्य सम्यग् यस्यापवर्गे मतिरस्ति सोऽस्ति ॥५२॥

हे प्राज्ञ ! आपका निष्ठय ( प्रण ) सचमुच में उदार ( सर्वभ्रेषु ) है जो ५ वर्ष ० च०

कि आपने पुष्पावल्या में ही जन्मगत दोषों को देखा क्योंकि स्वर्ग एवं अपवर्ग का सम्बन्ध विचार कर अपवर्ग में जिसकी मति है वही (विचारवान) है ॥५२॥

यज्ञैस्तपोभिर्निवैरत्वं तैस्तैः स्वर्गं विवासन्ति हि रागवन्तः ।

रागेण सार्थं रिपुणेव युद्ध्या मोऽन्तं परोप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः ॥५३॥

उन उन यज्ञों, तरों एवं निष्ठों से स्वर्गं जाना चाहते हैं—वे रागा हैं। किन्तु सत्त्ववान् ( भेदावान पुक्ष ) दातु के समान राग के साथ युद्ध करके मोऽन्तं जाहते हैं ॥५३॥

तद्दुदिरेषा यदि निरिचताते तूर्णं भवान् गच्छतु विन्ध्यकोष्ठम् ।

असौ मुनिस्तत्र वसत्यराङ्गो यो नैष्ठिके श्रेयसि लब्धचक्षुः ॥५४॥

अतः यदि आप को यह त्रुटि निरिचत ( इदु ) है तो आप शोष विन्ध्य कोष्ठ ( तत्त्वालीन प्रसिद्ध लापान जावे । वहाँ पर अराहु मुनि निवास करते हैं जिसने नैष्ठिक कल्याण में दिव्य जान पाया है ॥५४॥

तस्माद्दुवाऽङ्गोष्यति तत्त्वमार्गं सत्यां रुचीं संप्रतिपत्स्यते च ।

यथा तु पश्यामि मतिस्तथैषा तस्यापि यास्यत्यवधूय तुदिष्य ॥५५॥

आप उनसे तत्त्वमार्गं सुनेंगे एवं दृचि होने पर स्वोक्तार भी नहींगे । किन्तु जैसा कि मैं देखता हूँ कि आपको ऐसी त्रुटि, उसको त्रुटि को भी तिरस्कार कर चली जायगी ॥५५॥

स्पष्टोवपोरुणं विपुलायतार्जुं तामाधरोष्ठं सिततीज्ञदंष्ट्रम् ।

इदं हि वक्त्रं तनुरक्तविह॑ ज्ञेयार्थं पास्यति कुत्स्मेव ॥५६॥

आपका यह मुख, जिसमें स्पष्ट एवं उत्तम नामिका है, विराज एवं विस्तोर्ण ओस्ते हैं, रक्त वर्ण के अधर ओष्ठ है, गुडल एवं तोद्य दात है तथा पतली एवं लाल जीम है, समस्त जलत्य समुद्र का पान करेगा ॥५६॥

गम्भीरता या भवतस्त्वगाथा या दीपता यानि च लक्षणानि ।

आचार्यकं प्राप्यस्यसि तत्पृथिव्यां बल्लर्विभिः पूर्वयुगेऽप्यत्राप्तम् ॥५७॥

आपको यो अगाध गम्भीरता है और जो तेब है तथा जो लक्षण है—

इनसे वह प्रतीत होता है कि जो आचार्य-पद पूर्वकाल में इस गृष्मी पर शूषिष्यो ने भी नहीं पाया, वह आप प्राप्त करेंगे ॥५३॥

परमभिति ततो नृपात्मजस्तसृष्टिजनं प्रतिनन्द्य निर्ययौ ।  
विधिवदनुविधाय तेऽपि तं प्रविविशुराश्रमिणस्तपोवनम् ॥५४॥

इति श्री अश्वघोषहुते पूर्वचुद्धरितमहाकाव्ये  
तपोवनप्रवेशो नाम सप्तमः सर्गः ।

वह लृपात्मज, 'अति उत्तम' ऐसा कहकर उन शूषिष्यो का अभिनन्दन कर, वहाँ से निकल गया । उन शूषिष्यो ने भी उसको विधिवत् प्रत्यभिनन्दन करके तपोवन में प्रवेश किया ॥५५॥

यह पूर्वचुद्धरितमहाकाव्य में तपोवन-प्रवेशनामक  
सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ।

## अथ अष्टमः सर्गः

अन्तःपुर-विकापः

अन्तःपुर-विलाप

ततस्तुरज्ञावचरः स दुर्मनास्तथा वनं भर्तैरि निर्ममे गते ।

चकार यत्तं पथि शोकनिप्रहे तथापि चेवाङ्गु न तस्य चिचित्ये ॥१॥

तदुपरान्त दुःखी चित्त वाले उस अश्व रक्षक ने, ममता छोड़कर उस प्रकार मालिक के बन जले जाने पर, रास्ते से शोक रोकने का प्रयत्न किया, हो भी उसके आँखे नहीं रुके ॥१॥

यमेकरात्रेण तु भर्तुराङ्गया जगाम मार्गं सह तेन वाजिना ।

इद्याय भर्तुविरहं विचिन्तयस्तमेव पन्थानमहोभिरष्टभिः ॥२॥

( वह ) जिस मार्ग से स्वामी की आशा से उसी घाँड़े के साथ एक रात्रि में गया था, उसी मार्ग से स्वामी के विरह की चिन्ता करता हुआ आठ दिन में लौटा ॥२॥

हयम्ब सौङ्गा विचलार कन्थकस्तताम भावेन सभूत् निर्मदः ।

अलङ्कृतश्चापि तथैव भूषणैरभूदगतशीरिव तेन वर्जितः ॥३॥

और ( वह ) बलबान गोङ्गा कन्थक भी ( वहाँ से ) चला ( किन्तु ) शोक भाव से मलिन एवं मदहीन हो गया था । पहिले की तरह भूषणों से अलंकृत होने पर भी मालिक के बिना शोमा शून्य था ॥३॥

निवृत्य चेवाभिमुखस्तपोवनं भूशं जिहेषे करणं मुहुसुरुहुः ।

कुधान्वितोऽप्यध्वनि राष्ट्रमन्तु वा यथा पुरा नाभिननन्द नानदे ॥४॥

तथा तपोवन की ही ओर मुढ़-मुढ़ कर दुःख पूर्ख बारम्बार जोर जोर से हिनहिनाया । भूख-प्यास लगने पर भी पूर्ख सहशु धास अथवा चल न हो प्रहरण किया और न प्रसन्न हुआ ॥४॥

ततो विहीनं कपिलाहृदं पुरं महात्मना लेज जगद्वितात्मना ।

कमेण तौ शून्यमिवोपजग्मतुर्दिवाकरे एव विनाकृतं नभः ॥५॥

तब विश्वकर्माण के लिये अवतीर्ण हुए उस महात्मा से रहित मानो सूर्य से रहित आकाश की भाँति कपिलवस्तु नामक नगर के निकट कम से ( जलते हुए ) मे दोनों गये ॥५॥

सपुष्टद्वारीकेरपि शोभितं जलैरजलकृतं पुष्पधरैर्नगैरपि ।

तदेव तस्योपवनं बनोपमं गतप्रहर्षेन्द्र राज नागरैः ॥६॥

वही उसका उपवन, वयपि कमलानुक जलाशयों से शोभित या एवं पुण्यित इसों से अलहृत या तो मो बंगल के समान आनन्द रहित नगर-वासियों से शोभित नहीं हुआ ॥६॥

ततो भ्रमद्विर्दिवि दीनमानसैरनुज्ञवलैर्बाष्पहतेज्ञणैर्न रैः ।

निवार्यमाणाविव लावुमो पुरं शनैरपस्तात्मिवाभिजग्मतुः ॥७॥

तब आस-वास घूमनेवाले दुखी चित्त, मलिन, अभु-व्याकुल नयनवाले लोगों से मानो निवारण किये जाने पर मो वे दोनों भीरे-धीरे अपस्तात ( विना स्नान के मलिन ) सहश्र नगर मे गये ॥७॥

निशान्य च ऋस्तशारीरगमिनी विनागती शाक्यकुलर्पर्षभेण तौ ।

मुमोच वाष्पं पथि नागरो जनः पुरा रथे दाशरथेरिवागते ॥८॥

शाक्य कुल मे ऐड के ( कुमार के ) विना-लौटकर, शिथिल शरीर से जाते हुए उन दोनों को देखकर नागरिकों ने मार्ग मे उसी तरह आँख बढ़ाये जिस प्रकार घूँसकाल मे राम का रथ आने पर ( वहाँ के लोगों ने आँख बढ़ाने मे ) ॥८॥

अथ ब्रुवन्तः समुपेतमन्यथो जनाः पथि चक्रन्दकमागताभवः ।

अव राजपुत्रः पुरराष्ट्रनन्दनो हृतस्त्वयासाविति पृष्ठतोऽन्वयुः ॥९॥

तब जिन्हें बहुत क्रोध आ रहा था—ऐसे वे लोग आँख बढ़ाते हुए, रास्ते मे छन्दक से यह कहते हुए उसके पीछे-नीछे गये—“पुर और राष्ट्र को आनन्द देनेवाले उस राजपुत्र को हरकर, तुमने कहाँ क्यों दिया है ?” ॥९॥

ततः स तान् भक्तिमनोऽपवीजनाभरेन्द्रपुञ्चं न परित्यजाम्यहम् ।

कदम्बहं तेन तु निर्जने वसे गृहस्थवेशाव्य विसर्जिताविति ॥१०॥

तब उसने भक्तियुक्त उन लोगों से कहा—मैंने नरेन्द्र पुञ्च को नहीं छोड़ा किन्तु उसीने निर्जनचन में रोते हुए मुझको एवं ( अपने ) गृहस्थ वेष को त्वारा दिया ॥१०॥

इदं वचस्तस्य निशाम्य से जनाः सुदुष्करं गत्विति निश्चयं चक्षुः ।

परिद्व जहुः सलिलं न नेत्रजं मनो निनिन्दुञ्च फलोत्थमात्मनः ॥११॥

वे लोग उस ( अस्य वाहक ) का यह बचन सुनकर इस निश्चय पर पहुँचे कि ( कुमार का ) यह निश्चय ( उद्देश ) सच में दुखकर है। तथा ( ये ), नेत्र से निरल्प्तर बहनेवाले आँतुओं को नहीं रोक सके एवं आपने ममतोमुख मन का निन्दा करने लगे ॥११॥

अथोचुरवैव विशाम तद्वनं गतः स यत्र द्विपदाजविक्रमः ।

जिज्ञाविषया नास्ति हि तेन नो विना यथेन्द्रियाणां विगमे शरीरिणाम् ॥१२॥

उन्होंने कहा—हम आज ही उस चन में जायेंगे वहाँ राजराज सदया पराक्रमी वह ( राजपुञ्च ) गया है। उसके बिना हम सब को जीने की इच्छा नहीं है जैसे इन्द्रियों के न रहने पर देहधारियों की ( जीने की इच्छा नहीं रहती ) ॥१२॥

इदं पुरं तेन विवर्जित वनं वनं च तत्तेन समन्वितं पुरम् ।

न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम् ॥१३॥

उनके बिना यह नगर जंगल के समान है और वह जंगल जहाँ ‘वह’ है, नगर के समान है क्योंकि उसके बिना हमारा यह नगर उसी तरह शोभा नहीं देता जिस तरह इत्तासुर के बच ( शुद्र ) के समय इन्द्रके बिना स्वर्ण शोभा नहीं देता था ॥१३॥

पुनः कुमारो विनियुक्त इत्यथो गवाच्चमाला: प्रतिपेदिरेऽङ्गनाः ।

विविक्षपुष्टं च निशाम्य वाजिनं पुनर्गवाच्चाणि पिताय चुक्षुः ॥१४॥

तब खियाँ यह विचार कर कि ‘कुमार फिर लौट आये हैं’ भरोलों पर

दोह गई किन्तु घोड़े को बाली पीठ देखकर, भारोसे चन्द करके, रोने लगी ॥१४॥

प्रविष्टदीचस्तु मुतोपलब्धये ब्रतेन शोकेन च विज्ञमानसः ।

जज्ञाप देवायतने नराधिपश्चकार तास्तात्र यथाशायाः किया ॥१५॥

पुत्र के मिलने के लिए, राजा दीदा ग्रहण करके जल एवं शोक से लिङ्ग मन होते हुए देवालय में तत्त्वकार के कर्म, जिसने जैसा बताया जैसा ही करने लगे ॥१६॥

ततः स बाष्पप्रतिपूर्णलोचनस्तुरङ्गमादाय तुरङ्गमानुगः ।

विवेश शोकाभिहवो नृपचयं युधापिनोते रिपुणेव भर्तरि ॥१७॥

तब अभ्रपूर्ण नेत्र बाले उस अश्व रक्षक ने शोक से ज्वाकुल होते हुए राजमहल में प्रवेश किया भानो योद्धा शत्रु ने उसके स्वामी का अपहरण कर लिया हो ॥१८॥

विगाहमानश्च नरेन्द्रमन्दिरं विलोक्य शश्वहेन चक्षुपा ।

स्वरंण पुष्टेन रुदाय कन्थको जनाय दुःखं प्रतिवेदयन्निव ॥१९॥

अभ्रपूर्ण नेत्रो से देखते हुए कन्थक ने राजमहल में प्रवेश किया और आर्द्धस्वर से हिनहिनाया भानो लोगों से अपना दुःख निवेदन कर रहा हो ॥२०॥

ततः खगाश्च त्यगमध्यगोचराः समीपवद्वास्तुरगाश्च सत्कृता ।

हृदयं तस्य प्रतिसम्बन्धः स्वतं नरेन्द्रस्त्रोकपयानशाह्विनः ॥२१॥

तब भवन के अन्दर रहने वाले घोड़े एवं पाल में वैष्ण हुए सुसंवित घोड़े उस घोड़े को ज्वान मुनकर इस आशंका से प्रतिवर्ति करने लगे भानो राजपुत लौट आया है ॥२२॥

जनात्र हर्योतिशयेन चञ्चिता जनाधिपान्तः पुरसंनिकर्षगाः ।

यथा हयः कन्थक एष हेषते ध्रुवं कुमारो विशतीति मेनिरे ॥२३॥

यह कन्थक घोड़ा जब कि हिनहिना रहा है, अतएव कुमार 'प्रवेश' कर रहा है'—ऐसा मानकर राजा के आन्तःपुर तक बादेवाले लोग हपोगिरेक से उत्तरकरने लगे ॥२४॥

अतिप्रहर्षीदय शोकमूच्छतः कुमारसंदर्शनलोललोचनाः ।

गृहादिनिरचकमुराश्रया लियः शरस्पयोदादिव विश्रुतस्तत्त्वाः ॥२०॥

तब कुमार के दर्शन के लिए व्याकुल नेत्रवाली लियाँ थीं शोक से निकल थीं अस्पन्द प्रसन्नतापूर्वक आशा लेकर पर से निकल पड़ीं मानो राह श्रद्ध के बादल से चञ्चल विजलीं ( निकल आई ही ) ॥१०॥

विलम्बकेशयो मलिनांशुकाम्बरा निरञ्जनैर्बाष्पहतेच्छणैमुखैः ।

लियो न रेजुमृजया विनाहृता दिवीव वारा रजनीज्यानुणाः ॥२१॥

उनके चाल विलरे थे, उत्तम साहियाँ मलिन थीं, और विना अज्ञन की थीं और मुझो से मुख भीगा था । रात्रि व्यतीत होने पर आकाश में चिस प्रकार मलिन तारे शोभा नहीं पाते हैं उसी प्रकार वे लियाँ मालनविना शोभा नहीं पा रही थीं ॥२१॥

अरक्तताम्भै इचरणैरनपूरेरकुण्डलैरार्जवकन्धरैमुखैः ।

स्वभावपीनैर्जयनैरमेघलैरहारयोक्त्रैमुखितैरिव स्तनैः ॥२२॥

उनके चरणों में न महावर की लालिमा थी और न नपुर ही थे, मुख में कुण्डल नहीं थे, ग्रीष्मा शूक्र थी, स्वभाव से स्थूल नितम्ब पर करधनी नहीं थी एवं विना हार तथा सूज के स्तन ठंगे से थे ॥२२॥

निरीदय ता वाष्पपरीतलोचना निराभर्य छन्दकमरवमेव च ।

विग्रहणवक्ता रुकुणीराज्ञना वनान्तरे गाव इवर्षभोजिभताः ॥२३॥

छन्दक एवं घोड़े की लाली देखकर, वे उत्तम लियाँ औरोंसों से आँख, बहाली हुई दीनहीन मुख से रोने लगीं जैसे धन में वैलों से विकृची हुई गायें ॥२३॥

ततः सचाष्पा महिषी महीपतेः प्रनष्टवत्सा महिषीव वत्सका ।

प्रगृह वाहु निपपात गौतमी विलोलपणी कदलीव काङ्क्षनी ॥२४॥

तब राजा की पत्नी, जिसका बच्चा मर गया हो ऐसी भैंस के समान रोती हुई बत्सका गौतमी, भुजाएं फैलाकर, दिलनेवाली स्वर्णमयी कदलों को भाँति गिर पड़ी ॥२४॥

हतत्विषोऽन्या: शिविलांसवाहवः क्षियो विषादेन विचेतना इव ।

न चुकशुनीशु जहुने शशसुने चेलुरासुलिंखिता इव स्थिता: ॥२५॥

कुछ अन्य क्षियों हतप्रभ दो गईं उनके बाहु एवं कन्धे शिखिल पड़ गये, शोक के बैग से चेतना होने को तरह हो गई—न रोइ, न आँख बहाये, न साँसें ली और न चली (केवल) नित लिखित सदरा लहो रह गई ॥२५॥

अधीरमन्या: पतिशोकमूर्छिता विजोननप्रस्तवणैमुख्यैः क्षियः ।

सिपिज्जिरे प्रोपितचन्दनान् स्तनान्धराघरः प्रस्तवणैरिवोपलान् ॥२६॥

पति के शोक से बुखित, दूसरी क्षियों ने अधीर होकर, नेष्ठुखित मुखों से चन्दन (लेप) रहित स्तनों को सीचा जैसे पर्वत (निज) लोकों से शिलाओं को सोचता है ॥२६॥

मुखैश्च तासां नयनाम्बुद्धादितै राज तद्राजनिवेशानं तदा ।

नवाम्बुद्धालोऽम्बुद्धुष्टितादितैः भवद्भलौस्तामरसैर्वेष्या सरः ॥२७॥

उस समय उनके नयन जल से आहत मुखों से वह राजमवन पेना शोभित हुआ जैसे वर्षा के आगमन के समय मेषहृषि से आहत जलस्ताकी कमलों से सरोबर शोभा पाता है ॥२७॥

सुवृत्तपांनांगुलिभिर्निरन्तरैरभूपणैर्गृहसिरवंशज्जनाः ।

उरांसि जघ्नुः कमलोपमैः करैः स्वपल्लवैर्वातचला लता इव ॥२८॥

उन क्षियों ने अपने कमल सदरा हाथों से, जिनमें अज्ञुलियों गोल मोटी एवं सप्तन थीं, उनमें भूषण नहीं थे, तथा नसें टकी थीं, ज्ञाती थीटीं, जैसे इवा से हिलनेवाली लताएं अपने पत्तों से अपने को हो पीटती हैं ॥२८॥

करप्रहारप्रचलौश्च ता वसुस्तथापि नार्यः सहितोन्नतिः स्तनैः ।

वनानिकाशूर्णितपद्मकम्पितै रथाङ्गनाम्नां मिथुनैरिवापगाः ॥२९॥

हाथों के प्रहार से हिलनेवाले साम्र एवं उभ्रत स्तनों से, ते क्षियों फिर भी शोभित हुईं जैसे वन की वायु से हिल रहे कमल पर (बैठो हुईं) चक्रवाकों की जोहियों से नदियाँ शोभित होती हैं ॥२९॥

यथा च वज्रांसि करेरपीडयं स्तवैव वज्रोभिरपीडयन करान् ।

अक्षास्त्वं स्तव यस्त्वर्द यथाः कराप्रवज्रांस्यवला द्यालसाः ॥३०॥

और ( उन्होंने ) जैसे हाथों से वज्रस्तवों को पीटा जैसे ही वज्रस्तवों से हाथों को मी पीटित किया । अमलाक्षों ने निर्देष होकर बाहुडों एवं छातिमों को एक दूसरे के द्वारा पीटित किया ॥३०॥

ततस्तु रोषप्रविरक्तज्ञोचना विपादसंबन्धिकपायगदगदम् ।

उवाच निश्वासचलत्ययोधरा विगाढशोकाशुधरा यशोधरा ॥३१॥

तथा, विशको आनंद कोष से विशेष लाल हो गई थी, ( लम्बी स्वर्णसि से यथोधर कीम रहे थे, विशेष लाल शोक से आँख भर रहे थे—( पेसी वह ) यशोधरा विपाद के सम्बन्ध से ( उत्तमन ) कटुआ से गदगद लचन थोला ॥३१॥

निशि प्रसुप्रामवशां विहाय मां गतः क्व स लक्ष्मन्दक मन्मनोरथः ।  
उपागते च त्वयि कन्यके च मे समे गतेषु त्रिषु कम्पते मनः ॥३२॥

हे लक्ष्मन्दक ! रात्रि में विवश सोती हुई सुमहसो लोककर, मेरा वह मनोरथ कहा गया ? एक साथ मवे हुए 'तीन' में से 'दो' तुम्हारे और कन्यक के लौट आने पर 'मेरा यन' कीम रहा है ॥३२॥

अनायं मस्तिष्वममित्रकर्म मे नृशंस कृत्वा किमिहाय रोदिषि ।

नियम्य घायर्ण मवतुष्टमानसो न संवदत्यशु च तच कर्म ते ॥३३॥

हे निर्देष ! हमारे ( सम्बन्ध ) में अशोभन कूर वैरोकर्म करके आज यहाँ क्यों रहे हो ? आँखु रोको, प्रसन्न चित्त हो जाओ । तुम्हारा ( पह ) आँख, और ( वह ) कर्म परस्तर मेल नहीं लाता ॥३३॥

प्रियेण वरयेन हितेन साधुना त्वया सहायेन यथार्थं कारिणा ।

गतोऽर्थपुत्रो हापुननिवृत्तये रमस्व दिष्टया सफलः अमस्तव ॥३४॥

आयंपुत्र, तुम सदया विष वशवती, दितकर, सज्जन एवं आशाकारी सहायक के साम, फिर कभी न लौटने के लिये चले गये । ( अतः ) आनन्द करो, भाग्य से तुम्हारा परिखम लक्ष्म दुला ॥३४॥

वरं मनुष्यस्य विचक्षणो रिषुर्नि मित्रमप्राङ्मयोगपेशालम् ।

सुहृद्दनुवेण ह्यविपत्रिता त्वया कृतः कुलस्यास्य महानुपप्लवः ॥३५॥

मनुष्य का परिवर्त यात्रा अच्छा, किन्तु मूर्ख मित्र अच्छा नहीं—जो कि वियोग ( भर देने ) में कुशल हो । अपने को मित्र बतानेवाले तुम्ह मूर्ख ने इस कुल का नाश कर दिया ॥३५॥

इमा हि शोच्या व्यवमुक्तभूपणाः प्रसक्तवाष्पाविलरक्तलोचनाः ।

स्थितेऽपि पत्न्यो हिमवन्महीसमे प्रनष्टशोभा विघ्ना इव ज्ञियः ॥३६॥

भाग्य उतार देनेवाली निरन्तर अब्द्यात से मलिन एवं लाल नेववाली शोचनीय ये जियो हिमालय एवं पृथ्वी के समान ( गम्भीर ज्वारीह ) पति के रहने हुए विघ्नाशो के सहश्र हो गई ॥३६॥

इमाश्च विजिपविट्कुबाहवः प्रसक्तपाशवतदीर्घनिस्वनाः ।

विनाकृतास्तेन सहावरोघनैभूर्शो रुदन्तीव विमानपङ्कतयः ॥३७॥

ओर ये अड्डालिका भेण्यिचों, कपोतपालिका रूप भुजाई फैलाकर स्थित ककृतो के ( कूचन ) लम्बी स्वाँस लेती हुई, उस ( पति ) के बिना वियोग से रनिवासी के साथ मानो रो रही है ॥३७॥

अनर्थकामोऽस्य जनस्य सर्वया तुरङ्गमोऽपि ध्रुवमेष क्रन्यकः ।

जहार सर्वस्वमितस्तया हि मे जने प्रसुप्ते निशि रत्नचौरवत् ॥३८॥

निक्षय यह क्रन्यक तुरङ्ग भी इस ( मुझ ) जन का अनर्थ कामो ( अनिष्ट इच्छुक ) या । अतः जिस प्रकार लागो के सत में सोते रहने पर रत्नचोर चोरी कर लेता है उसी प्रकार इसमें यहाँ से मेरा सर्वल दर लिया ॥३८॥

यदा समर्थः खलु सोदुमागतानिषुप्रहारानपि किं पुनः कशाः ।

गतः कशापातभवात्कर्थं नवयं जियं गृहीत्वा द्वदयं च मे समम् ॥३९॥

जब कि आये हुए आशो के प्रधार को भी सहने मे समर्थ है ( तो ) कोइ को तो बात क्या ? तब कोडे के आशार के भय से यह मेरा हृदय एवं हीमाण्य को एक साथ लेकर कैसे गया ॥३९॥

अनार्थकमा चूशामव हेषते नरेन्द्रधिश्वरं प्रतिपूरयन्निव ।

यथा तु निर्वाहयति स्म मे प्रियं तदा हि भूकस्तुरगाधमोऽभवन् ॥४०॥

निन्दत कर्म करनेवाला ( अश्व ) आज याजमवन को पूरित करते हुए की तरह हिनहिना रहा है । किस्तु चब यह तुरगाधम मेरे प्रियतम को वहन किये जा रहा था तब गौंगा हो गया था ॥४०॥

यदि इहेपिष्वत बोधयन् जनं खुरं चितौ वाप्यकरिष्यत अनिम् ।  
हनुस्वनं वाजनविष्वदुत्तमं न चाभविष्यन्मम दुःखमीहशाम् ॥४१॥

यदि ( यह ) लोभी को छगाने के लिए हिनहिनाता आयवा खुरो से धरती पर आवाल करता या इनु ( गालो आयवा नदुतो को ) खूब बलाता ( कुरफुराता ) तो मुझे ऐसा हुआ नहीं होता ॥४१॥

इतीह देव्याः परिदेवताभ्यर्थं निशन्य वाप्यप्रथिताचरं वचः ।

अधोमुखः साधुकलः कुताक्षजिः शानैरिदं छन्दक उत्तरं जगौ ॥४२॥

इस प्रकार विलाप मय वचन जिसके अन्दर अश्रुओं से गुणे थे, गुणकर छन्दक ने मुख नीचे कर रोते हुए हाथ जोड़कर मन्द स्वर से उत्तर दिया ॥४२॥

विगहितुं नाहंसि देवि कन्यकं न चापि रोषं मायि कर्तुमर्हसि ।

अनागसौ स्वः समवेहि सर्वशो गतो नदेषः स हि देवि देववत् ॥४३॥

हे देवि ! आपको कन्यक की मिन्दा करना योग्य नहीं और न मुझ पर ही रोष करना चाहिये । इम दोनों को समान क्षय से सर्वश्या मिर्दोष आजो । हे देवि ! वह नहदेव, देवता के समान हो गया है ॥४३॥

अहं हि जानन्नपि राजशासनं बलात्कृतः कैरपि देवतैरिव ।

उपानयं तूर्णमिमं तुरङ्गमं तथाम्बगच्छं विगतअभ्योऽवनि ॥४४॥

मै यावा के आदेश को जानता हुआ भी, मानो किन्हीं देवताओं से प्रेरित होकर ही ऐसा करने को विवश हुआ । शोष ही इस धोष को ले आवा और घके बिना ही मार्ग में इसके पीछे-नोछे उसी प्रकार दीक्षा गया ॥४४॥

ब्रजभयं वाजिलरोऽपि नासृशनमहीं खुरामै विघृतेरिकान्तरा ।  
तथेव देवादिव संयताननो हनुस्वनं नाकृत नाप्यहेषत ॥४५॥

इस अश्वपुङ्गव ने भी चलते हुये ( मार्ग में ) खुरो के नखो से पृथ्वी का स्पर्श नहीं किया मानो बोच में हो ( ऊपर ही किसी के द्वारा ) थाम लिये गये हों । उसी प्रकार मानो देव से मुख बन्द कर दिया गया हो मधुनो से शब्द नहीं किया और न हिनडिनाया ॥४५॥

यतो बहिर्गम्भृति पाथिंवात्मजे वद्वाभवद्वात्मपाष्ठुतं स्वयम् ।  
तमश्च नैशां रथिणेव पाटितं ततोऽपि देवो विधिरेष गृह्णताम् ॥४६॥

और भी, जब राजकुमार बाहर निकलने लगे तब द्वार स्वयं ही खुल गये एवं रात्रि का अन्वकार नष्ट हो गया मानो सूर्य ने जाह दिया हो । वहाँ भी देवो विधान ही मानना चाहिये ॥४६॥

यद्यप्मत्तोऽपि नरेन्द्रशासनाद् गृहे पुरे चैव सहस्रशो जनः ।

तदा स नाव्यन्यत निद्रया हृतस्तोऽपि देवो विधिरेष गृह्णताम् ॥४७॥

जो सहस्रों लोग राजा के आदेश से भवन और नगर में सावधान रहने पर भी, निद्रा के बरोभूत होकर उस समय नहीं जागे वहाँ भी वह देवो विधान ही मानना चाहिये ॥४७॥

यतश्च वासो बनवाससंमतं निसृष्टमस्मै समये दिवीकसा ।

दिवि धविद्दुं मुकुटं च तद्वृतं ततोऽपि देवो विधिरेष गृह्णताम् ॥४८॥

और क्योंकि देवता ने समय पर इसके लिये बनवास योग्य बद्ध दिया एवं आकाश में पौंका गया वह मुकुट किसीके द्वारा पकड़ा गया वहाँ भी देवो विधान ही समझना चाहिये ॥४८॥

तदेवमावां नरदेवि दोषतो न तत्प्रयातं प्रति गन्तुमहसि ।

न कामकारो मम नास्य वाजिनः कृतानुयात्रः स हि देवतर्गतः ॥४९॥

अतः हे नर देवि ! इनके जाने के प्रति हम दोनों का दोष नहीं समझना चाहिये । न मेरी इच्छा से ( यह ) कार्य हुआ और न इस थोड़े की इच्छा से । वह तो देवताओं की प्रेरणा से ही गया ॥४९॥

इति प्रयाणं यहुदेवमद्गुरुं निशन्य लास्तस्य महात्मनः ख्यिः ।  
प्रनष्टशोका इव विस्मयं यसुर्मनोज्वरं प्रब्रजनात् लेभिरे ॥५०॥

इस प्रकार वे ख्यियों उस महात्मा का अनेक देवताओं से प्रेरित एवं  
अद्भुत प्रयाण सुनकर खिस्त हुई, मानो उनका शोक नह दो गया ।  
विन्दु उसके सन्यास ग्रहण से मन में सन्तत हुई ॥५०॥

विपादपारिष्ठवलोचना ततः प्रनष्टपोता कुररीव तुःखिता ।  
विहाय धैर्यं विहराय गौतमी तताम चैवाश्रुमुखी जगाद च ॥५१॥

विसका बचा नह दो गया हो ऐसी कुररी के समान शोक से विहल  
नेभवाली अश्रुमुखी गौतमी धैर्य ल्लोककर विलाप करते-करते मृड़िरु हुई  
फिर बोली ॥५१॥

महोर्मिमन्तो मृद्वोऽसिवाः शुभाः पृथक्पृथक्मूलरुहाः समुद्गताः ।

अवेरितास्ते भुवि तस्य मूर्धजा नरेन्द्रमीलीपरिषेष्टिनक्तमाः ॥५२॥

आधिक लहरीदार ( झुंघराले ), कोमल काले, कल्पागुमय तथा अलग  
अलग मूल से ऊपे उन्नत उसके बाल, जो राजमुकुट को बाँधने योग्य थे, वे  
क्या शुष्की पर गिरा दिये गये ॥५२॥

प्रलम्बवाहुसूरगराजविकमो महर्षभाजः कनकोज्ज्वलयुतिः ।

विशालवज्ञा घनकुन्दुभिस्वनस्तथाविघोऽप्याश्रमवासमर्हति ॥५३॥

क्या उस प्रकार का ( राजकुमार ) भी आभमवास के योग्य है ?—  
विसके बाह लग्ने हैं, विसकी गति लिह सहरा है, विसके नेत्र विशाल वृप्तम  
सहरा है, विसकी लुति स्वर्ण जैसी उल्लंघन है, वहस्यल विशाल है एवं मेघ  
तथा नगाहे के समान ध्वनि है ॥५३॥

अभागिनी ननमियं वसुन्धरा तमार्यकमाणमनुज्ञम् पतिम् ।

गतस्ततोऽसी गुणवान् दि वादशो नृपः प्रजाभाग्यगुणः प्रसूयते ॥५४॥

निभय ही वह भेषजमी अनुपम पति, इस वसुन्धरा के भास्य में नहीं  
था तभी तो वह चला गया । वैसा गुणवान् राजा, प्रकाशो के भास्य से ही  
वन्म लेता है ॥५४॥

सुजातजालावतताङ्गुली मृदृ निगृहगुलफौ विसपुण्यकोमलौ ।  
वनान्तभूमि कठिना कथ नु तौ सचक्रमध्यौ चरणो गमिष्यतः ॥५५॥

उनके दोनों कोमल चरण—जिनमें अंगुलियाँ शुभ रेखाओं से घट्ट हैं, जिनमें माँडे ढक्के हैं, जो विस (मुरार) एवं पुष्पबत् कोमल हैं, जिसके मध्य में चक्र चिन्ह है—कठिन कनभूमि में कैसे चलेंग ॥५६॥

विमानपृष्ठे शयनासनोचितं महार्हवन्नागुरुचन्दनाचितम् ।

कथं नु शीतोष्णजलागमेषु तच्छ्रीरमोजस्ति वने भविष्यति ॥५७॥

(उसका) वह देवीप्यमान् शरीर—जो श्रद्धारी पर के शय्या तिहातन के योग्य है और चहूमूलय बल धूप चन्दन से संधृत है, मला ठंड, गर्म एवं वर्षा में वन में कैसे रहेगा ॥५८॥

कुलेन सर्वेन बलेन वर्चसा श्रुतेन लक्ष्या वयसा च गर्वितः ।

प्रदातुमेवाभ्युचितो न याचितुं कथं स भिक्षां परतश्चरिष्यति ॥५९॥

कुल, पराक्रम, बल, तेज, विद्या, शोभा (सम्पत्ति) एवं अवस्था से गौरवान्वित है तथा दूसरों को देने के योग्य है, याचना करने के योग्य नहीं है—वह भला दूसरों से भिक्षा कैसे मांगेगा ॥५९॥

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्यमये प्रबोध्यमानो निशितूर्येनिस्वनैः ।

कथं चतु स्वरूप्यति सोऽच्यु मे ब्रतो पटैकदेशान्तरिते महीतले ॥६०॥

जो वह पवित्र स्वर्णमयी शय्या पर सोकर निशान्त में दूर्ग (शहनाई) के स्वरों से चायाया आता था, भला वह मेरा ब्रती, बल के एक छुर से खिद्दो पुष्पी पर कैसे सोयेगा ॥६०॥

इमं प्रलापं करुणं निशन्य ता सुजैः परिष्वज्य परस्परं खियः ।

विलोचनेभ्यः सलिलानि तत्यजुर्मधूनि पुष्पेभ्य हवेरिता लताः ॥६१॥

वे खियाँ यह आत्माद सुनकर भुवांश्च से एक दूसरी को लिपटाकर, आँखों से आँसू बहाने लगी मानो कमित लताएँ, फूलों से रस बहाती हो ॥६१॥

ततो धरायामपत्तशोधरा विचक्रवाकेव रथाङ्गसाहृया ।

शनैश्च तत्तद्विललाप विकलवा मुहुर्मुहुर्गदुगदुरुद्यया गिरा ॥६०॥

तत्र वशोवशा चक्रवाक् से विदुक चक्रवाकी के समान गुच्छी पर गिर पढ़ी और विकल्प दोती हुई गदगद अवकद्ध वायी से मन्द स्वर में तत्त्वप्रकार से बारम्बार विलाप करने लगा ॥५०॥

स मामनाथां सहधर्मचारिणीभिपास्य धर्मं यदि कर्तुमिष्टति ।

कुतोऽस्य धर्मः सहधर्मचारिणी विना तपो यः परिभोक्तमिष्टति ॥५१॥

यदि वे मुझ अनाभा सह धर्मचारिणी को छोड़कर धर्म करना नाहते हैं तो उन्हे कहाँ से धर्म होगा जो कि सह धर्मचारिणी के विना ही तपस्या करना चाहते हैं ॥५२॥

शृणोति नूनं स न पूर्वपार्थिवान्महासुदर्शप्रसूतीन् पितामहान् ।

वनानि पञ्चीसहितानुपेद्युपस्तथा हि धर्मं महते चिकीर्षति ॥५३॥

उन्होने निश्चय ही पूर्वतों राजाओं व सुदर्श प्रसूते आपने पितामहों के सम्बन्ध में नहीं मुगा है जो आपनी पत्नियों के साथ ही बन गये थे । तभी वों मेरे विना धर्म करना चाहते हैं ॥५४॥

मुखेषु वा वेदविधानसंस्कृतौ न दंपती पश्चति दीक्षितावुभौ ।

समं द्विभूतं परतोऽपि तत्कलं ततोऽस्य जातो मयि धर्ममत्सरः ॥५५॥

और यज्ञो मे वेद विधान से संशुद्ध, एवं दीक्षित दोनों दमतों ( इतिहास अनुसित ) को नहीं देखते हैं जो परतोंक में भी यज्ञफल को साथ ही भोगना चाहते हैं । इसीलिये इनका मुझमें धर्म द्वेष हो गया है ॥५५॥

ध्रुवं स जानन्ममधर्मवल्लभो मनः प्रियेष्योक्तिलहं सुहृद्मिथः ।

मुखं विभीर्मामपहाय रोपणां महेन्द्रलोकेऽप्सरसो जिघृत्तति ॥५६॥

निधित ही वह धर्म प्रेमी, मेरे मन को बारम्बार एवं अत्यन्त ईर्ष्यांतु तथा कलह प्रिय जानकर, मुखाभाव के भय से मुझ कोपना को छोड़कर स्वर्ग में अप्सराओं को पाना चाहते हैं ॥५७॥

इयं तु चिन्ता मम कीदृशो तु तावपुरुषं विभ्रति तत्र योषितः ।

वने गद्यै स तपांसि रघ्यते श्रियं च हित्वा मम भक्तिमेव च ॥५८॥

मुझे तो यही चिन्ता है कि वहाँ के लियाँ कितना उच्चम स्वर बारवा

करती है कि जिसके लिये मेरी सेवा एवं राज्यलक्ष्मी को लौहकर बन में वह तपस्या करते हैं ॥५५॥

न स्वलिखयं स्वर्गसुखाय मे शृङ्खा न तज्जनस्यात्मवतोपि दुर्लभम् ।

स तु प्रियो मामिह् वा परत्र वा कथं न ज्ञानदिति मे मनोरथः ॥५६॥

स्वर्ग सुख की मेरी चिलकुल इच्छा नहीं है, करोकि जितेन्द्रिय ( अस्ति ) के लिये वह सुख दुर्लभ नहीं है। मेरा यही एक मनोरथ है कि वह प्रियतम, मुझे इस लोक आश्रयता परलोक में किसी तरह भी न भूले ॥५६॥

अभागिनी यशाहमायतेच्छणं शुचिस्मितं भर्तुंदाच्चितुं सुखम् ।

न मन्दभाग्योऽर्दति राहुलोऽच्च वं कदाचिदद्वं परिवतितुं पितुः ॥५७॥

यदि स्वामी के वह विशाल नयन एवं मन्द मुसकाम युच मुख देखने के लिये भोग भाग्य नहीं है, तो क्या मन्द भाग्य वह राहुल भी पिता की गोद में कभी लोटने के योग्य नहीं है ॥५७॥

अहो नृशंसं सुकुमारवर्चसः सुदारणं तस्य मनस्विनो मनः ।

कलप्रलापं द्विषतोऽपि हर्षणं शिशुं सुतं यस्त्यजतीहशं अत ॥५८॥

अहो ! उस मनस्वी का स्वरूप तो सुकुमार है, किन्तु मन निरंय एवं कठोर है जो कि शशु को भी हथांडेनेवाला तुतलाते हुए ऐसे बालभूष को वह लौह रहे हैं ॥५८॥

ममापि कामं हृदयं सुदारणं शिलामयं वाप्ययसोऽपि वा कृतम् ।

अनाथवच्छ्रीरहिते सुखोचिते वनं गते भर्तरि यज्ञ दीर्घते ॥५९॥

मेरा भी हृदय निकाय कठोर है जो कि पत्थर आपसा लौहे का बना है तथा सुख योग्य स्वामी के अनाथ के समान शोभा रहित होकर बन जाने पर विदोग्य नहीं हो रहा है ॥५९॥

इतीह देवी पतिशोकमृच्छता नरोद दध्यौ विलङ्घाप चाचक्त ।

स्वभावघीरापि हि सा सति शुचा धृतिं न सप्तमार चकार नो हियम् ॥६०॥

इस तरह यहाँ पर पति के शोक से मृच्छित देवी ने बारम्बार शोदन, ध्यान, तथा विलाप किया। स्वभाव से गम्भीर होने पर भी उस सती ने शोक के कारण दीर्घ का स्मरण एवं खोजा नहीं रखी ॥६०॥

ततस्तथा शोकविलापविकलचो यशोघरां प्रेष्य वसुन्धरागताम् ।

महारविन्देरिव दृष्टितादितेर्गुर्सैः सज्जापैर्वनिता विचुकुशुः ॥७१॥

तब उस सरह शोक व विलाप से विकल होकर ( छुत से ) पृथ्वी पर आई हुई यशोघरा को देखकर, वर्ण से आहत बड़े कमलों के समान मुखों से आँख लहाती हुई गिर्लांग चिल्लाने लगी ॥७२॥

समाप्तजात्यः कुतहोममङ्गलो नृपस्तु देवायतनादिनिर्ययौ ।

जनस्य सेनातरवेण चाहतश्चाल वस्त्रव्यनिनेव चारणः ॥७३॥

ब्रह्म समाप्त कर, मरणालिक इधन फरके गाजा, देव मन्दिरसे निकले और लोगों के ठस आत्मनाद से आहत होकर विचलित हो गए जिस प्रकार वज्र की अवनि से हाथों बिचलित होता है ॥७३॥

निशास्य च चलन्दककन्यकावृभी सुतस्य संशुद्ध्य च निश्चयं स्थिरम् ।

पपात शोकाभिहतो महीपतिः शब्दोपतेर्वृत्त इवोत्सवे भवजः ॥७४॥

छन्दक एवं कन्धक को देखकर तथा पुत्र का दृग् निष्ठय मुनकर, महीपति शोकसे अपाकूल हो गया और पृथ्वी पर बैसे ही गिरा जैसे उसस्व समाप्त होने पर देवराज का वज्र उत्तर जाता है ॥७४॥

ततो मुहूर्ते सुतशोकमोहितो जनेन तुल्याभिजनेन धारितः ।

निरीक्ष्य हस्या जलपूर्णया हयं महीतलस्यो विललाप पार्थिवः ॥७५॥

ब्रह्म पुत्र शोक में कुछ जागा तक बेहोश हो गया तब योग्य परिवार के लोगों ने पकड़ा । ( हाथ में आने पर ) पृथ्वी पर लेटे ही अभुपूर्ण हाथ से घोड़े को देखते हुए पार्थिव ने विलाप किया ॥७५॥

बहूनि कृत्वा समरे प्रियाणि मे महत्त्वया कन्धक विप्रियं कुतम् ।

गुणप्रियो येन वने स मे प्रियः प्रियोऽपि सञ्चप्रियवत्प्रवेरितः ॥७६॥

हे कन्धक ! समर मे तुमने मेरे अनेक प्रिय करके, यह बहुत बड़ा अप्रिय किया जो कि मुझप्रिय मेरे उस प्रिय थो, प्रिय होने पर भी अप्रिय के समान बन मे कौक दिया ॥७६॥

तदद्य मां वा नय तत्र यत्र स ब्रज द्रुतं वा पुनरेनमानय ।

अते हि तस्मान्माम नास्ति जीवित विगाढ़रोगस्य सदौषधादिव ॥७७॥

अतः या तो आज मुझे वहाँ के नहीं, वह वह है, अगर ( तुम हो )  
चीज़ चाहो। उसको किरले चाहो। उसके बिना मेरा जीवन नहीं  
रहेगा — जिस प्रकार देवधर्म स्त्र प्राणी अच्छी औरंगजिं के बिना भी नहीं  
सकता ॥७३॥

सुवर्णनिशीर्विनि सूल्युना हृते सुदुष्करं यन्न ममार सङ्गयः ।

अहं पुनर्धर्मरसी सुते गते सुमुहुरात्मानमनात्मवानिव ॥७४॥

सुवर्णनिशीर्षी ( एक बालक ) का सूल्यु के हारा हरे ( मर ) जाने पर  
सज्जन पिता जो नहीं मरा ( वह ) काठ रखने हुआ। जिन्हुं मैं तो धर्मरस  
पुष के चले जाने पर अपोगी भी तरह प्राण छोड़ना चाहता हूँ ॥७४॥

विभीर्हशक्तव्रकृतः प्रजापतेः परापरज्ञस्य विवरजात्मनः ।

प्रियेण मुत्रेण सता विनाकृतं कथं न मुहोद्धि मनो मनोरपि ॥७५॥

इयापक एवं दत्त लक्षितों के ( शास्त्रों के ) निर्माता, अतीत अनामत के  
जाता विवशान् के पुत्र प्रज्ञापति मनु का भी मन पित्र पुत्र के लियोग से क्यों  
न मुक्तिहृत हो ॥७५॥

अजस्य राक्षस्तनयाय धीमते नराधिपायेन्द्रसखाय मे स्फुहा ।

गते बनं यस्तनये दिवं गतो न मोषवाण्यः कृपणं जिजीव ह ॥७६॥

राजा शश के लुद्दिमान युवराज इन्द्र के सखा नरपति ( दशरथ ) से मेरी  
देखभाँ हैं जो युवराज के बन जाने पर स्वर्ग चले गये तथा अपर्य रोते हुए दीन  
\*होकर जीवित नहीं रहे ॥७६॥

प्रचक्षत मे भद्रं तदाश्वमाजिरं हृतस्त्वया यत्र स मे जलाञ्जलिः ।

इमे परीप्सन्ति हि तं पिपासवो भगासवः प्रेतगति यियासवः ॥७७॥

हे भद्र ! मुझे वह आश्रम स्थल बताओ वहाँ, मुझे जलाञ्जलि देनेवाले  
को गुम फहुंचा आये हों। क्योंकि मरने की इच्छा वाले मेरे प्राण उसको पाने  
के इच्छुक हैं ॥७७॥

इति तनयवियोगजातदुःखः त्रितिसहशं सहजं विहाय धैर्यम् ।

दशरथ इत्र रामशोक्षरयो वहु विलज्जाप नृपो विसंकल्पः ॥७८॥

इस तरह राजा ने पुत्र के वियोग में उत्पन्न हुए से दुखित होकर, पृथ्वी के समान स्वामानिक पैरों को छोड़कर, रामशोक के वर्णानुत दशरथ के समान चेतना दृष्ट्य उदय होकर वहूत विलाप किया ॥३१॥

**ध्रुतविनयगुणान्वितस्तरस्तं मतिसचिवः प्रवयाः पुरोहितब्न ।**

**समधृतमिदमूच्चतुर्यावश्च च मरितममुखौ न चाप्यशोकौ ॥३२॥**

तब शाश्वत, विनय एवं गुणों से युक्त मतिवाले, सचिव ( सलाहदाता मन्त्री ) तथा बृहद पुरोहित जो न सन्तान मूल ( सन्ताप युक्त ) पे और न शोच रहित थे ( ते दोनों ), जोगे इस भावे में हुए राजा की पर्याप्ति ( समान उत्साह ) ऐसा थीं ॥३२॥

**त्वं नरवर शोकमेहि धैर्यं कुभृतिरिवार्हसि धीर नाशु मोक्षम् ।**

**ऋजसिव मृदितामपास्य लद्मीं मुवि वहवो नृपा वनान्यतीयुः ॥३३॥**

हे नरवर ! योगी क्षोडिये, धैर्य भारणा कीजिए । हे धीर ! कुसित ( बनावटी ) धीर के समान ( आपको ) अमृत नहीं बहाना चाहिये । इस पृथ्वी पर वहूत से याजा लोग मरली हुई ( मुरम्हाई ) माला के सदृश राज्य को छोड़कर बन चले गये हैं ॥३३॥

**अपि च निवत एव तस्य भावः स्मर चन्ते तहये पुरासितस्य ।**

**न हि स विवि न चक्रवर्तिराक्षे चण्डपि वासियितुं सुच्येन शक्यः ॥३४॥**

और भी उसका यह भाव ( होना ) अवश्यमानी था । पूर्व में कहा हुआ, उस श्रसित भृगि का चन्तन स्मरण करो । न स्वर्ग में और न चक्रवर्ती राज्य में चला भर के लिए भी वह मूल से रखा जा सकता है ॥३४॥

**यदि तु नृवर कार्यं एव वर्त्तनस्त्रितमुदाहर वावदत्र यावः ।**

**बहुविभिन्निह दुद्दगस्तु तावत्त्व तनयस्य विवेश्य तस्य तस्य ॥३५॥**

हे नरवर ! यदि यत्न ही करना है तो कहिये, इम वहाँ शीघ्र आवं एवं आप के पुत्र संपाद तरह तरह के उपायों के मध्य अनेक प्रकार से संपर्क हो ॥३५॥

**नरसतिरथ तौ शरास्त तस्माद् द्रुतमित एव युवामभिप्रयात्म् ।**

**न हि मम द्वद्वं प्रयाति शान्ति वनशकुमेरिव पुवलालसस्य ॥३६॥**

तब राजा ने 'आप दोनों यहाँ से बलदो चले जावें'—ऐसी आदा दी और कहा—'पुत्र के लिये उत्सुक बन पड़ी के हृदय के समान मेरा हृदय शान्त नहीं पा रहा है' ॥८३॥

परमभिति नरेन्द्रशासनात्ती ययतुरमात्यपुरोहिती बने तन् ।

कुतभिति सबधूजनः सदारो नृपतिरपि प्रचकार शोषकार्यम् ॥८४॥

इति श्रीब्रह्मघोषकुते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये

अन्तःपुरविलापो नामः अष्टमः सर्गः

'अन्तः'—ऐसा कहकर वे दोनों अमात्य एवं पुरोहित, दस बन की गये। 'ठोक हुआ'—ऐसा सोचकर यधू पर्वे फली सहित राजा भी शेष ( राह ) कार्य करने लगे ॥८५॥

यह पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्य में अन्तःपुरविलाप नामक

अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

## अथ नवमः सर्गः

कुमारान्वेषणः

कुमार-अन्वेषण

ततस्तदा मन्त्रिपुरोहितौ ती चाष्टप्रतोदाभिहतौ लृपेण ।

विद्वा सदशाविव सर्वयत्नात्सौहार्देशीर्व यथतुवर्त्ते तत् ॥१॥

तब उसी समय मन्त्रि एवं पुरोहित दोनों ( राजा के ) आँख रूप कपा से आहत होकर, विद द्वापर अन्वेषणों के समान मैथी के कारण पूर्ण प्रयात्स से दीव उस चन को गये ॥१॥

तमाक्षमं जातपरिश्रमी तादुपेत्य काले सदशानुचान्त्रै ।

राजद्विमुलद्वय विनीतचेष्टावृपेयतुभार्गवधिष्ठयमेव ॥२॥

अनुकूल अनुचरों के थके मान्दे वे दोनों समय पर उस आधम को मास करके शासी वेष-भूषा छोड़कर ओढ़त्वा रहित हो, मार्गव के ही आधम को गये ॥२॥

तौ न्यायतस्तं प्रतिपूज्य विव्रं तेनाचिंतौ तावपि चानुरूपम् ।

कृतासनौ भार्गवमासनस्य लित्त्वा कथामूच्चतुरात्मकृत्यम् ॥३॥

उन दोनों ने उस भार्गव को लम्तुदार पूजा की ओर उनके द्वारा वे भी वयामोग्य कर्त्तव्य तथा आसन प्रहृण कर, उन्होंने आसन पर ही स्थित मार्गव से प्रसंग छोड़कर अपना कार्य कहा ॥३॥

शुद्धोजसः शुद्धविशालक्षीर्तेविच्चाकुवंशप्रभवस्य राज्ञः ।

इमं जनं वेत्त भवानधीतं अतप्य ह मन्त्रपरिघहे च ॥४॥

आप, इस जन ( इम दोनों ) को विशुद्ध वस्त्रान् एवं विशुद्ध विशाल यशस्वी इच्छाकुरुते में उत्तम राजा ( शुद्धोदन ) के भूतपात्र ( राजा व्रह्मण )

मे पुरोहितपने मे एवं मन्त्र प्रह ( सलाह प्रदण ) मे मन्त्रीपने मे अधोत ( निषुण ) जाने ॥४॥

तस्येन्द्रकरुपस्य जयन्तकल्पः पुत्रो जरामृत्युभयं तितीर्षु ।

इहाभ्युपेतः किल तस्य हेतोरावामुपेतौ भगवानवैतु ॥५॥

इन्द्र सहय उस ( रावा ) का जयन्त सहय पुथ, वरा मृत्यु के भव से पार जाने की इच्छा से यहाँ आया है, उसके कारण इम दोनों यहाँ आये हैं—ऐसा भगवान् ( शाप ) जाने ॥५॥

तो सोऽब्रवीदस्ति स दीर्घवाहुः प्राप्तः कुमारो न तु नावयुदः ।

धर्मोऽयमावर्तक इत्यवेत्य यातस्त्वरावाभिमुखो मुमुक्षुः ॥६॥

उन दोनों से उस ( भार्गव ) ने कहा—वह दीर्घवाहु कुमार है, अबोप नहीं है । ( यहाँ ) आया था । यह धर्म पुनर्जन्म-प्रद है—ऐसा समझत, मोक्ष की इच्छा से वह अग्राह ( मुनि ) की ओर चला गया ॥६॥

तस्मात्ततस्तात्पुक्तम्भ्य तत्त्वं तं लिप्रमामन्त्र्य तदैव सत्यः ।

स्विन्नाचत्विन्नाविव राजभक्त्या प्रसन्नातुस्तेन यतः स यातः ॥७॥

तब वे दोनों उससे यथार्थ समाचार लानकर और उस बाधाला से तलाल आवेदा लेकर वहाँ से शाम उस ओर गये जहाँ से वह गया था । यद्यपि यक गये ये फिन्तु राजमन्त्रि के कारण उत्साह मुक्त थे ॥७॥

यान्तौ ततस्तौ सूजया विहीनमपश्यतां तं वपुषोऽज्ज्वलन्तम् ।

उपोपविष्टं परिं वृक्षमूले सूर्यं चनानोगमिव प्रविष्टम् ॥८॥

तब शस्ते मे जाते हुए उन दोनों ने स्नानरहित परम्भु तेजस्वी रारोर से देवीप्रमाण उत कुमार को उसी प्रकार दैठे देखा मानो भेद के द्वेरे मे सूर्य प्रविष्ट हो ॥८॥

यानं विहायोपययौ ततस्तं पुरोहितो मन्त्रधरेण साध्यम् ।

यथा चनस्थं सहवामदेवो रामं दिद्वज्ञुमुनिरार्थदोयः ॥९॥

तब मन्त्री के साथ पुरोहित बाहन छापकर, उसके समोप सबे जैसे बन मे स्थित राम को देखने को इच्छा से बामदेव ठर्वयोःपुत्र बशिष्ठ मुनि गये थे ॥९॥

तावन्यामासतुरहृतस्तं दिवीव शुक्राङ्गिरसी महेन्द्रम् ।

प्रत्यर्चयामास स चाहृतस्ती दिवीव शुक्राङ्गिरसी महेन्द्रः ॥१०॥

तब उन दोनों ने उसकी वधायोग्य पूजा की, जैसे स्वर्ग में शुक्र और अङ्गिरा ने हनुम की, और फिर उसने उन दोनों की उन्नित पूजा की जैसे स्वर्ग में हनुम ने शुक्र एवं अङ्गिरा की ॥१०॥

कृताऽप्यनुज्ञावभितस्तस्ती निषेदतुः शाक्यकुलव्यजस्य ।

विरेजतुस्तस्य च संनिकर्षे पुनर्वसु योगगताविवेन्द्रोः ॥११॥

फिर वे दोनों उसकी आजा पाकर शाक्य कुल की पताका ( कुमार ) के दोनों ओर घैड गये । उसके सामीक्ष से वे दोनों ऐसे सुशोभित हुए जैसे चन्द्रमा के बोग ने पुनर्वसु ( लोका ) ॥११॥

तं कृक्षमूलस्थमभिज्वलन्तं पुरोहितो राजसुतं बभाषे ।

यथोपचिष्टं दिवि पारिजाते वृहस्पतिः शक्यसुतं जयन्तम् ॥१२॥

पुरोहित ने वृक्ष मूल में बैठे उस तेजस्वी राजपुत्र से उसी प्रकार कहा जैसे स्वर्ग में पारिजात ( के मूल ) में बैठे हुए शक के पुत्र जयन्त से वृहस्पति बोले— ॥१२॥

त्वच्छ्रोकशन्ये हृदयावगावे मोह, गतो भूमितके सुहृत्तम् ।

कुमार राजा नवनामवृष्टयो यत्त्वामवोचत्तदिदं निवोध ॥१३॥

हे, मार ! राजा ने तुम्हारे ( सम्बन्धित ) शोक के हृदय में तुमने पर, कश्य भर के लिए ऐसी पर बेहोश होते हुए, आँखों से आँसू बहाकर तुम्हे चोकहा है, यह यह है—तुमनो— ॥१३॥

बानामि धर्मप्रति निश्चये ते परैमि ते भाविनमेतमर्थम् ।

अहं त्वकाले वनसंभ्रयाते शोकाग्निनाग्निप्रतिमेन दद्ये ॥१४॥

मन के प्रति तुम्हारा ( ग्रगाढ़ ) विकास है—यह जानता हूँ । यह तुम्हारा अवश्यगम्भावी होनहार था—यह भी जानता हूँ । किन्तु असमय में तुमने वन का आश्रय लिया है; अतः अग्नि दुला शोकाग्नि से नै बल रहा हूँ ॥१४॥

तर्वेहि धर्मप्रिय मत्प्रियायं धर्मार्थमेव त्वज्ज चुदिमेताम् ।

अयं हि मा शोकरयः प्रवृद्धो नदीरयः कृलमिवाभिहन्ति ॥१५॥

अतः हे धर्मप्रिय ! मेरा शिष्य करने के लिए ( मेरे जीवन रचना कृप ) धर्म के लिए ही आओ इस ( वनवास ) बुद्धि को त्यागो । यह बड़ा हुआ शोक का वेग, नदी के वेग से नष्ट तट सहय मुझे नष्ट कर रहा है ॥१५॥

मेघाम्बुकचाद्रिपु या हि वृत्तिः समोरणाकार्गिनमहाशनीनाम् ।

तां वृत्तिमस्मासु करोति शोको विकर्षणोच्छोपणदाहभेदैः ॥१६॥

वायु, दूर्य, अग्नि, महावज्र का विद्वेष, शोषण, दाहन तथा भेदन रूप व्यापार कमशः भेद, जल, धारा एवं पर्वतो में होता है, वही व्यापार यह शोक मेरे प्रति एक साथ कर रहा है ॥१६॥

तद्गृह्णत्वं तावद्वसुधाविपत्वं कालं वनं यास्यसि शाश्वदप्ते ।

अनिष्टवन्धी कुरु मध्यपेक्षां सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः ॥१७॥

अतः हे शास्त्र ! तब तक पूछी का प्रमुख भोगो । समय पर ( चौयेषण में ) वन जाना । मुझ—मृत्यु की सम्पादना बालो—पिता की उपेक्षा मत्त करो । सब भूतो में 'इता' ही धर्म है ॥१७॥

म चैष धर्मो वन एव सिद्धः पुरेऽपि सिद्धिर्नियता यतीनाम् ।

बुद्धिव यत्नश्च निमित्तमन्न वनं च लिङ्गं च हि भीकृचिह्नम् ॥१८॥

और यह धर्म ( केवल ) वन में ही सिद्ध नहीं होता है, ( अपितु ) नगर में भी यत्नशीलों की सिद्धि निश्चित होती है । इस ( सिद्धि ) में बुद्धि एवं प्रयत्न खारण है । वन ( में वास ) एवं लिङ्ग ( मिञ्चु वेष ) कायर के चिह्न हैं ॥१८॥

मौलीघर्वरं सविषक्तहारैः केयूरविष्टव्यभुजैनेनन्द्रैः ।

कलम्यङ्कमध्ये परिवर्तमानैः प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः ॥१९॥

मुकुटधारी, गले में लम्बमान् धार धारण करने वाले, केयूरों से बहाड़ी भुजा वाले, लकड़ी की गोद में चेलने वाले राजाओं ने, यहस्थ होने पर भी मोक्ष प्राप्त किया है ॥१९॥

ध्रुवानुजौ यौ वलिवज्ज्वाह वैभावमापादमयानितदेवम् ।

विदेहराजं जनकं तथैव रामं द्रुमं सेनजितव्य राजः ॥२०॥

भूत के अनुज जी बलि पर्व वज्रबाहु तथा वैभाव, आगाढ़ तथा अन्ति-  
देव, विदेहराज बनक, उसी प्रकार राम, द्रुप, सेनजित राजा थे। ॥२०॥

एतान् गृहस्थान्नुपत्तीनवेदि नैश्चेयसे धर्मविधी विनोनाम ।

उम्मी तु तस्माच्युगपद्मजस्व ज्ञानाधिपत्यं च नृपभियं च ॥२१॥

इन राजाओं को का कि यहस्य ये मोक्ष-धर्म-वधि से दीर्घित जानो ।  
अतः ज्ञान के ज्ञानिपत्व पर्व भग्नलद्मी दोनों का एक साथ उपभोग  
करो ॥२१॥

इच्छामि हि त्वामुपगुह्य गाढ़ कृताभिषेकं सलिलाद्वये ।

घृतातपत्रं समुदीच्चमागस्तेनैव हर्येण वनं प्रवेष्टुम् ॥२२॥

मै चाहता हूँ कि तुम्हारा अभिषेक हो और बल से आदृही तुम्हारा गाढ़  
आणिहन करके, छूत धारणा किए हुए तुम्ही देखकर, उसी हृषि क साथ बन  
को चला जाऊ ॥२२॥

इत्यत्रवोद्भुमिपतिभवन्तं वाक्येन वाप्यप्रथिताचरेण ।

श्रुत्वा भवानहृषि तत्प्रियार्थं स्नेहेन तत्सन्नेहमनुप्रयातुम् ॥२३॥

राजा ने अश्रु से ग्रासित अच्छर-मुक्त वाक्य से आपको ऐसा कहा है। यह  
सुनकर आपको उसका प्रिय करने के लिये, स्नेह से, उसके त्वेह के प्रति  
आकृष्ट होना चाहिये ॥२३॥

शोकाम्भसि त्वत्प्रभवे शागाधे दुःखार्णवे भजति शाक्यराजः ।

तस्माच्चमुन्नारय नाथहीनं निराकर्यं भग्नमिचार्णवे नौः ॥२४॥

शाक्यराज, तुमसे उत्तम शोक रूप बलयाले अगाध दुःखसार ने  
झूँक रहा है। अतः 'उस' अनाथ को तुम उत्तारो—जैसे लमुद्र मे झूँकते हुए  
आभय हीन को नाम उत्तरती है ॥२४॥

भीमेण गङ्गोदरसंभवेन रामेण रामेण च भागेण ।

श्रुत्वा कृत कर्म पितुः प्रियार्थं पितुस्त्वमप्यहंसि कर्तुमिष्टुम् ॥२५॥

गङ्गा के उदर से उत्तम भीमसितामह (दशरथ पुत्र) राम तथा  
(भग्न पुत्र) राम (पश्चात्याम), इन्होने प्रिया का प्रिय करने के लिए (तत्त्व)

हर्म किये । ( पहले ) सुनहर तुम्हें मो पिता वा हृष्ट ( जित ) करना चाहिए ॥२५॥

संवर्द्धयित्री समवेहि देवीमगस्त्वज्जुष्टा दिशमप्रयाताम् ।  
प्रनष्टवत्साभिव वत्सलां गामज्ञमातौ करुणां कुदन्तीम् ॥२६॥

तुम्हारा पालन पोषण करनेवाली देवी ( गौतमी ), व्रगस्त से सेवित ( दक्षिण ) दिखा को नहीं गई है ( मरी को नहीं है ) जिन्होंने चिरका बद्धा मर गया हो उस साथ की तरह दुःखी होकर निरस्तर करय बदन करती रहती है ॥२७॥

हंसेन हंसीभिव विप्रयुक्तां त्यक्तां गतेनेव वने करेणुम् ।

आतां सनायामपि नाशहीनां वातुं बधूमर्द्धसि दशनन् ॥२८॥

इस से विषुक हाँकर हुसिनों की तरह, हाथों से बन में छोड़ी गई इसीनी की तरह तुम्हिनी ( अपनी ) भाष्यों को, जो सनाय होने पर भी अनाय हो रही है, दर्शन देकर, तुम्हें उसकी रक्षा करना चाहिये ॥२९॥

एकं सुतं बालमनहदुःखं संतापमन्तर्गतमुद्धन्तम् ।

तं राहुलं भोक्त्य वन्धुशोकाद्राहृपसर्गादिव पूर्णचन्द्रम् ॥२८॥

( केवल ) एक पुज, जो चांदा है, दुःख बहने के योग्य नहीं है, तथा आनन्दरिक सनाय सह रहा है—उस राहुल को पितृ-शोक से मुक्त को—जैसे गहु के गाहण से पूर्ण चन्द्र मुक्त होता है ॥२८॥

शोकाग्निना त्वद्विरहेन्धनेन निःश्वासधमेन तमः शिखेन ।

त्वद्वर्जनाभिवच्छ्रवि दह्यमानमन्तःपुरं चैव पुरं च कृत्सनम् ॥२९॥

तुम्हा । यिरह विलक्षण को लकड़ी है, आहे—झुड़ा है, मोह—ब्यालाएँ है—ऐसी शोकाग्नि से जल रहा अन्तःपुर ( रनिवास ) एकं साया नगर, तुम्हारे दशनस्तप जल की इच्छा कर रहे हैं ॥२९॥

स योग्यिसत्त्वः परिपूर्णसत्त्वः अत्या वचस्तस्य पुरोहितस्य ।

अयात्वा सुहृतं गुणवद्गुणवः प्रस्युतरं प्रशितभित्युवाच ॥३०॥

पूर्णा बलिष्ठ, गुणवान् एवं गुणव उस योग्यिसत्त्व ने उस पुरोहित का वचन सुनहर लग्य भर ध्यान करके, विनय-मुक्त उच्च दिया ॥३०॥

चर्वेनि भावं तनये पितृणां विशेषतो यो मयि भूमिपस्य ।

जानन्नपि व्याधिराविपद्भ्यो भीतस्त्वगत्या स्वजनं त्यजामि ॥३१॥

पुष्ट के प्रति पिता का क्या बार रहता है—वह मैं जानता हूँ । विशेषकर राजा का मेरे प्रति चो भाव है, वह भी जानता हूँ । जानते हुए मैं व्याधि, बरा एवं विषचि से दरकर, जाचारी हालत में स्वजनों को छोड़ रहा हूँ ॥३१॥

द्रष्टुं प्रियं कः स्वजनं हि नेत्रेभ्रान्ते यदि स्यात्प्रियविप्रयोगः ।

यदा तु भूत्वापि चिरं वियोगस्ततो गुरुं स्नाधमपि स्यजामि ॥३२॥

यदि अन्त में प्रियजनों का वियोग न हो तो प्रिय स्वजनों को कौन नहीं देखना चाहिए ? जब कि देर ( तक संयोग ) होकर भी वियोग होता है अतः स्वेही पिता को भी स्थान रहा हूँ ॥३२॥

मर्देतुर्कं यत्तु न राधिपस्य शोकं भवानाह न सत्प्रियं मे ।

यस्त्वत्तनभूतेषु न मागमेषु संतप्त्वते भाविनि विप्रयोगे ॥३३॥

‘मेरे कारण राजा को शोक हुआ—’ यह जो आपने कहा, वह मुझे प्रिय नहीं लगा जौकि समायम, स्वप्न सदृश ( अल्पकालीन ) में वियोग अवश्य-भावों ( ग्राघत ) होता है, इसमें वह सन्ताप नहीं करते हैं ॥३३॥

एवं च ते भित्रयमेतु तुदिर्दृष्टा विचित्रं जगतः प्रचारम् ।

सन्तापहेतुर्नु मुतो न वन्युत्ताननेभित्तिक एष तापः ॥३४॥

( इस ) जगत् को विचित्र गति देखकर, आपको तुदि इस निधय पर पहुँचे कि सन्ताप का कारण न पुष्ट है और न बग्नु ( पिता ) यह सन्ताप अलान के कारण होता है ॥३४॥

यथाप्वगानामिह संगतानां काले वियोगो नियतः प्रजानाम् ।

प्राक्षो जनः को तु भजेत शोकं वन्युत्तित्तात्तजनैर्बिहीनः ॥३५॥

इन संसार में परियों के समान ( किसी स्थान और समय पर ) समिलित हुए लोगों का वियोग अवश्यभावी है, तो फिर वन्यु एवं परिचित जनों से वियोग होने पर कौन तुदिमान् जन शोक करे ॥३५॥

इहैति हित्वा स्वजनं परत्र प्रसन्नम् चेहापि पुनः प्रयाति ।

गत्वापि तत्राप्यपरत्र गच्छत्येवं जने त्यागिनि कोऽनुरोधः ॥३६॥

मनुषा, पूर्वजन्म में स्वजनों को छोड़कर वहाँ आता है। फिर वहाँ से भी ( स्वजनों को ) घोला देकर जला ( मर ) जाता है। वहाँ भी जाकर फिर अन्यथा जला जाता है। इस प्रकार स्पाग करनेवाले प्राणी ने क्या आगमह? ॥३६॥

यदा च गर्भास्त्रशुति प्रवृत्तः सर्वास्ववस्थासु वधाय मृत्युः ।

कहमादकाले वनसंश्रयं मे पुत्रप्रियस्तत्रभवानयोचन् ॥३७॥

अब कि मर्म से लेकर सब अवस्थाओं में मृत्यु यज्ञ के लिये प्रवृत्त है तो एउटे प्रिय पूज्य पिता ने क्यों कहा कि मैं अकाल में वन का आश्रय ले रहा हूँ ॥३७॥

भवत्यकालो विषवाभिवज्ञौ कालसाधैवार्थविधी ग्रदिष्टः ।

कालो जगत्कपैति सर्वकालाजिर्वाहके लेयसि नास्ति कालः ॥३८॥

विषय भोग के लिए अकाल होता है उसी प्रकार आर्थविधि, भनावेन के सम्बन्ध में काल का निकाय है। काल सदैव जगत् को लोकता रहता है। मीठे के सम्बन्ध में कोइ निवित काल नहीं ॥३८॥

राज्यं सुमुङ्गम्यि यज्ञ राजा तद्युदारं सदृशं पितुष्म ।

प्रतिप्रहीतुं मम न चमं तु लोभादपव्याजमिवातुरस्य ॥३९॥

और राजा मेरे कपर यह जो राज्य होइना चाहते हैं—वह तो पिता के अनुकर उदारता है। किन्तु मेरे लिए महाय करना योग्य नहीं, जैसे रोगी के लिये लोभवश्च अपर्य अन्न लेना उचित नहीं है ॥३९॥

कथं तु मोहायतनं नृपत्वं चमं प्रपत्तुं विदुषा नरेण ।

सोद्वेगता यज्ञ भद्रः श्रमश्च परापत्तारेण च धर्मपीडा ॥४०॥

विद्वान् युक्त के लिए मोह का भंगहार राज्यसत्त्वा स्वीकार करना जैसे उचित हो सकता है? विषमे उद्वेग, भद्र तथा अन है और दूसरों पर आत्याचार करने से धर्म में वाषा है ॥४०॥

जान्युनदं हर्म्यमिव ग्रदीप्तं विषेण संयुक्तमिवोत्तमाभ्यम् ।

माहातुलज्जान्विव जारविन्दं राज्यं हि रम्यं व्यसताभ्यं च ॥४१॥

राज्य ( कार से बढ़ा ही ) रन, किन्तु स्वर्णमय प्रत्यक्षित राजमन्त्र तथा विष मिथित उत्तम भोजन, मगर से भरा कमल उहित अकाशय के समान है और दुखों का घर है ॥४१॥

इत्यं च राज्यं न सुखं न धर्मः पूर्वं यथा जातधृणा नरेन्द्राः ।

वयः प्रकर्षेऽपरिहार्यदुःखे राज्यानि सुकृत्वा वनमेव जग्मुः ॥४२॥

इस प्रकार राज्य में न सुख है, न धर्म । पूर्व काल में राजा लोग जिसमें दुःख अवश्यमभावा है—ऐसो उदावश्य में राज्य क्लोककर वन की ही चले गए ॥४२॥

वर दि सुकृतानि कुणान्वरणे वोषं परं रब्रमिदोपगुह्यं ।

सहौपितं श्रीमुलभैरवं चैव दोषैरहशचैरिव कृष्णसर्पैः ॥४३॥

वन में रस्ते के समान सुरक्षा करके तुग्य लोकर अन्तोग करना अच्छा । किन्तु अहश्य कृष्ण सर्प सदा दोषों के ताड़ रहना अच्छा नहीं जो दोष लादनी में सुलभ है ॥४३॥

श्लाद्यं हि राज्यानि विहाय राज्ञां धर्माभिलापेण वनं प्रवेष्टुम् ।

भग्नप्रतिक्षस्य न नूपपन्नं वनं परित्यज्य गृहं प्रवेष्टुम् ॥४४॥

धर्म की अभिलापा से राज्य क्लोककर वन में प्रवेश करना प्रशंसनीय है किन्तु प्रतिक्षा तोककर, वन स्थानकर, पर में प्रवेश करना गोप्य नहीं है ॥४४॥

जातः कुले को हि नरः ससन्त्वो धर्माभिलापेण वनं प्रविष्टः ।

कापायमुत्सृज्य विमुक्तलक्ष्मजः पुरन्दरस्यापि पुरं अवेत ॥४५॥

कौन ऐसा धैर्यराली मनुष्य होगा जो ( भेष ) कुल में उत्पन्न होकर धर्म की अभिलापा में वन में जाकर भी कापाय को स्थानकर निर्जल होकर इन्द्र के नगर में भी रह सकता है ॥४५॥

लोभाद्वि मोहाद्वया भयेन यो वान्तमन्तं पुनराददीत ।

लोभात्स मोहाद्वया भयेन संत्यज्य कामान् पुनराददीत ॥४६॥

लोभ मोह अथवा भय से वमन किये हुए अन्त को जो पिर से खायगा वही लोभ मोह अथवा भय से छोड़े हुए विषय का सेवन करेगा ॥४६॥

यद्य प्रदोमाच्छ्रणणात्कथंचिनिष्टम्य भूयः प्रविशेनदेव ।

गाहूरस्थ्यमुत्सृज्य स हाष्टदोपो मोहेन भूयोऽभिलषेद् ग्रहीतुम् ॥४६॥

अब वो चलते हुए पर से किसी तरह निकल कर पुनः प्रवेश करे, वही दोष देखकर यहस्थानम् का परित्याग कर देने पर, मोह के कारण पुनः प्रहृण करना चाहेगा ॥४७॥

या च श्रुतिमोहमवाप्तवन्तो नृपा गृहस्था इति नैतदस्ति ।

शमप्रधानः क्वच मोहवर्मो इष्टदग्धवानः क्वच राजधर्मः ॥४८॥

अब यह अति ( किवदन्ती ) कि राजा लोग यहस्थ होते हुए भी मोह पद को प्राप्त हुए—यह ऐसी बात नहीं है । यम प्रधान मोह धर्म कही ? एवं दसह प्रधान राजधर्म कहो ? ॥४९॥

शमे रतिश्चेन्द्रियिलं च राज्ये मतिश्चेच्छमविप्लवश्च ।

शमश्च तेज्जर्वं च हि नोपपन्नं शीतोष्णयोरेक्यमिवोदकाम्योः ॥५०॥

जिसकी शान्ति में रुचि होगी; उसका राज्य शासन शिखिल हो जायेगा । यदि राज्य में मति होगी तो शान्ति संग हो जावेगी । जिस प्रकार शोतल जल एवं उभय वायु का थोग नहीं है उसी प्रकार यम एवं लोक्यता का भी थोग नहीं है ॥५१॥

तनिश्चयाद्वा वसुधायिपास्ते राज्यानि मुक्त्वा शममाप्तवन्तः ।

राज्याह्विता वा निभृतेन्द्रियत्वादनैष्ठिके मोक्षकृताभिमानाः ॥५२॥

अतः उन राजाओं ने ( उपर्युक्त निश्चय के कारण ) राज्य स्थानकर मोह प्राप्त किया, वा राज्य के शासक होने हुए जितेन्द्रिय होने के कारण अनैष्ठिक ( पद ) में ही मोह का केवल अभिमान किया ॥५०॥

तेषां च राज्येऽस्तु शमो यथावन-प्राप्तो वनं नाहमनिश्चयेन ।

छित्वा हि पाशं गृहवन्धुसंबङ्गं मुक्तः पुनर्न प्रविविज्ञुरस्मि ॥५१॥

उनकी राज्य में ( जाहे ) शान्ति मिले ( किन्तु ) मैं दिना निश्चय के बा. में नहीं आया हूँ क्योंकि यह एवं बन्धु नामक वन्धन काटकर मुक्त हुआ हूँ । किर बन्धन में नहीं पड़ना चाहता ॥५२॥

इत्यात्मविलानगुणानुरूपं मुक्तस्युहं हेतुमदूर्जितं च ।

श्रुत्वा नरेन्द्रात्मजमुक्तवन्तं प्रत्युत्तरं मन्त्रधरोऽप्युत्त्राच ॥५२॥

इस प्रकार अपने ज्ञान एवं गुण के अनुरूप निष्ठुह इष्टान्त सहित श्रोतुवन्ती उत्तर देने वाले रावणमार के मन्त्रो ने भी प्रति उत्तर दिया ॥५२॥

यो निष्ठयो धर्मविधौ तथाव नायं न युक्तो न तु कालयुक्तः ।

शोकाय दत्त्वा पितरं वयस्य स्याद्गुर्मकासम्य हि तेन धर्मः ॥५३॥

धर्म भी विषय में तुम्हारा भी यह निष्ठय है ( यह ) असेत्य नहीं है, किन्तु तमय वर्णय नहीं है । यह पिता को शोक देकर धर्म इच्छुक तुम्हों धर्म नहीं होगा ॥५३॥

नन्तं च तु द्विस्तव नातिसूदमा धर्मार्थकामेष्वविचक्षणा वा ।

हेतोरहष्टस्य फलस्य यस्त्वं प्रत्यक्षमर्थं परिभूय याति ॥५४॥

निष्ठय तुम्हारी तुदि, धर्म, अर्थ, काम में अति दृढ़म नहीं है वा मूर्ख ही है । क्योंकि तुम अहष्ट फल के निमित्त प्रत्यक्ष अर्थ ( सम्पत्ति ) का तिरस्कार करके वा रहे हो ॥५४॥

पुनर्मोऽस्तीति च वेचिदाहुर्नास्तीति केचिन्नियतप्रतिज्ञाः ।

एवं यदा संशयितोऽयमर्थस्तस्मात्तद्वाम भोक्तुमुपस्थिता श्रीः ॥५५॥

कुछ लोग कहते हैं कि 'पुनर्बन्ध है', और कुछ हड्ड प्रतिश दोकर कहते हैं 'पुनर्बन्ध नहीं है'—इस प्रकार जब कि वह विषय संदिग्ध है तो ( प्रस्पृश ) प्राप्त जात्मी का उपभोग करना ही उचित है ॥५५॥

भूयः प्रवृत्तिर्थदि काव्यदस्ति रस्यामहे तत्र यद्योपपत्तौ ।

अथ प्रवृत्तिः परतो न काव्यस्तिद्वोऽप्रवृत्त्वाऽऽजगतोस्य मोक्षः ॥५६॥

यदि फिर कोई प्रवृत्ति है तो फिर वहाँ जो कुछ प्राप्त होगा, उसी में रमेंगे । याद इससे परे कोई प्रवृत्ति नहीं है तो चिना प्रयत्न के इस विश्व का मोक्ष तिद्द है ॥५६॥

अस्तीति केचित्परतोकमाहुर्मोक्षस्य योगं न तु वर्णयन्ति ।

अग्नेयर्था लौण्डयमपा द्रवत्वं तद्वत्प्रवृत्ती प्रकृतिं वदन्ति ॥५७॥

कुछ लोग कहते हैं—‘परलोक है’ किन्तु मोर्त्य की तुकिं (वे) नहीं बताते हैं। वे कहते हैं—‘वैसे अग्नि में उष्णाता एवं जल में द्रवत्व है वैसे हो प्रवृत्ति में स्वभाव ही है’ ॥५७॥

केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति शुभाशुभं चेव भवाभवी च ।

स्वाभाविकं सर्वमिदं च स्वभावदतोऽपि मोर्धो भवति प्रयत्नः ॥५८॥

कुछ लोग इस प्रकार वर्णन करते हैं—‘शुभ, अशुभ, जन्म एवं मृत्यु स्वभाव से होते हैं।’ जब कि यह सब ( कुछ ) स्वाभाविक है इसलिए भी प्रयत्न व्यथ है ॥५८॥

यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः प्रियाप्रियत्वं विषयेषु चेव ।

संयुज्यत यज्ञवरयाचिभित्र कस्त्र यत्ता ननु स्वभावः ॥५९॥

जा हन्त्रियों का प्रचार ( विषयों में प्रवृत्ति ) नियत है, प्रिय तथा अप्रिय ( राग द्वेष ) किष्यों ने ( नियत ) है एवं जा लोग जरा तथा रोग से संयुक्त होते हैं—इन सबमें प्रयत्न क्या ? यह तो नियत स्वभाव है ॥५९॥

आद्विहृताशः शम्भम्भुपैति सेवांसि चापो गमयन्ति शोषम् ।

भिन्नानि भूतानि शरीरसंस्थान्येष्व च गत्वा लगदुड्हरन्ति ॥६०॥

जल से अग्नि दुखती है एवं अग्नि से जल दखता है। शरीर में स्थित भूत ( पाँचों तत्त्व ) भिन्न-भिन्न हैं और एक होकर जगत् बनाते हैं ॥६०॥

यत्पाणिपादोदरपृष्ठमूर्खां निवर्तते गर्भगतस्य भावः ।

यदात्मनस्तस्य च तेन योगः स्वाभाविकं तत्क्षययन्ति तज्ज्ञाः ॥६१॥

गर्भ में आने पर ( धीव के ) बो हाय, पैर, उदर, पीठ, एवं मस्तक वत्पन्न होते हैं और आसमा से उनका संयोग होता है—रहस्याता इन सबको स्वाभाविक बताते हैं ॥६१॥

कः कुरुकस्य प्रकरोति तैद्वयं विचित्रभावं सूर्यपञ्चिणां वा ।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामकारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ॥६२॥

कौटों को लौद्य एवं मूर्ग-पश्चिमों के विचित्रविचित्र भाव कीन बनाता ६ चू० च०

है ? यह सब स्वभाव से हुआ है । इसमें इच्छाचारिता नहीं है, फिर प्रयत्न कहीं ? ॥६२॥

सर्गं वदन्तीश्वरतस्तथान्ये तत्र प्रयत्ने पुरुषस्य कोऽर्थः ।

य एव हेतुर्जगतः प्रवृत्तौ हेतुनिष्टुतौ नियतः स एव ॥६३॥

इसी तरह अन्य व्यक्तियों का कथन है—‘चहि ईश्वर से होती है’ उसमें पुरुष के प्रयत्न की क्या आवश्यकता ? अगत को प्रवृत्ति में जो कुछ कारण है, निष्ठा में भी वही कारण नयत है ॥६३॥

केचिद्वदन्त्यात्मनिमित्तमेव प्रादुर्भवं चैव मवक्षयं च ।

प्रादुर्भवं तु प्रवदन्त्ययनायलेन मोक्षाधिगमं त्रुयन्ति ॥६४॥

कुछ लोग कहते हैं—‘प्रादुर्भाव एवं विकल्पय का कारण आत्मा है।’ ‘प्रादुर्भाव यिना यत्न से’, बताते हैं । एवं ‘मोक्ष-ग्राहि यत्न से बताते हैं ॥६४॥

नरः पितृणामनृणः प्रजाभिवैद्यक्षयोणां कलुभिः सुराणाम् ।

पत्पदमेति सार्वसृणैन्द्रियभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्षः किल तस्य मोक्षः ॥६५॥

मनुष्य, उन्नान द्वारा पितरो के, वेद द्वारा व्युषियों के एवं यज्ञ-द्वारा देवों के । मृत्यु से मुक्त होता है । वह तीन अल्पों के साथ उल्लंघ होता है । जो उनसे मुक्त होता है, उसी का मोक्ष है ॥६५॥

इत्येवमेतेन विधिकमेण मोक्षं सव्यवस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ।

प्रयत्नवन्तोऽपि हि विकमेण मुमुक्षवः खेदमवानुवन्ति ॥६६॥

इस प्रकार इस विधि-क्रम से यत्न करनेवाले को मोक्ष मिलता है—ऐसा उत्त्ववेचाओं का कथन है । पराक्रम से प्रयत्न करनेवाले भी मुमुक्षु कहु का अनुभव करते हैं ॥६६॥

तत्सौम्य मोक्षे यदि भक्तिरस्ति न्यायेन सेवस्व विधि यथोक्तम् ।

एवं भविष्यत्तुपपत्तिरस्य संतापनाशाश्व नराधिपस्य ॥६७॥

अरः हे सौम्य ! यदि मोक्ष में मक्ति है तो बताये माये ( शास्त्र ) विधि

का उचित रीति से सेवन करो । ऐसा करने पर इसकी प्राप्ति होगी एवं राजा के सन्ताप का नाश होगा ॥५७॥

या च प्रथुचा तब दोषयुद्धिस्तपोवनेभ्यो भवनं प्रवेद्धुम् ।

तत्रापि चिन्ता तब तात मा भूत् पूर्वेऽपि जग्मुः स्वगृहान्वनेभ्यः ॥५८॥

और हे तात ! तपोवन से घर लौटने में तुम्हारी बुद्धि, जो दोष देखती है, उस विषय में भी भूम्हे चिन्ता नहीं करना चाहिए । पूर्व काल में भी लोग बन से छापने घर लौटे हैं ॥५८॥

तपोवनस्थोऽपि युतः प्रजाभिर्जगाम राजा पुरमस्वरीपः ।

तथा मर्ही विप्रकृतामनार्थस्तपोवनादेत्य ररक्ष रामः ॥५९॥

तपोवन में रहने पर भी राजा अम्बरीप प्रजाओं से घिरकर नगर को गये । तथा वन अनायों से पृथ्वी आकाश हुई तब वन से आकर राम ने उसकी रक्षा की ॥५९॥

तथैव शाल्वाविपिण्डुमारुणो वनात्सम्भुर्नगरं विवेश ।

ब्रह्मपिभूतश्च मुनेर्वसिष्ठाद्ये शिवं सांकुतिरन्तिदेवः ॥६०॥

उसी तरह ड्रुम नामक राज्ञ (देश) का राजा पुत्र के साथ वन से नगर में आया एवं संकुत के पुत्र रान्तिदेव ने जो ब्रह्मपि हो गये थे, विशिष्ट मुनि से राज्यकालमी महाय की ॥६०॥

एवंविद्या भर्मयशः-प्रदीपा वनानि हित्वा भवनान्वर्तीयुः ।

तस्मान्न दोषोऽस्ति यहं प्रयातुं तपोवनाद्वर्मनिमित्तमेव ॥६१॥

धर्म और यश से देवोप्यमान् इस प्रकार के लोग वन छोड़कर घर लौटे । अतः धर्म के निमित्त ही तपोवन से घर लौटने में कोई दोष नहीं है ॥६१॥

ततो वचस्तस्य निशन्य मन्त्रणः प्रियं हितं चैव नृपस्य चक्रुचः ।

अनूनमन्यस्तमसकमद्रुतं धृतौ स्थितो राजसुतोऽवरोद्धवः ॥६२॥

राजा के नेत्र स्वरूप उस मन्त्रो के प्रिय एवं हितकर वनन सुनकर, थेर में स्थित राजकुमार, परिष्ठूर्ण, ठोस, स्पष्टार्थ एवं शान्त वनन बोला—॥६२॥

इहास्ति नास्तीति य एव संशयः परस्य वाक्येन ममात्र निश्चयः ।

अवेत्य तत्त्वां तपसा शमेत च स्वयं प्रहीण्यामि यद्व निश्चितम् ॥७३॥

इस संसार मे 'आस्ति', 'नास्ति' ('है', 'नहीं है')—यह जो संशय है, इस सम्बन्ध मे दूसरो को बातों से मेरा निश्चय नहीं होगा । तपस्या एवं शान्ति से तत्त्व जानकर, यहाँ जो निश्चय होगा, उसे मैं स्वयं महस्य करूँगा ॥७३॥

न मे चमं संशयजं हि दर्शनं प्रहीतुमन्यवचपरस्पराहतम् ।

तुधः परप्रत्ययतो हि को व्रजेऽजनोऽन्यकारेऽन्य इच्छान्धदेशिकः ॥७४॥

संशयजस्य, अस्पष्ट एव परस्पर विरोधी दर्शनं ग्रहण्य करना इमारे लिये उचित नहीं है । अभ्या देशिक ( गुरुवाला ) अभ्या ( शिष्य ) के समान कौन विद्वान् दूसरो के विश्वास पर व्यधेरे मे चलेगा ॥७४॥

अहष्टतत्त्वस्य सतोऽपि कि तु मे शुभाशुभे संशयिते शुभे मतिः ।

शुशापि खेदो हि वरं शुभात्मनः सुखं न तत्त्वेऽपि विगहितात्मनः ॥७५॥

यतापि मुक्ते तत्त्वोच नहीं हुआ है तथापि शुभ एव अशुभ मे सन्देह होने पर शुभ मे ही भेरा तुदि है । शुभात्मी का हृषा परिअम भी अच्छा है ( किन्तु ) अशुभात्मी का यथार्थ सुख भी अच्छा नहीं है ॥७५॥

इमं तु द्वयागममन्यवस्थिते यदुक्तमासैस्तदवेहि साच्चिति ।

प्रहीणदोषत्वमवेहि चाप्तां प्रहीणदोषो द्वन्द्वतं न वद्यति ॥७६॥

इस शास्त्र को असम्बद्ध देखकर, जो आत्मनो ने कहा है उसी को साझा कानो और विसमे दोष नहीं, उसी को आत्म जन जानो । क्योंकि दोषशस्त्र अकिं मिळा नहीं जोलेगा ॥७६॥

यहप्रवेशं प्रति यत्र मे भवानुवाच रामप्रभृतानिदर्शोनम् ।

न ते प्रमाणं न हि धर्मनिश्चयेष्वलं प्रमाणाच्य परिज्ञतवताः ॥७७॥

यहप्रवेश के सम्बन्ध मे आपने राम आदि के जो उदाहरण दिये, वे प्रमाण नहीं हो सकते किनका बत मज्ज ही गया है वे धर्म के निर्णय मे प्रमाण नहीं माने जा सकते ॥७७॥

तत्त्वेषमप्येव रविमहीं पतेदपि स्थिरत्वं हिमवान् गिरिस्त्यजेत् ।

अहष्टतत्त्वो चिष्ययोन्मुखेन्द्रियः अयत्र न तत्वेव गृहान् षुधर्मजनः ॥७८॥

अतः य द सर्वं भी पृथ्वी पर भिर जाये, दिमालय स्थिरता होकर दे (चलने लगे) किन्तु मैं, यिना तत्क देखे, इन्द्रियों को विषयों की ओर मोड़कर, अजानी बनकर घर नहीं जाऊँगा ॥७५॥

अहं विशेषं उवलितं हृताशानं न चाहृतार्थः प्रविशेषमालयम् ।

इति प्रतिक्षां स चकार गवितो वयेष्टमुत्खाय च निर्ममो ययौ ॥७६॥

मैं प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर लूँगा, किन्तु असफल होकर घर में प्रवेश नहीं करूँगा—अभिमान के साथ उसने ऐसी प्रतिक्षा की (एवं) ममता रहित होकर एक ओर इच्छानुसार उठकर चल दिया ॥७६॥

ततः सवाप्णी सचिवद्विजातुभौ निशम्य तस्य स्थिरसेव निश्चयम् ।

विषयणाववत्रावनुगम्य दुःखितौ शनैरगत्या पुरमेव जग्मतुः ॥७७॥

तब मन्त्रो एव पुराहित—ऐनो उसके हृद विचार मुनकर हुली हुए एव म्लान मुख रोते हुए ( कुछ दूर ) उसके पीछे पीछे गये । फिर हताश होकर शनैः शनैः नगर की ही ओर चलने लगे ॥७७॥

तस्नेहादप्य लृपतेष्व भक्तिसत्सौ सापेष्व प्रतिययतुरुच तस्थतुरुच ।

दुर्धर्ष्ये रविमिव दीप्तमात्मभासा तं द्रष्टुं न हि पविशेषकुर्वन्मोक्षुम् ॥७८॥

ते दोनों, उसके स्नेह से एव राजा को भक्ति से सम्बद्ध होकर यानो गये ( फिर ) खड़े हुए । शपने प्रभाव से सर्व लदवा उस दीप्तिमान् को शास्त्र में न तो देखने में समर्प हुए ( और ) न ल्यागने में ॥७८॥

तौ छातुं परमगतेर्गतिं तु तस्य प्रच्छन्नाश्चरपुरुपाच्छुचीनिविभाय ।

राजानं प्रियमुतलालासं तु गत्वा द्रक्ष्यावः कथमिति जग्मतुः कर्त्त्वचिन ॥७९॥

इति श्रीअश्वघोषकृते पूर्ववुद्धचरितमहाकाव्ये

कुमारान्वेषणो नाम नवमः सर्गः ।

उस परम गतिशील की गति जानने के लिये विश्वासी गुप्तचरों को नियुक्त करके वे दोनों, प्रिय पुत्र में लालसा आले राजा को ( शोध ) जाकर कैसे देखें, इस अभिप्राय से कठिनाई से लौटे ॥७९॥

वह पूर्ववुद्धचरित महाकाव्य में कुमार-बन्वेषण नामक

नवम सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ दशमः सर्गः

ओष्याभिगमनः

विम्बसार का आगमन

स राजवत्सः पृथुपीनवक्षास्ती हव्यमन्त्राधिकृती विहाय ।  
उत्तोर्य गङ्गां प्रचलात्तरङ्गां श्रीमद् गृहं राजगृहं जगाम ॥१॥

वह राजकुमार, विलभी छाती चौड़ी एवं स्थल है, पुरोहित एवं मन्त्री को छोड़कर चलायमान तरङ्गोवाली गंगा को पार कर, लक्ष्मीसम्पन्न भवनों से गुक्क राजगृह को गया ॥१॥

शैलैः सुरुप्रे च विभूषितं च धृतं च पूर्तं च शिवैस्तपोदेः ।

पद्माचलाङ्गु नगरं प्रपेदे शान्तः स्वयम्भूरिव नाकपृष्ठम् ॥२॥

पर्वतो से सुरक्षित एव सुशोभित, मंगलमय वस्त्रकुश्लों से गुक्क एवं पवित्र पाँच अंचलों ( पर्वतो ) से चिह्नित नगर में शान्तचित्त उसने, त्वं में ब्रह्मा की तरह, पवेश किया ॥२॥

गाम्मीर्यमोजरच निशान्य तस्य वपुश्च दीप्तं पुरुषानतीत्य ।

विसिस्मये तत्र जनस्तादार्वी स्वागुव्रतस्येव वृषभजस्य ॥३॥

स्थायी व्रती चित्र के समान, उसके पुरुषों का अतिकमण करनेवाले गाम्मीर्य, प्रभाव, शरीर एवं तेज देखकर, यहाँ के लोग उस समय विस्मित हुए ॥३॥

तं प्रेत्य योऽन्येन यदी स तस्यी यस्तत्र तस्यी पथि सोऽन्वगच्छत् ।

द्रुतं यदी यः स जगाम धीरं यः कर्हिचशास्ते स्म स चोत्पात ॥४॥

दूसरे देखकर, जो दूसरी ओर जा रहा था, नह गया, जो इका हुआ था, वह मार्ग में फेंडनीचे गया, जो टेब्बी से जा रहा था, वह धीरे-धीरे चला एवं जो कोई बैठा था, वह उठकर उड़ा दो गया ॥४॥

कश्चित्समानर्थं जनः कराम्यां सल्कुलव करिचच्छ्रसा व्वन्दे ।

सिनाथेन कविद्वचसाभ्यनन्दन्नैन जगामाप्रतिपूज्य कवित् ॥४॥

किसी ने हाथो से उसकी पूजा की, किसी ने सत्कार करके शिर से प्रणाम किया, किसी ने प्रिय वचन से अभिनन्दन किया । इसकी पूजा किए विना कोई नहीं गया ॥५॥

तं जिह्वियुः प्रेत्य विचित्रवेणाः प्रकीर्णवाचः पथि मौनमीयुः ।

धर्मस्य साक्षादिव संनिकर्षं न कविद्वन्यायमतिव्यभूव ॥६॥

उसको देखकर वित्र-विचित्र वेष्वाले लज्जित हुए । बहुत बात करनेवाले रास्ते में मान हो गए । प्रत्यक्ष धर्म के समान, उसके निकट किसी को अन्याय बुढ़ि नहीं हुई ॥६॥

अन्यक्रियाणामपि राजमार्गे स्त्रीणां नृणां वा बहुमानपूर्वम् ।

तं देवकल्पं नरदेवसुनुः निरीक्षमाणा न तत्परं दृष्टिः ॥७॥

विभिन्न कारों में लगे होने पर भी किसी व पुकारों की इष्टि गवमार्ग में देवता सदरा उस राजकुमारको अन्यन्त आदरसे देखती हुई तुर नहीं हुई ॥७॥

भ्रूं ललाटं मुखमीक्षणे वा बपुः करौ वा चरणी गतिं वा ।

यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र तदेव तस्याथ वद्वन्ध चक्षुः ॥८॥

उसकी भ्रूंकुटी, ललाट, मुख, नेत्र-शरीर, हाथ, पैर ( चरण ), गमन ( इनमें ) जो भी जिसमें देखा, वही ( उसी पर ) उसकी हाँड़ बैठ गई ॥८॥

दृष्टा च सोर्णभ्रूवमायताच्च उवलच्छरीरं शुभजालहस्तम् ।

तं भिज्ञवेषं विविषालनाहं संचुञ्जुमे राजगृहस्य लक्ष्मीः ॥९॥

सोम बहुल भ्रूंकुटी, विशाल नयन, गोर शरीर, शुभ बाल ( रेखा ) मुक्त हाथवाले उनको—‘जो पृथ्वी-पालन में समर्थ होते हुए भी भिज्ञ वेष में थे’—देखकर राज-हाइ की लक्ष्मी लुभित हुई ॥९॥

श्रेष्ठोऽय भर्ता मगधाक्रियस्य वाण्डाद्विमानाद्विपुलं जनैषम् ।

ददर्श प्रचल्य च तस्य हेतुं तत्स्तमस्मै पुरुषः शशंस ॥१०॥

तब मगध प्रान्त के राजा श्रेष्ठ ( बिन्बसार ) ने महल पर से देखा कि

बाहर (भाग में) विशाल उन समुदाय है, और उसका कारण पूछा। तब एक राजपुत ने उसको बताया—॥१०॥

ज्ञानं परं वा पृथिवीश्चिं वा विप्रैर्यं उक्तोऽधिगमिष्यतीति ।  
स एष शाक्याधिपतेस्तनुजो निरीच्यते प्रव्रजितो जनेन ॥११॥

विप्रो ने जिसे बताया था कि या सो वह परम ज्ञान प्राप्त करेगा अथवा पृथिवी की लक्ष्मी प्राप्त करेगा—वहाँ यह शाक्यराज का पुत्र परिवारक हो गया है। लोग उसे देख रहे हैं ॥११॥

ततः भुतार्थी मनसागतास्थो राजा व्रभाये पुरुषं तमेव ।  
विज्ञायता क्व प्रतिगच्छतीति तथेत्यर्थेन पुरुषोऽन्वगच्छत ॥१२॥

तब कारण सुनकर, मन से सम्मान करते हुए राजा ने उसी पुरुष से कहा—“पता क्या आओ, कहाँ वा रहा है ?” वह पुरुष “अच्छा”—ऐसा कह कर उसके पीछे-पीछे गया ॥१२॥

अलोकचतुर्युगमात्रदर्शी निवृत्तवामयनित्रतमन्दिगामी ।  
चत्वार भित्तां स तु भिजुवर्यो निधाय गात्राणि चलं च चेतः ॥१३॥

उसकी हाइ सिफर थी, दो डग ही आगे देखता था, बाही मौल थी, गति निर्वामित एवं मन्द थी। शरीर तथा चंचल चित्त को नम्र करके वह भिजुत्तेषु भित्ता माँग रहा था ॥१३॥

आदाय भैङ्गं च यथोपपन्तं यथो गिरेः प्रस्तवणं विविक्तम् ।  
न्यायेन तत्राभ्यवहृत्य चैनन्महीघरं पाण्डवमानरोह ॥१४॥

भित्ता में थोकुल मिज गया उसे केकर पर्वत के एकान्त निर्भर के पास गया और वहाँ उसे शमानकुल लाकर पाण्डव पर्वत पर चढ़ गया ॥१४॥

तत्मन्नवौ लोप्रदनोपगृहे मयूरनादप्रतिपूर्णकुञ्जे ।  
कापायव्रासाः स चमौ नृसूर्यो यथोदयस्योपरि वालमूर्यः ॥१५॥

कापायव्रासारी वह नरसूर्य लोप्रदन में ब्यास एवं मचूरी के नाद से गुजायमान लतामध्यन बाले उस पर्वत पर ऐसा सुशोभित हुआ मानो उदय-गिरि पर वाल-सर्व हो ॥१५॥

तत्रैनमालोक्य स राज्यभूत्यः अलयाय राहे कथयोचकार ।

संश्लेष्य राजा स च बाहुमान्यात्तत्र प्रतस्थे निभृतानुयात्रः ॥१६॥

उस राज्यपुरुष ने वहाँ उसे देख कर, राजा अलय को, आकर बताया । तथा उस राजा ने यह सुनक, अत्यन्त आदर के कारण परिमित अनुचरों के साथ प्रस्थान किया ॥१६॥

स पाण्डवं पाण्डवतुल्यवीर्यः शैलोचमं शैलसमानवर्ष्मा ।

मौलीधरः सिंहगतिन् सिंहश्रलत्सटः सिंह इवारुदोह् ॥१७॥

पाण्डवों के समान वीर्यवान्, शैल के समान ( विशाल ) शरीर वाजा, मुकुटधारी, जिह की गति वाला वह ( राजा ), पाण्डव नामक उत्तम पर्वत पर उस तिह के समान चढ़ा विसके केशर चंचल है ॥१७॥

ततः स्म तस्योपरि शृङ्गभूतं शान्तेन्द्रियं परत्यति वोधिसत्त्वम् ।

पर्यंकुमास्थाय विरोचमानं शशाङ्कमुच्यन्तमिवाभ्रकुबजात् ॥१८॥

तब उस पर्वत के ऊपर, शिशर सट्टा, पर्यंकुमास्थाय मे देखे हुए शान्त इन्द्रिय उस वोधिसत्त्व को उसी प्रकार चमकते हुए देखा वैसे ये पृष्ठपट्टा से उगता हुआ चन्द्रमा चमकता है ॥१८॥

तं रूपतत्त्वम् च शमेन चैव धर्मस्य निर्माणमिवोपविष्टम् ।

सविस्मयः प्रश्रयवान्नरेन्द्रः स्वयम्भुवं शक्त इवोपतस्थे ॥१९॥

रुप की शोभा तथा शान्ति के द्वारा, धर्म के निर्माण ( मृति ) की तरह विशालमान उसके पास, राजा विस्मित होते हुए विनीत भाव से ऐसे गया जैसे ब्रह्मा के पास इन्द्र चा रहा हो ॥१९॥

तं न्यायतो न्यायविदां वरिष्ठं समेत्य पप्रक्ष च धातुसाम्यम् ।

स चायवोचत्सद्विन सान्ना तृप्तं मनःस्वास्थ्यमनामयं च ॥२०॥

न्यायवेत्ताओं मे वरिष्ठ उस ( कुमार ) के पास उचित गीति से जाहर ( उससे ) धातुसाम्य—आरोग्य पूछा और उसने भी राजा को यथायोग्य शान्त भाव से ( आपनी ) मानसिक शान्ति एवं आरोग्य बताये ॥२०॥

तनः शुचौ वारणकर्णीनीले शिलातले संनिष्ठसाद राजा ।

उपोपविश्यानुगतश्च तस्य भावं विजिङ्गासुरिदं चभाषे ॥२१॥

तद राजा, हाथी के ब्लान के समान नील वर्ण<sup>१</sup> शिलातल पर—जो कि साफ था—बैठा । बैठकर एवं उससे आज्ञा पाकर, उसके मात्र जानने की इच्छा से इस प्रकार बोला—॥२१॥

प्रीतिः परा मे भवतः कुलेन कमागता चैव परीचिता च ।

जाता विवक्षा स्ववयो यतो मे तस्मादिदं स्नेहवचो निवोष ॥२२॥

आपके कुल से परम्परागत एवं परीचित, मेरी वही प्रीति है । अतः हे मिथ ! (कुछ) बोलने की इच्छा हुई है । अतः यह स्नेह-युक्त वचन मुनिने ।

आदित्यपूर्वं विपुलं कुर्वते नवं वयो दीपमिदं वपुञ्च ।

कस्मादियं ते मतिरक्तमेण भैराकं एवाभिरता न गच्छे ॥२३॥

आपका कुल महान है, यह से प्रारंभ हुआ है । आपकी अवस्था नहीं है एवं यह शरीर भी देवीष्यमान है । किस फारण कम तोड़कर आपकी मति भिज्ञा में रमी ( तथा ) राज्य में न रमी ॥२३॥

गात्रं हि ते लोहितचन्द्रनार्हं काषायसंख्लेषमनहंसेतत् ।

हस्तः प्रजापालनयोग्य एष भोक्तुं न चार्हः परदत्तमन्नम् ॥२४॥

आपका गात्र तो रक्त चन्द्रन ( लेप ) के यथा है, काषाय वज्र घारण करने योग्य नहीं है । एवं यह हाय प्रजापालन के योग्य है, दूसरी का दिवा हुआ अन्न खाने के योग्य नहीं है ॥२४॥

तत्सौम्य राज्यं यदि पैतृकं त्वं स्नेहात्पितृनेच्छ्रसि विकमेण ।

न च कमं मर्षयितुं मतिस्ते मुड्डवार्घमस्मद्विषयस्य शिग्रम् ॥२५॥

अतः हे सौम्य ! यदि आप स्नेहवश पिता से पैतृक राज्य प्राप्त करने द्वारा नहीं लेना चाहते एवं कम को लहने में पिता के बाद राज्य प्राप्ति सक सकने में आपकी मति समर्थ नहीं है तो शीघ्र ही मेरा आज्ञा राज्य मोगिये ॥२५॥

एवं हि न स्वात्मजनावमर्दः कालकमेणापि शमश्या श्रीः ।

तस्माल्कुरञ्च प्रणायं भवित्वं सद्गुः सहीवा हि सतां समुद्दिः त्रू दि ॥

ऐसा करने से सज्जनों को अवमद ( उत्तीकन अथवा बन्धु विरोध ) नहीं होगा एवं शान्ति का आधय सेवेवाली सम्पत्ति भी समय पर प्राप्त होगी । अतः हमारे लाय मैत्री कीजिए । सज्जनों की संगति से सज्जनों की ही समृद्धि होती है ॥२६॥

अथ त्विदार्ती कुलगर्वितत्वादस्मासु विश्रम्भगुणो न तेऽस्ति ।

न्यूदान्यनीकानि विगाहा वाणीर्थया सहायेन परान् जिगीष ॥२७॥

यदि इस समय उपरको अपने कुल के अभिमान के कारण मुझ पर विश्वास नहीं है तो मुझ सहायक के लाय प्रबल सेना में प्रवेश करके लाशों से शान्ति की जीतिये ॥२८॥

तदचुद्धिमत्रान्यतरं वृणीष्व धर्मार्थकामान्विधिवद्वजस्व ।

व्यत्यस्य रागाविहृ हि त्रिवर्गं प्रेत्येह च अंशमवाप्नुवन्ति ॥२९॥

अतः ये मैं से एक तुदि रिधर कीजिए । धर्म-धर्थ-कामों का विधिवत् सेवन कीजिये, क्योंकि रागवश त्रिवर्ग का व्यतिक्रम करनेवाली का परलोक एवं इस लोक में भी पतन होता है ॥२८॥

यो हार्षधर्मो परिपीड्य कामः स्वाद्धर्मकामी परिभूय चार्थः ।

कामार्थयोओपरमेण धर्मस्त्याज्यः स कृत्वा यदि कांचितोऽर्थः ॥२८॥

अर्थ एवं धर्म को पीड़ित करके जो काम होता है तथा धर्म और काम को प्राप्ति करके जो अर्थ होता है एवं काम व अर्थ को नष्ट करके जो धर्म होता है—वह त्याग्य है, यदि सम्पूर्ण अर्थ ( प्रयोजन ) को सिद्ध अभिलिप्ति है तो ॥२९॥

तस्मात्तिवर्गस्य निषेवणेन त्वं रूपमेतत्सफलं कुरुष्व ।

धर्मार्थकामाधिगमं हानूनं नृणामनूनं पुरुषार्थमाहुः ॥३०॥

अतः त्रिवर्ग का सेवन करके आप इस रूप को सफल करें, क्योंकि धर्म, अर्थ एवं काम की सम्पूर्ण रूप से प्राप्ति ही मनुष्यों का सम्पूर्ण पुरुषार्थ कहा है ॥३०॥

तत्रिष्टकती नार्हसि कर्तुमेतौ पानीं मुजौ चापविकपंजार्ही ।

मान्धारुवज्जेतुमिमी हि योग्यौ लोकानपि जीनिह कि पुनर्गाम् ॥३१॥

अतः आप, अनुच लद्वाने योग्य हन मोटी भुजाओं को अपर्यं न करे ।  
ये ( भुजाएँ ) मांचाता के समान तीनों लोक बीहने के योग्य हैं पिछर पूछो की  
तो जात ही क्या ? ॥३१॥

स्नेहेन स्वल्पेतदहं त्रिवीभि नैरवर्वरागेण न विस्मयेन ।

इसे हि द्वात्र तथ भिज्ञुवेषं जातानुकम्पोऽुस्मयपि चामताकुः ॥३२॥

निष्ठय ही मैं सोह से यह कह रहा हूँ, ऐश्वर्य के राग से नहीं, और न  
त्रिभिमान से । आपका यह भिज्ञुवेष देख कर मुझे देखा आतो है एवं आँख  
आ गये हैं ॥३२॥

बावस्त्रवंशाप्रतिरूप ! रूपं न ते जराभ्येत्यभिभूय भूयः ।

तद्गुरुद्वयभिज्ञाश्रमकाम ! कामान् कालेऽसि कर्ता प्रिवधर्म । धर्मम् ॥३३॥

दे आपने बंश को प्रतिरूपति । आपके रूप को दबाकर बुद्धावस्था तथ तक  
युनः नहीं आतो है तथ तक, हे भिज्ञा आश्रम के इच्छुक ! विषयों को  
भोगिये । हे धर्मनिपिन ! समय पर धर्म कीजिये ॥३३॥

शक्तनोति जीणः स्वलु धर्ममाप्नुं कामोपमोगेष्वगतिर्जनयाः ।

अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्वविशय धर्मम् ॥३४॥

बुद्धा ( आश्रमी ) धर्मं प्राप्त कर सकता है । कामोपमोगों में बुद्धापे की  
शक्ति नहीं है । अतः युवा के लिये काम, मध्य के लिये सन एवं द्रद के लिये  
धर्म—( इस प्रकार ) कहते हैं ॥३४॥

धर्मस्य चार्थस्य च जीवकोंके प्रत्यर्थिभूतानि हि जीवनानि ।

संरक्षयमाणान्वपि दुर्महाणि कामा यतस्तेन पथा हरन्ति ॥३५॥

संसार ने जीवन, जमं एव आर्थ का शत्रु है । प्रयत्नार्थक रक्षा करने पर  
भी उन्हें ( धर्म तथा आर्थ को ) दबाना कठिन है । तपोकि काम उसी मार्ग  
( विषय भोग ) से उन्हें हर लेता है ॥३५॥

वयांसि जीर्णानि विमर्शवन्ति धीराशयवस्थानपरायणानि ।

अल्पेन गलेन शामात्मकानि भवन्त्यगत्यैव च लक्ष्यया च ॥३६॥

बरा अवस्था विचारजीव, धोर तथा स्थिर आभयवाली होती है ।  
अचारी तथा लड़का के कारण थोड़े ग्राम से ही शान्ति प्राप्त होती है ॥३६॥

अतथ्य लोलं विषयप्रधानं प्रमत्तमचान्तमवीर्ददर्शी ।

बहुचक्षुलं यौवनमभ्यतीत्य निस्तीर्थं कान्तारमिवाश्वसन्ति ॥३७॥

अतः चपलं, विषयप्रधानं, मदाम्ब, अभीर, अटुरदर्शी एवं बहुत कमीदी यौवन ( युवावस्था ) को पार करके लोग आश्वासन ( विश्राम ) पाते हैं जैसे लंगल को पार करने पर विश्राम मिलता है ॥३७॥

तस्मादधीरं चपलप्रमादि नवं वयस्तावदिदं व्यपैतु ।

कामस्य पूर्वे हि वयः शरव्यं न शक्यते रक्षितुमिन्द्रियेभ्यः ॥३८॥

अतः उद्धत, लंगल एवं प्रमादी यह नई युवती तथा तक बीत चाप, क्योंकि नई युवानो ही कामदेव का लक्ष्य ( निशाना ) है । इन्द्रियों से इसकी ( युवानी की ) लज्जा करना आठक्कर है ॥३८॥

अथो चिकीपां तद्यथं पूर्वं यजस्व यज्ञं कुलधर्मं एषः ।

यज्ञं रथिष्ठाय हि नागपृष्ठं यद्यौ मनत्वानपि नाकपृष्ठम् ॥३९॥

यदि आपको धर्म ही करना है तो यह कौनिये । यह करना आपका कुलधर्म है । यह करके इन्द्र, हाथा की पीठ पर बैठकर स्वर्ग का गया था ॥३९॥

सुवण्णेकेयुरविद्वद्वाहवो मणिप्रदीपोजप्तवलचित्रमौलयः ।

नूपर्वयस्तां हि गतिं गता भस्त्रैः श्वेषं यामेव महर्षयो ययुः ॥४०॥

स्वर्ण के बेयूरो से समझ मुजाओं वाले, मणि रूप प्रदोष से उड़वल एवं चित्र-विचित्र मुकुट वाले राजाय गण यह के द्वारा उसी गति को प्राप्त हुए जिस गति को महर्षि गण भ्रम ( कठिन तपस्या ) से प्राप्त हुए हैं ॥४०॥  
इत्येवं मगधपतिवैवो वभाषेवः सम्यग्बलभिदिव ब्रुवन् वभासे ।  
तच्छ्रुत्वा न स विच्चाल राजसुनुः कैलासो गिरिरिव नैकचित्रसानुः ॥४१॥

इति श्रीअश्वघोषकुते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये

अंगस्याभिगमनो नाम दशमः सर्गः ।

मगधके लघिपति ने इस प्रकार बचन कहा । अच्छुदो तरह बोलते हुए यह, इन्द्र के समान शोभित हुआ । चित्र-विचित्र शिल्प वाला, कैलास पर्वत के समान ( अटल ) वह राजकुमार, उसकी बातें मुनकर विचित्र नहीं हुआ ॥४१॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्य में 'विभवसार का आगमन' नामक

दशम सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ एकादशः सर्गः

कामविगर्हणः

काम-निन्दा

अथेवमुक्तो मगधाविपेन सुहन्मुखेन प्रतिकूलमर्थम् ।

स्वस्योऽविकारः कुलशासौचशुद्धः शौद्धोदनिक्यमिदं जगाद् ॥१॥

इसके द्वितीय प्रमुख मित्र मगधराज ( विभवसार ) ने अब इस प्रकार के प्रतिकूल बचन कहे, तब कुल एवं ( निज ) आचरण से भी शुद्ध शुद्धोदन के युवा ने अत्युच्च एवं अचल भाव से यह कहा ॥१॥

नाश्र्वर्यनेतद्भूवतोऽभिघातुं जातस्य हर्यकुले विद्याले ।

वन्मित्रपत्ने तब मित्रकाम स्याद् वृत्तिरेणा परिशुद्धवृत्तेः ॥२॥

विशाल चन्द्र वंश में उत्पन्न हुए आपके लिये 'रेणा' कहना आश्वर्य-जनक नहीं, उसीकि है मित्रकामी ! विशुद्ध व्यवहार काले आपको ( मूरु ) मित्र के पक्ष में ऐसी भावना है ॥२॥

आस्तु मैत्री स्वकुलागुहता न तिष्ठति शीरिष्य विकलवेषु ।

पूर्वः कुलां प्रीतिपरम्पराभिस्तामेव सन्तस्तु विवर्धयन्ति ॥३॥

अपनी द्रुल-परम्परा से आने वाली मैत्री असम्भवों में नहीं टिकती है— जिस प्रकार लड़मी चल चिच वालों में नहीं टिकती । किन्तु पूर्वबो द्वारा भी हुई उसी मैत्री को सम्भव-गम्य प्रतिदिन की परम्परा से बढ़ा लेते हैं ॥३॥ ये चार्यकृच्छ्रेष्ठ भवन्ति लोके समानकार्याः सुहृदां मनुष्याः । मित्राणि तानीति परैमि गुह्यां स्वस्थस्य वृद्धिप्रियह को हि न स्यात् ॥४॥

संसार में जो मनुष्य धन द्वारा होने पर मित्रों के समान सहायक होते हैं, उन्हीं को मैं अपनी द्रुदि के अनुसार मित्र समझता हूँ । समझ व्यक्ति की बदृती ( उच्चति ) में कोन साधी नहीं होता ? ॥४॥

एवं च ये द्रुत्यमवात्य लोके मित्रेषु धर्मे च नियोजयन्ति ।  
अवाप्रसाराणि धनानि तेषां भ्रष्टानि नान्ते जनयन्ति तापम् ॥५॥

इस प्रकार धन पाकर मिथ्यों में एवं धर्म में लगाते हैं । उनके बे उफल धन अन्त में नष्ट होने पर सन्ताप पैदा नहीं करते हैं ॥५॥

सुहृत्या चार्यतया च राजन् खल्चेष यो भां प्रति निश्चयस्ते ।  
अत्रानुनेष्यामि सुहृत्यैव त्रूयामहं नोत्तरमन्यदत्र ॥६॥

हे राजन ! मित्रता एवं साधनता के कारण मेरे प्रति आपका जो यह निष्पत्त हुआ है, इस विषय में मित्रता से ही मैं अनुनय करूँगा, इसमें दूसरा उच्चर कुछ नहीं दूँगा ॥६॥

अहं जरामृत्युभयं विदित्वा सुमुक्त्या धर्मस्मिमं प्रपन्नः ।

बन्धून् प्रियान्मुमुक्षान्विहाय प्रागेव कामानशुभस्य हेतून् ॥७॥

मैं जरा एवं मूल्य का भय लानकर मोक्ष की इच्छा से इस धर्म की यात्रा में आया हूँ । पहिले अशुम के हेतुभूत कामों को, बाद में गेते हुए बन्धुओं को छोड़कर आया हूँ ॥७॥

नाशीविषेष्यो हि तथा विभेदि नैवाशनिष्यो गगनाच्चयुतेष्यः ।

न पावकेष्योऽनिलसंहितेष्यो यथा भयं मे विषयेष्य एव ॥८॥

मैं विषयों से डतना नहीं ढरता हूँ और न आकाश से ( आकर ) घिरे हुए बड़ों से श्रीर न वायुमिश्रित अग्नि से डतना ढरता हूँ जितना कि विषयों से ढरता हूँ ॥८॥

कामा इनित्याः कुशलार्थचौरा रिकाश्च मायासद्वशाश्र लोके ।

आशास्यमाना अपि मोहयन्ति चित्तं नृणां किं पुनरात्मसंस्थाः ॥९॥

काम ( विषय ) अनित्य है, ज्ञान रूप धन के चोर है, पोले है, माया सद्वश है एवं संसार में उसकी आशा करने पर भी मनुष्यों के धन को मोह में छाल देते हैं । ( फिर ) यदि अन्दर सियत हो तो क्या छहना है ? ॥९॥

कामाभिमूता हि न यान्ति शर्मं त्रिपिष्ठपे किं वत मर्त्यलोके ।

कामैः सतृष्णस्य हि नास्ति त्रिपिर्येष्यनैर्बात्सखस्य वह्नेः ॥१०॥

कामात्तत पुरुषों को संख्या लोक में जया स्वर्ग में भी यात्रित नहीं मलती है। विषय तृप्ति व्यक्ति को विषयों से ठसी प्रकार तृप्ति नहीं होती। जिस प्रकार पदन के साथ अग्नि को इन्धन से ( तृप्ति नहीं होती ) ॥१०॥

जगत्यनर्थो न समोऽस्ति कामैर्मोहारूपं तेष्वेव जनः प्रसक्तः ।

तत्त्वं विवित्वेवमनर्थर्भाकुः प्राणः स्वर्गं कोऽभिलोपेदनर्थम् ॥११॥

काम में काम ( विषय ) के समान अनर्थ दूसरा नहीं। किन्तु मोह के कारण लोग उसों में आकर्षक हैं। तत्त्व ( इत्यरहस्य ) को बानकर, अनर्थ से छरने वाला कौन तुदिमान स्वर्गं इत्यानर्थं को इच्छा करे ? ॥११॥

समुद्रवस्त्रामपि गामवाय पारं जिगीषन्ति महाएँवस्य ।

लोकस्य कामैर्नै विनृप्तिरस्ति पतद्विरम्भोभिरिवार्णवस्य ॥१२॥

समुद्रवस्त्रा ( समुद्र पर्यन्त ) पृथ्वी ( राज्य ) को पाकर मी लोग महाचारण के पार को चीतना चाहते हैं, प्राणी को काम ( उपभोग ) से तृप्ति नहीं होती—जैसे ( असंख्य नदियों के ) गिरते हुए अत्यधिक से समुद्र को ॥१२॥

देवेन वृष्टेऽपि हिरण्यवर्षे द्वीपान् समसांशातुरोऽपि जित्वा ।

शक्रस्य चार्यासनमप्यवाय्य मान्धातुरासीद्विषयेष्वतुर्मिः ॥१३॥

देव द्वारा स्वर्ण वर्षा होने पर भी एवं चारों चम्भूरुं द्वारों को चीत केने पर भी कोर इन्द्र का आवा आसन पाने पर मी मान्धाता को तृप्ति नहीं हुई थी ॥१३॥

मुक्त्वापि राज्यं दिवि देवतानो शतकती वृत्रभयात्प्रनष्टे ।

दर्पोन्महर्षीनपि वाहसित्वा कामेष्वरहर्षो नहुपः पपात ॥१४॥

अब तृतीय के भय से इन्द्र छिप गया था, तत्त्व स्वर्ग में देवताओं का राज्य भोगने पर भी नहुप अभिमान के चारण महर्षियों से अपनी पालको उठवाकर ( स्वर्ग से ) गिर गड़ा ( फिर भी ) विषय तृप्ति नहीं हुई ॥१४॥

ऐहश्च राजा त्रिदिवं विगाह्य नीत्वापि देवीं वशमुर्वर्णी ताम् ।

खोभाहपिभ्यः करकं जिहोपुर्जगाम नारी विषयेष्वतुपः ॥१५॥

तथा राजा ऐह ( इबा का पुत्र पुलरका ) स्वर्ग जाकर, उस उर्वशी देवी को वश मे कर के भी विषयों से नुस नहीं हुआ और लोभवश शूषियों से स्वर्ण अपदरण करने की इच्छा से, नाश को प्राप्त हुआ ॥१५॥

बलेमोहेन्द्रं नहुषं महेन्द्रादिन्द्रं पुनर्यें नहुषादुपेषुः ।

स्वर्णं चितौ वा विषयेषु तेषु को विश्वसेद्वास्यकुलाकुलेषु ॥१६॥

जो विषय ( राज्य ) बलि से मोहेन्द्र को, महेन्द्र से नहुष को, फिर नहुष से महेन्द्र को प्राप्त हुए, माघकुल ( माघ समूह ) को आकुल ( विजित ) करने वाले उन विषयों मे स्वर्ण अथवा पुष्पी पर कौन विश्वास करे ? ॥१६॥

चीरास्वरा मूलफलाम्बुमज्जा जटा वहन्तोऽपि भुजङ्गवीधोः ।

यैनान्यकार्यो मुनयोऽपि भग्नाः कः कामसंज्ञान्मुग्येत शत्रून् ॥१७॥

बलकल बलजारी, मूल-फल-बल आहारी, भुजङ्ग लद्दा ( लंबो ) जटा-धारी जिन्हे तप के अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं—उन मुनियों के द्वारा मो भग्न ( त्याग ) किये गये काम नाम के शत्रुओं को कोन ढूँढे ॥१७॥

उग्रायुधश्चोपधृतायुधोऽपि येषां कृते मृत्यमवाप्य भीमान् ।

चिन्तापि तेषामशिवा वधाय सद्युचिनां कि पुनरव्रतानाम् ॥१८॥

तीक्ष्ण शब्द वारो 'उग्रायुध' ( राजा ) जो विषयों के कारण भीम ( पितामह ) से गूल्यु को प्राप्त हुआ उन ( विषयों ) की चिन्ता ( मन से चोचना भी ) अमंगल ( पाप ) है और सदाचारियों के लिये भी धातक है ! फिर असंविचियों का लो कहना ही क्या है ? ॥१८॥

आस्वादमल्पं विषयेषु मत्वा संयोजनोत्कर्षमत्तुमेव ।

सद्भ्यश्च गहीं नियतं च पापं कः कामसंज्ञं विषमाददीत ॥१९॥

विषयों मे स्वाद अल्प है, वन्धन अधिक है, तुम विलकुल नहीं, सज्जनो द्वारा गहित है एवं पाप नियत है—ऐना समझ कर कोन काम नामक 'विष'

को प्रहण करेगा ? ॥१९॥

कुरुप्रादिभिः कर्मभिरदितानां कामात्मकानां च निशान्य दुःखम् ।

स्वास्थ्यं च कामेष्वकृतृहृलानां कामान्विहातुं ज्ञगमात्मवद्विः ॥२०॥

कृपि आदि ( विलङ्घ ) कर्मों से बोहित कामासक्त लोगों के दुःख देखकर एवं विषयों में आनासक्ती के स्वास्थ्य ( तुल शान्ति ) देखा कर जानी पुरुषों को काम का त्याग करना चाहिये ॥२०॥

ज्ञेया विष्टकामिनि कामसंपत्स्तेषु कामेषु मदं दुर्पैति ।

मदादकार्यं कुरुते न कार्यं येन इतो दुर्गतिमभ्युपैति ॥२१॥

कामो पुरुष में काम रूप सम्पत्ति ( भोग सामग्री ) को विपत्ति समझना चाहिये । क्योंकि काम के सिद्ध होने पर मद होता है । मदान्ध पुरुष अकार्य करता है ( शुभ ) कार्य नहीं करता । विषये नष्ट होकर दुर्गति को प्राप्त होता है ॥२१॥

यत्तेन लब्धाः परिरक्षिताश्च ये विप्रलभ्य प्रतियान्ति भूयः ।

तेष्यात्मवान्यचितकोपसंषु कामेषु विद्वानिह को रमेत ॥२२॥

प्रथम से पाने एवं रक्षा करने पर भी जो ( काम ) उत्थकर पुनः चले जाते हैं अतः मंगनी वा मंगीती मांगी हुई वस्तु के समान उन विषयों में वहाँ कीन संपर्क विद्वान् रमेगा ॥२२॥

अन्वित्य चावाय च जाततपो यानस्यजन्तः परियान्ति दुःखम् ।

लोके तुणोलकासदरेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२३॥

विन ( विषयों ) को हृदय और पाकर उत्तरोत्तर भोग लालका होती है एवं विन ( विषयों ) को न छोड़ने वाले दुःख पाते हैं—संसार में तयों की उल्लङ्घन के समान उन विषयों में, किस आत्मवान् को रति होगी ? ॥२३॥

आनात्मवन्तो हृदि चैर्दिवष्टा विनाशमर्हन्ति न यान्ति शर्म ।

कुद्धोन्नसपंप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२४॥

विन ( विषयों ) द्वारा हृदय में डाने पर अज्ञानी लोग विलङ्घ हो जाते हैं और शान्ति नहीं पाते हैं, इन्द्रिय भयंकर सर्व सहरा उन विषयों में किस आत्मवेचा को घेम होगा ? ॥२४॥

अस्त्व ज्ञुशार्ता इव सारमेया भुक्त्वापि यान्नैव भवन्ति तुप्राः ।

जीणांस्थिकहृक्तसमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२५॥

जैसे भूते कुते हड्डी चयाकर नृत नहीं होते, उसी प्रकार विन (विषयो) को भोगकर भी (लोग) तुप्त नहीं होते—उन पुरानी हड्डी के कंकाल के समान विषयो में किस वितेन्द्रिय को राग होगा ? ॥२५॥

ये राजचौरोदकपात्रकेभ्यः साधारणत्वाऽजनन्ति दुखम् ।

तपु प्रविद्धामिषसंनिषेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२६॥

जो (विषय) राजा, चोर, बल एवं आमिन से साधारणतया (आत्मवान) दुःख उत्पन्न करते हैं—उन भूठे मांस के दुक्कहे के समान कामों में किस आत्मवान को मुख होगा ? ॥२६॥

यत्र स्थितानामभितो विषयिः शत्रोः सकाशादपि वान्धवेभ्यः ।

हिन्देषु तेष्वायतनोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२७॥

जिनमें रहने वालों को शत्रुओं से एवं वान्धवों से मो चारों ओर से विषयि है—उन दिसों के आयतन (वध स्थान) के समान कामों में किस आत्मवान को आनन्द होगा ? ॥२७॥

गिरी वने चाप्तु च सागरे च यान् भ्रंशमङ्गन्ति विलङ्घमानाः ।

तेषु दुमप्राप्तफलोपमेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२८॥

एकत पर, वन में, बल में, समुद्र में, जिन विषयों के लागे दीड़ लगाते हुए भृष्ट होते हैं—हच के अब्रमार में स्थित फल के समान उन विषयों में किस विद्धान को आनन्द आयेगा ? ॥२८॥

तीव्रः प्रयत्नैर्विविधैरवाप्तः जणेन ये नाशमिह प्रयान्ति ।

स्वप्नोपभोगप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥२९॥

जो विविध तीव्र प्रयत्न से प्राप्त होकर भी जल भर में यही नष्ट हो जाता है—स्वप्न के उपभोग के समान उन विषयों में किस आत्मवान को आनन्द आयेगा ? ॥२९॥

यानर्जियित्वापि न यान्ति शर्म विवर्घयित्वा परिपालयित्वा ।

अह्नारकपूर्प्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३०॥

जिनको अव्याप्त कर, बद्धाकर तथा पालन करके भी (लोग) कल्याण

नहीं पाते हैं—छंगारे की अङ्गोटी के समान उन कासों में किस संयमी को  
सुख होगा ॥३०॥

**विनाशमीयुः** कुरको वदर्थं वृत्त्यन्धका मेष्वलदशडकात्र ।

**सूनासिकाप्रतिमेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३१॥**

जिनके निमित्त कौरव, चूम्हा, अन्धक, मेष्वल, तथा दशडक नाम के  
प्राप्त हुए—इत्या करनेवाला तलवार व काढ के समान उन विषयों में कौन  
आत्मवान् रहेगा ॥३१॥

**सुन्दोपसुन्दावसुरी वदर्थमन्योन्यवैरप्रसृतौ विनष्टौ ।**

**सौहार्दविश्लेषकर्षेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३२॥**

जिनके कारण मैर लदाकत मुख्य एवं उपतुन्द नामक असुर नष्ट हो गये,  
चुहदमता को तोड़ देने वाले उन विषयों में किस आत्मवान् को सुख होगा ॥३२॥

येषां कुले वारिभि पावके च कन्यालु चात्मानभिहोत्सृजन्ति ।

**सपलमूरेष्वशिवेषु तेषु कामेषु कस्यात्मवतो रतिः स्यात् ॥३३॥**

जिनकी प्राप्ति के निमित्त लोग अपने को जल में, झग्नि में, हिंसक जीवों  
में डाल देते हैं—यजु की माति अगुमकारी उन विषयों में किस आत्मवान्  
को सुख होगा ॥३३॥

**कामार्थमङ्गः** कुरर्ण करोति प्राप्नोति दुःखं वधवन्धनादि ।

**कामार्थमाशाकुपणस्तपस्वा** मृत्युं अमं चार्द्धति जीवलोकः ॥३४॥

आकानो ( पुरुष ) विषय के निमित्त नाचता करता है और मारा जाता  
है, बन्धन चार्द्ध दुःख पाता है । वेचारा ( वह ) जीवलोक, विषय के लिये  
तुष्टि दीन हीन होकर जीता एवं मृत्यु पाता है ॥३४॥

गीतैहिंयन्ते हि मृगा वधाय रूपार्थमन्मौ शलभाः पतन्ति ।

**मस्यो गिरत्यायसमाभिपार्थी** तस्मादनर्थं विषयाः रूलन्ति ॥३५॥

गीतों से दिरगा, वध के लिये फुसलाये जाते हैं । रूप के निमित्त पतंगे,  
आग्नि में गिरते हैं । मांस के लिये मछुली, लोहे फा कई लील जाती है ।  
आतः विषयों का फल विषयि है ॥३५॥

कामास्तु भोगा इति यन्माति: स्याद्गोगा न केचित्परिगणयमानाः ।  
बल्लादयो द्रव्यरुणा हि लोके दुःखप्रतीकार इति प्रधार्याः ॥३७॥

‘विषय, भोग ( के लिये ) है’ ऐसी वो वृद्धि है ( वह अशानी की है । विचारचान् ) तो ‘भोग नहीं है—’ ऐसा समझते हुए, ‘बल्लादि, गुण द्रव्य तो द्रव्य के प्रतिकार है—’ ऐसा समझते हैं ॥३८॥

इष्टं हि तर्पयशमाय तोयं चुनाशहेतोरशनं तथैव ।

चातातपान्त्वावरणाय वेशम कौपीनशीतावरणाय वासः ॥३९॥

जैसे पृथि शान्ति करने के लिये जल इष्ट ( अभिप्रेत ) है—उसी प्रकार छुधा शान्ति के लिये मोङ्गन, बात, धूप, वर्ण से वचावके लिये मकान, तथा शीत निषान्त्रण एवं लंगोटे के लिये नम्बू इष्ट है ॥३९॥

निद्राविघाताय तथैव शश्वा यानं तत्त्वात्प्रभनाशनाय ।

तथासनं स्थानविनोदनाय स्नानं सूजरोग्यवत्ताश्रयाय ॥३१॥

उसी तरह निद्रा भी शान्ति के लिये शश्वा, यानं का श्रम दूर करने के लिये यान, उत्थान भिट्ठने के लिये आसन तथा शरीर भोगे व आरोग्य एवं बल-प्राप्ति के लिये स्नान ( इष्ट ) है ॥३१॥

दुःखप्रतीकारनिमिच्छूतास्तस्मात्प्रजानां विषया न भोगाः ।

अशनामि भोगानिति कोऽन्युपेयात्प्राङ्मः प्रतीकारविधी प्रवृत्तः ॥३१॥

अतः (स्वाभाविक) दुःखों के प्रतिकार के कारण स्वरूप विषय (बल्लादि) लोगों के भोग नहीं है । दुःखों को दूर करने में प्रवृत्त कीन विद्वान् ‘मैं भोग भोग रहा हूँ—’ ऐसा समझेगा ॥३१॥

यः पित्तवाहेन विद्वामानः शीतकियां भोग इति व्यवस्थेत् ।

दुःखप्रतीकारविधी प्रवृत्तः कामेषु कुर्यात्स हि भोगसंज्ञाम ॥४०॥

ओ पित्तवाह ने जलते हुए, शीत उपचार का भोग समझता है, दुःख के प्रतीकार के साधन में लगा हुआ वही पुरुष विषयों में भोग नाम देगा ॥४०॥

कामेष्वनैकान्तिकता च यस्मादतोऽपि मे तेषु न भोगसंज्ञा ।

य एव भावा हि सुखं दिशनित त एव दुःखं पुनरावहन्ति ॥४१॥

(कथोकि) कामों ( विषयों ) में एकत्र नहीं है ( अनन्तता है ), इसलिये भी मेरे विचार से विषयों में भीग 'संज्ञा' नहीं है । जो पदार्थ सुख देते हैं, वही पुनः दुःख देते हैं ॥४१॥

शुरुरिण वासांस्यगुरुणि चैव सुखाय शीते ग्रामुखाय घर्मे ।

चन्द्रांशक्वयन्दनमेव जोग्यो सुखाय दुःखाय भवन्ति शीते ॥४२॥

कथोकि वचनदार वस्त्र और आगुरु ( गूगल , बाढ़े में सुखदायी एवं गर्मी में दुःखदायी होते हैं ) इसके लिपरोत चन्द्रकिरण एवं चन्दन गर्मी में सुखद तथा बाढ़े में दुःखद होते हैं ॥४२॥

दुन्द्वानि सर्वस्य यतः प्रसक्कान्यज्ञाभलाभप्रभृतीनि ज्ञोक्ते ।

अतोऽपि नैकान्तमुखोस्ति कश्चिन्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् ॥४३॥

यतः हानि एव लाभ आदि दुन्द्वा सबके साथ चिपके दुप हैं, इसलिये भी संसार में न कोई पुरुष अत्यन्त मुख्य है अथवा न अत्यन्त दुःखी ॥४३॥

द्व्या विमिश्रां सुखदुःखतां मे राज्यं च दास्यं च मर्तं समानम् ।

नित्यं हसत्येव हि नेत्र राजा न चापि संतप्यत एव दासः ॥४४॥

सुख और दुःख को ( परस्पर ) मिलित देखकर, राज्य एवं दासता को मैं समान मानता हूँ । न को राजा ही सदा हँसता रहता है और न दास ही सदा सन्तुष्ट रहता है ॥४४॥

आज्ञा नृपत्वेऽभ्यधिकेति यत्स्यान्महान्ति दुःखान्यत एव राज्ञः ।

आसङ्गकाप्रतिमो हि राजा लोकस्व हेतोः परिखेदमेति ॥४५॥

राजामन में आज्ञा अधिक है, अतएव राजा को बड़े-बड़े दुःख होते हैं । प्रवाह में निराधार बहने वाले, काढ़ के समान राजा लोक ( प्रजा ) के लिये परिखिप रहता है ॥४५॥

राज्ये नृपस्त्यागिनि बहामित्रे विश्वासमागच्छति चेतुपञ्चः ।

अथापि विअम्भमुर्पति नेह कि नाम सौख्यं चकितस्य राज्ञः ॥४६॥

स्पाग देनेवाला ( एक दिन लोड देने वाला ) तथा बहुत शुक्रवाला एवं राज्य में विश्वास बनता है तो विपत्ति में पड़ता है, और यदि उसमें विश्वास नहीं करता तो चाकित राजा को क्या सुख ॥४६॥

यदा च जित्वापि महीं समप्रां वासाय दृष्टं पुरमेकमेव ।

तत्रापि चैकं भवने निषेद्यं अमः परार्थे ननु राजभावः ॥४५॥

जब कि सम्यूर्णे शुद्धी भी विजय प्राप्त करके भी अपने निवास के लिये एक ही पुर दृढ़ता है और वहों भी एक ही महल में रहना पड़ता है तो आवश्य ही राजत्व दूसरों के लिये अम ( मात्र ) है ॥४६॥

राज्ञोऽपि वासोयुगमेकमेव कुत्सनिरोधाय तथाभ्यमात्रा ।

शृण्या तथैकासनमेकमेव शेषा विशेषा नृपतेभद्राय ॥४७॥

और मौ, राजा के लिये एक ही जोका बल, उसी तरह जुधा निवृत्ति के लिये आज की ( कुछ ) मात्रा, उसी प्रकार एक शृण्या एवं एक ही आठन ( आवश्यक है ) राजा को शेष विशेषताएँ तो मद के लिये हैं ॥४८॥

तुष्ट्यर्थमेतच फलं यदीष्टमृतेऽपि राज्यान्मम तुष्टिरस्ति ।

तुष्टौ च सत्यां पुरुषस्य लोके सर्वे विशेषा ननु निर्विशेषाः ॥४९॥

और पांदि तुष्टि के लिये यह फल ( राज्य ) आवश्यक है तो राज्य के विना भी मुझे तुष्टि है । मनुष्य को संतोष हो जाने पर संसार में सब विशेष तार्थ निरर्थक हो जाती है ॥५०॥

तज्जस्मि कामान् प्रति संप्रतार्थः चेम शिवं मार्गमनुप्रपञ्चः ।

स्मृत्वा सहस्रं तु पुनः पुनर्मौ ब्रूहि प्रतिज्ञां स्वलु पालयेति ॥५०॥

अतः अप्याश एवं महालमय मार्ग में प्रवृत्त हुआ मैं, कामों के प्रति बहकाया नहीं लग सकता हूँ । मिथुन का स्मरण करके आप मुझसे घारभार यह कहे—‘नुम आवश्यक प्रतिज्ञा पालन करो ॥५०॥

न ह्यस्म्यमर्थेण वनं प्रविष्टो न शत्रुघ्नाणैरवधूतमौजिः ।

कृतस्युहो नापि फलाधिकेभ्यो गृहामि नैतद्वचनं यत्स्ते ॥५१॥

न हो मैं कोई से वन में आया हूँ, न शत्रु के बाणों से मुकुट मिराये जाने पर और न कोई फल विशेष की इच्छा से । अतः आपको वह नहीं मान रहा हूँ ॥५१॥

यो दन्दशकं कुपिलं गुबङ्गं सुकृत्वा व्यवस्थेद्धि पुनर्गीतुम् ।

द्राहात्मकां वा व्वलितां शृणोलकां संत्वज्य कामान्स पुनर्भवेत् ॥५२॥

जो, इसने बाले कुप्रिय सोंप को या जलाने वाली चशती हुई दृगोळका ( तुगाठी ) को लोडकर फिर ते पकड़ने का व्यवसाय करे वही कामों को लोडकर, तुनः सेवन करे ॥५३॥

अन्धाय चश्च सुहयेद्वन्द्वयो वद्याय मुक्तो विघ्नाय चाहयः ।

उन्मत्तचित्ताय च कल्पचित्तः स्वदां स कुर्यादिप्रभात्मकाय ॥५४॥

और जो इष्टिमान-अन्ता होने की, मुक्तव्यवस्थन को, अनी-गरीब होने की, स्वस्मीचित्त उन्मत्तचित्त ( पागल ) होने की इच्छा करे । वही विषयों होने की इच्छा करे ॥५५॥

मैच्छापभोगीति च नानुकम्भ्यः कुर्ती जरामृत्युभयं तिर्तीषुः ।

इहोत्तमं शान्तिसुखं च चस्य परत्र दुःखानि च संयुतानि ॥५६॥

मिद्याक्ष खाता है अतः वह अनुकम्भा के योग्य नहीं है ( वह तो ) कुशल है, जरा-मृत्यु के योग से पार होना चाहता है । जिसको इस लोक में उचम मुल और शान्ति है ( उसको ) परलोक में दुःख नह है ॥५६॥

लाहृस्यां महत्वामपि वर्तमानस्तृष्णाभिगृतस्त्वनुकम्पितव्यः ।

प्राप्नोति यः शान्तिसुखं न चेह परत्र दुःखैः प्रतिगृहते च ॥५७॥

वहूत वही उम्पति रहते हुए भी, जो तृष्णा से बाकान्त है, इस लोक में मुल-शान्ति नहीं पाता और परलोक में दुःखों से पकड़ा जाता है—वह अनुकम्भा के योग्य है ॥५७॥

एवं तु वक्तुं भवतोऽनुहपं सत्त्वस्य वृत्तान्य कुलस्य चैव ।

ममापि बोदुं सदृदां प्रतिज्ञां सत्त्वस्य वृत्तान्य कुलस्य चैव ॥५८॥

इस प्रकार कहना-आपके जान, आचार एवं वंश के अनुरूप है । मेरी भी प्रतिका बहन करना जान, आचार एवं कुल के अनुरूप है ॥५९॥

अहं हि संसारशरेण विद्वो विनिःसृतः शान्तिमवामुकामः ।

नेच्छ्रेयमानुं विदिवेऽपि राज्यं निरामयं किं बत मानुषेषु ॥५९॥

मैं तो संसार रूप वाण से विद्व होकर शान्ति पाने की इच्छा से निरक्ष पड़ा हूँ । स्वर्ग का निष्कर्षक राज्य भी ( मैं ) प्राप्त नहीं करना चाहता ( किर ) मानव-राज्य का प्राप्त करना चाहा ॥५९॥

त्रिवर्गसेवां नृप यतु कृत्सन्तः परो मनुष्यार्थं इति त्वमात्म भाष्म ।

अनर्थं इत्येव ममात्र वर्णनं त्वयी त्रिवर्गो हि न चापि तर्पकः ॥५८॥

हे राजन् ! यह जो आपने मुझ से कहा—‘त्रिवर्गो का सम्मानं रूप से सेवन करना परम पुरुषार्थ है’—इसमें मुझे अनर्थ ही दोषता है । क्योंकि त्रिवर्ग नाशवान् है तथा संतोषदायक भी नहीं है ॥५८॥

पदे तु यस्मिन्न जरा न भीर्न रुक्ष न जन्म नैवोपरमो न चापयः ।

तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विशेषे यत्र पुनः पुनः किंवा ॥५९॥

जिस पद में न जरा, न भय, न रोग, न जन्म, न मृत्यु और न व्याधि है—उसको ही मैं परम पुरुषार्थ मानता हूँ, जिसमें बार बार कर्म नहीं करना पड़ता है ॥५९॥

यदप्यवोचः परिपालयतां जरा नर्थ वयो गच्छुति विकियामिति ।

अनिश्चयोऽयं बहुशो हि दृश्यते जराप्यधीरा भृतिमन्त्र चौक्रनम् ॥६०॥

( आपने ) यह जो कहा—‘बुद्धावस्था की प्रतोक्षा करो । नई जीवस्था में विकार होता है’—यह भी निश्चित नहों, क्योंकि बहुधा देखा गया है । इदा-वस्था में अधीरता एवं युवावस्था ( जवानी ) में धैर्य ( रहता है ) ॥६०॥

स्वकर्मदक्षश्च यदान्तको जगद् वयःसु सर्वेष्ववर्णं विकर्षेति ।

विनाशकाले कथमव्यवस्थिते जरा प्रतीक्ष्या विदुषा शमेष्टुना ॥६१॥

ओर आपने कर्म में निपुण यमराज, जगत् को सब जीवस्थाओं में जलात् खोन रहा है, तब विनाश ( मृत्यु ) का समय अनिश्चित होने पर कल्पाय चाहने वाला विद्वान्, बुद्धावस्था की प्रतोक्षा करो करे ॥६१॥

जरायुधो व्याधिविकीर्णसायको यदान्तको व्याध इवाशिषः स्थितः ।

प्रजामृगान् भाग्यवनाभितांस्तुदन वयःप्रकर्षे प्रति को मनोरथः ॥६२॥

वय कि यमराज, अमहूल व्याध के समान, जरा वय घनुप लिये हुए खड़ा है और व्याधि रूप बायो को छोड़ता हुआ भाष्य, रूप बन में रहने वाले प्रजा रूप नृगों को वेष रहा है, तब बुद्धार्थे के प्रति मनोरथ ( प्रतीक्षा ) करा ॥६२॥

अतो युवा चा स्वविदोऽयवा रिशुस्तथा त्वरावानिह कर्तुमहर्वति ।

यथा भवेद्दर्मवतः कृतात्मनः प्रवृत्तिरिष्टा विनिवृत्तिरेव चा ॥६३॥

अतः ज्वान हो चा चूटा अथवा बालक, उन्हे योग ही यहो ऐसा करना चाहिये जिससे भ्रमात्मा व कृतार्थ होकर इष्ट ( मोक्ष ) में प्रवृत्ति एवं ( संसार से ) निवृत्ति ही हो जावे ॥६३॥

यदायथ चापीष्टफलां कुलोचितां कुरुत्व धर्माय मखक्रियामिति ।

नमो मखेभ्यो न हि कामये सुखं परस्य दुःखकिनया वदिष्यते ॥६४॥

( आपने ) जो कहा—‘धर्म के लिये, इष्ट फल देने वाली कुलोचित पश्च किया करो ।’ ( उन ) यज्ञों के लिये नमस्कार है । मैं ऐसा सुख नहीं चाहता जो दूसरों को दुःख देकर जाहा जाता है ॥६४॥

परं हि हन्तुं विवशं फलेष्पस्या न वृक्तरूपं करणात्मनः सतः ।

कतोः फलं यस्यापि शाश्वतं भवेत्तथापि कृत्वा किमु यत्क्षयात्मकम् ॥६५॥

दयावान् सज्जन के लिये फल को इच्छा से, अन्य विवश जीव को मारना उचित नहीं । यदि यह का फल शाश्वत भी हो, तो भी क्या ऐसा करना चाहिये जो धातक हो ? ॥६५॥

भवेच्च धर्मो यदि नापरो विविर्ततेन शीलेन मनःरहनेन चा ।

तथापि नैवार्हति सेवितुं कर्तुं विशस्य यस्मिन् परमुच्चयते फलम् ॥६६॥

यदि व्रत से, शील से, मानविक शांति से भिन्न अन्य उपाय धर्म प्राप्ति का न हो तो भी यह का सेवन नहीं करना चाहिये जिससे दूसरों को मारकर फल प्राप्त होता है—ऐसा कहते हैं ॥६६॥

इहापि तावत्युरुपस्य तिष्ठतः प्रबर्तते यत्परहितस्या सुखम् ।

तद्व्यनिष्टं सघृणस्य धीमतो भवान्तरे कि वत् यज्ञःहृश्वते ॥६७॥

इस लोक में भी रहनेवाले पुरुष को पराई हिंसा से जो सुख होता है, वह भी दयातु बुद्धिमान् के लिये इष्ट नहीं है । बन्मान्तर में जो दिल्लाई नहीं देता, उसकी तो जात ही क्या ? ॥६७॥

न च प्रतार्थाऽस्मि फलप्रपृच्छये भवेषु राजन् रमते न मे मनः ।

लता इवाम्भोधरवृष्टिवाहिता प्रवृत्तयः सर्वगता हि चञ्चलाः ॥६८॥

हे राजन् ! संसार में मेरा मन नहीं रमता है । अतः फल की ओर प्रकृति होने के लिये मैं उगा नहीं चा सकता । मेरे कार्य से तादित लता छड़ा विश्वव्यापिनी प्रदृशिताँ चलता है ॥६८॥

इहागतश्चाहमितो दिव्यतया सुनेस्त्रादस्य विमोक्षवादिनः ।  
प्रयामि चाचैव नृपास्तु ते शिवं वचः समेधा मम तत्त्वनिष्ठुरम् ॥६९॥

यहाँ आचा था । यही से आब हो मोक्षवादी आराह मुनि को देखने की इच्छा से चा रहा है । हे राजन् ! आपका कल्पयण हो । ( आप ) मेरे इच्छा निष्ठुर वचन को छामा करेंगे ॥६९॥

अवेन्द्रवहिक्यव शश्वदक्षवद्गुणैरव ऐय इहाव गामव ।

अवायुरायैरव सत्सुतानव धियत्र राजन्नव धर्ममात्मनः ॥७०॥

हे राजन् ! स्वर्ण में इन्द्र के समान रक्षा कीजिये, सूर्य के समान सदा रक्षा कीजिये । गुणों से कल्पयण की रक्षा कीजिये, यहाँ पुष्टी की रक्षा कीजिये, आयु की रक्षा करें, आर्य-पुत्रों की रक्षा करें, लक्ष्मी की रक्षा करें, धर्म की रक्षा करें ( एवं ) अपनी रक्षा करें ॥७०॥

हिमारिकेतद्वसंभवान्तरे यथा द्विजो याति विमोक्षयन्तुम् ।

हिमारिशत्रुत्यशत्रुघातने तथान्तरे याहि विमोक्षयन्मनः ॥७१॥

हिमारि ( अग्नि ) का केतु ( बुधाँ ) मे उत्पन्न होने वाले ( बादल ) से होने वाली बुधि के होने पर द्विज ( अग्नि ) जैसे अपना शरीर छोड़ते हुए जाता है ( बुधि होने पर अग्नि दुर्घट जाती है ) जैसे ही सूर्य के शत्रु ( तम ) के त्वय करने में शत्रु ( विज्ञ ) विनाश करके मन को सुक्त करते हुए जाइये ( अशान दूर कीजिये ) ॥७१॥

नृपोऽन्नवीत्साजलिगागतस्युहो यथेष्टुमाप्नोतु भवानविज्ञतः ।

अवात्य काले कृतकृत्यतामिमां भगापि कार्यो भवता त्वनुग्रहः ॥७२॥

वहे अनुराग से शाश्वत छोड़कर यहा ने कहा—आप अपना अभीष्ट निविष्ट प्राप्त करें, समय पर इसे प्राप्त करके कृतार्थ होने एवं मेरे ऊपर भी आप अनुग्रह करें ॥७२॥

स्थिरं प्रतिज्ञाय तथेति पार्थिवे ततः स वैदवन्तरमाक्षमं ययो ।  
परित्रजन्तं तमुदीच्य विस्मितो नृपोऽपि ब्रह्माज पुरं गिरित्रजम् ॥५३॥

इति श्री अश्वोपकृते पूर्ववृद्धचरितमहाकाण्ड्ये  
कामविगाहेणो नाम एकादशः सर्गः ।

तब 'वैसा हो हो'—इस प्रकार राजा के लिये स्थिर प्रतिज्ञा करके वह यहाँ से वैश्वनार आधम को गया। उसके परिवारक कप में देखकर विश्वनार होते हुए राजा भी गिरिधर नगर ( राजगढ़ ) को गया ॥७३॥

पै पुर्वसुद्धरितमहाकाश्य मे कामनिन्दा नामक  
एकादश रवी नमास कुशा ।

अथ द्वादशः सर्गः

अराड़दर्शनः

अराड़ दर्शन

ततः शमविहारस्य मुनेरिष्वाकुचन्द्रमा: ।

अराड़स्याभर्म भेजे बपुषा पूर्यन्निव ॥१॥

तब इच्छाकु ( वंश ) का चन्द्रमा ( वह राजकुमार ), शान्ति में विहार करने वाले अराड़ मुनि के आधम में ( अपने ) रारीर के प्रभाव से मानो ( उस आधम को ) भरते हुए गया ॥१॥

स कालायसगोत्रेण तेनलोकयैव दूरतः ।

उच्चैः स्वागतमित्युक्तः समीपसुपज्ञिमवान् ॥२॥

कालायस गोत्र के उस मुनि ने दूर से देखते ही उच्च स्वर से — 'स्वागत हो' — ऐसा कहा और कह कुमार उसके पास गया ॥२॥

तावुभौ न्यायतः पुष्ट्वा पातुसाम्यं परस्परम् ।

दारघ्योमेष्ययोर्हृष्योः शुचौ देशे निषेदतुः ॥३॥

वे दोनों न्यायन्पूर्वक परस्पर कुशल पूछकर, पवित्र स्पान में लकड़ी के दो पवित्र आळन पर, जिन पर मृगचर्म चिढ़े हुए थे, बैठे ॥३॥

तमासीनं नृपमुतं सोऽत्रवीन्मुनिसत्तमः ।

वहुमानविशालाभ्यां दर्शनाभ्यां पिबन्निव ॥४॥

बैठे हुए उस राजकुमार को उस मुनियेड़ ने, अपने अस्त्यन्त आदर सुक विशाल नेत्रों से मानो पीता हुआ, कहा — ॥४॥

विदितं मे यथा सौम्य निष्कान्तो भवनादसि ।

द्वित्त्वा स्नेहमयं पार्श्वं पार्श्वं हत्त इव द्विपः ॥५॥

हे सौम्य ! मुझे विदित हो गया—बन्धन तोड़कर अभिमानी हाथो के सहश, ट्वेहमय बन्धन काटकर आप निकल पड़े हैं ॥५॥

सर्वथा भृतिमत्त्वैव प्राप्तं चैव मनस्तव ।

यस्त्वं प्राप्तः श्रियं त्यक्त्वा लतां विपफलामित्र ॥६॥

आपका मन सदैव धैर्यदान् एवं तामी है जो आप विष-जला रूपी लक्ष्मी को त्यागकर ( निकल ) आगे हैं ॥६॥

नाश्रयं जीर्णवनसो तज्जग्मुः पार्थिवा बनम् ।

अपस्त्येभ्यः श्रियं दत्त्वा मुक्तोचित्कृष्टामित्र मनजम् ॥७॥

इदाकस्या होने पर राजा लोग सन्तानों को भोगी गई उठी माला की तरह रुधिलक्ष्मी सौंपकर वन चले गये—इसमें कुछ आश्चर्य नहीं ॥७॥

इदं मे मतमाश्चर्यं नवे वयसि यद्ग्रवान् ।

अमुकत्वैव श्रियं प्राप्तः स्थितो विषयगोचरे ॥८॥

इसमें आश्रय भानता है कि विषय के स्थान में रहते हुए, मई अवस्था में, लक्ष्मी को बिना भोगे आप आ गये हैं ॥८॥

तदिक्षातुभिमं धर्मं परमं भाजनं भवान् ।

ज्ञानप्लवमधिष्ठाव शोऽप्तुःस्वार्णवं तर ॥९॥

अतः इस धर्म को ज्ञानने के लिए आप खेड़ पाज हैं । जान रूपी नीका पर चढ़कर, दुःख सागर को शोध पार कर जाएं ॥९॥

शिष्ये यद्यपि विज्ञाते शास्त्रं कालेन वर्तयेते ।

गाम्भीर्याद् लवक्षसायाच्च न परीक्ष्यो भवान्मम ॥१०॥

यद्यपि शिष्य को ( अच्छी तरह ) जान लेने के बाद समय पर शास्त्र का वर्णन किया जाता है । किन्तु आपकी गम्भीरता एवं उद्योग देखकर, मैं आप को परोक्षा नहीं लूँगा ॥१०॥

इति वाक्यमराहस्य विज्ञाय स नरर्यमः ।

वमूर्च परमप्रीतः प्रोवाचोत्तरमेव च ॥११॥

यह नरपुण्ड्र, कराड की यह बात जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उत्तर में बोला—॥११॥

विरक्तस्यापि यदिवं सौमुख्यं भवतः परम् ।

अकृतार्थोऽप्यनेनास्मि कृतार्थं इव संप्रति ॥१२॥

आप विरक्त की भी लो लो यह अत्यन्त अनुकूलता है, इससे अकृतार्थ में भी इस समय कृतार्थ की तरह हूँ ॥१२॥

दित्तद्विव द्वि ज्योतिर्यियामुरिव दैशिकम् ।

त्वद्दर्शनमहं भन्ये तितीषुरिव च प्लवम् ॥१३॥

देखने को इच्छा वाला प्रकाश को, यात्रा की इच्छा वाला पथप्रदर्शक को, एव पार जाने वाला नौका को जिस प्रकार मानता है, मैं आपके दर्शन को भी बैसा ही मानता हूँ ॥१३॥

तस्मादर्हसि तद्वक्तुं वक्तव्यं यदि मन्यसे ।

जरामरणरोगेभ्यो यथार्थं परिमुच्यते ॥१४॥

अतः यदि कहने योग्य समझें तो आप यह कहें जिससे यह ( मैं ) जरा-मृत्यु के रोग से मुक्त हो जाय ॥१५॥

इत्यराहः कुमारस्य माहात्म्यादेव चोदितः ।

संचिप्तं कथयात्तदेव स्वस्य शास्त्रस्य निष्पत्तम् ॥१५॥

इस प्रकार कुमार के प्रभाव से ही प्रेरित होकर, अराह ने आपने शास्त्र का निष्पत्त ( सिद्धान्त ) संक्षेप में कहा—॥१५॥

अयतामयमस्माकं सिद्धान्तः शृणुतां वरः ।

यथा भवति संसारो यथा चैव निवर्तते ॥१६॥

हे श्रोताओं में श्रेष्ठ ! हमारा यह सिद्धान्त सुनिए कि कैसे यह संसार बनता है एवं किस प्रकार मिटता है ॥१६॥

प्रकृतिश्च विकाशश्च जन्म मृत्युर्जय च ।

तत्त्वावत्सत्त्वमित्युक्तं स्थिरसत्त्वं परेहि तत् ॥१७॥

हे स्तिरस्तुदि ! ऐसा समझिये कि प्रकृति विकार-बन्म मृत्यु, एवं जरा, इनको सत्त्व कहा है ॥१७॥

तत्र तु प्रकृति नाम विद्धि प्रकृतिकोविदः ।

पञ्चभूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च ॥१८॥

हे स्वमायतः जाता ! उसमें पंचभूत, अहंकार, बुद्धि एवं अव्यक्त को प्रकृति जानो ॥१८॥

विकार इति बुध्यस्य विषयानिन्द्रियाणि च ।

पाणिपादं च वाचं च पायूपस्थं तथा मनः ॥१९॥

और विषयो तथा इन्द्रियो—हाथ, पैर, वाली, हुड़ा, जिज्ञ तथा मन को 'विकार' ऐसा जानो ॥१९॥

अस्य चेत्रस्य विज्ञानात्त्वेतत्त्वं इति संज्ञि च ।

चेत्रवा इति चात्मानं करवयन्त्वात्मचिन्तकाः ॥२०॥

और संज्ञो ( चेत्रन ) इस चेत्र चेत्र ( देह ) को बानता है अतः 'चेत्रवा' ये सा ( कहा जाता है ) एवं आत्मा का चिन्तन करने वाले, आत्मा को चेत्रण कहते हैं ॥२०॥

सशिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्ध इति स्मृतः ।

सपुत्रः प्रतिबुद्धस्तु प्रजापतिरिहोच्यते ॥२१॥

इस विषय ( चेत्र चेत्रण के ज्ञान ) में शिष्य सहित कपिल प्रतिबुद्ध ( प्रबुद्ध या तत्त्ववेचा ) स्मरण किये गये ( कहे गये हैं ) किन्तु पुत्रो सहित प्रजापति ( पुत्र पालन अथवा उत्पत्त करने वाला मनुष्य ) इस विषय में प्रतिबुद्ध ( केवल पुत्र पालन में चतुर ) कहा जाता है ॥२१॥

जायते जीर्णते चैव वाभ्यते ख्रियते च यत् ।

तद्व्यक्तमिति विज्ञेयमव्यक्तं तु विषयसात् ॥२२॥

जो उत्तरण होता, जीर्ण होता, पीड़ित होता एवं मरता है उसे स्वक एवं जो इसके विषयीत है उसे अव्यक्त समझना चाहिये ॥२२॥

आज्ञानं कर्म तृष्णा च छेयाः संसारहेतवः ।

स्थितोऽस्मिंस्त्रितये जन्मुत्सत्सत्त्वं नातिवर्तते ॥२३॥

अज्ञान, कर्म और तृष्णा संसार के हेतु हैं । इन तीनों में स्थित रहने

वाला बन्तु उस सत्त्व ( प्रकृतिनिकार जन्म, जरा, व मृत्यु ) के पार नहीं चा  
रकता ॥२३॥

विप्रत्ययादहङ्कारसंदेहादभिसंप्लवात् ।

अविशेषानुपायाभ्यां सङ्गादभ्यवपाततः ॥२४॥

विप्रत्यय, अहङ्कार, सन्देह, अभिसंप्लव, अविशेष, अनुपाय, उज्ज्ञ, अभ्यव-  
पात—इनके कारण जीव सत्त्व का अतिक्रमण नहीं कर सकता है ॥२४॥

तत्र विप्रत्ययो नाम विपरीतं प्रवतते ।

अन्यथा तुरते कार्यं मन्त्रव्य मन्त्रतेऽन्यथा ॥२५॥

उनमें विपरीत शाम वाला, विपरीत शान्तरण करता है, कार्य को उलटा  
करता है तथा मन्त्रव्य को उलटा मानता है ॥२५॥

ब्रवीम्यहमहं वेदि गच्छान्यहमहं स्थितः ।

इतीहैवमहंकारस्त्वनहंकार ! वर्तते ॥२६॥

हे अनहङ्कार ! मैं बोलता हूँ, मैं जानता हूँ । मैं जाता हूँ, मैं स्थित हूँ—  
इस प्रकार का ( भाव ) संसार में 'अहङ्कार' है ॥२६॥

यस्तु भावानसंदिग्धानेकोभावेन पश्यति ।

मृत्युरडवद्संदेह ! सन्देहः स इदोच्यते ॥२७॥

हे सन्देहरहित ! जो असंदिग्ध एक दूसरे से कभी नहीं मिलने वाले  
भावों ( पदार्थों ) को मिटा के देले के समान एकोभाव ( मिले हुए ) देखता  
है उसे इस लोक में 'सन्देह' कहत है ॥२७॥

य एवाहं स एवेदं मनो बुद्धिं कर्म च ।

यद्यच्चैवेष गणः सोऽहमिति यः सोऽभिसंप्लवः ॥२८॥

जो यह मैं हूँ वही यह मन, बुद्धि तथा कर्म है, और जो यह 'मन आदि'  
का गण है वही मैं हूँ—ऐसा जो यह (जान) है वही अभिसंप्लव है ॥२८॥

अविशेषं विशेषज्ञ ! प्रतिबुद्धाप्रबुद्धयोः ।

प्रकृतीनां च यो वेद सोऽविशेष इति स्मृतः ॥२९॥

झोर हे विशेषह ! जानी, अज्ञानी तथा प्रकृतियों में अविशेष ( विशेषता, भेद ) जो नहीं जानता है, वह 'अविशेष' कहा जाता है ॥२९॥

नमस्कारवपट्टकामी प्रोक्षणाभ्युक्षणादयः ।

अनुपाच इति प्राङ्मुखायह ! प्रवेदितः ॥३०॥

हे उपायज ! नमस्कार, वपट्टकार, प्रोक्षण, अभ्युक्षण आदि को प्राज्ञों  
में 'अनुपाच' ( अमें का उपाय नहीं ) —ऐसा जाना है ॥३०॥

सज्जते येन दुर्मेघा भनोवाभ्युदिकर्मभिः ।

विषयेष्वनभिष्वज्ज ! सोऽभिष्वज्ज इति सूतः ॥३१॥

हे सद्गुरुंदित ! जिससे दुर्मेघ उक्ख मन, वाणी, बुद्धि व रूप के द्वारा  
विषयों में आसक्त ( आचक्ष ) होता है—उसे 'अभिष्वज्ज' समरण किया  
गया है ॥३१॥

ममेदमहमन्यति यद् दुर्खमभिमन्यते ।

विज्ञेयोऽभ्यवपातः स संसारे येन पात्यते ॥३२॥

'यह मेरा, मैं उसका'—इस प्रकार के माव को, जो दुःख माना गया है  
उसे 'आभ्यवपात' जानना चाहिये ॥३२॥

इत्यविद्यां हि विद्वान्स पश्चापयों समीहते ।

तस्मो मोहं महामोहं तामिकद्युमेव च ॥३३॥

षष्ठि, मोह, मामोह, तामिकद्युम ( दो तामिल )—ये पांच पर्व को 'असिया'  
—ऐसा वह निदान भहता है ॥३३॥

तत्राकास्यं तस्मो विद्वि मोहं मृत्युं च जन्म च ।

महामोहस्तसंमोह ! काम इत्येव गम्यताम् ॥३४॥

हे मोहरवित ! उनमें ब्रातस्य को तम समझिते, जन्म एवं मृत्यु को  
मोह तथा काम ही महामोह है—ऐसा जानिये ॥३४॥

यस्माद्व च भूतानि प्रमुहान्ति महान्त्यधि ।

तस्मादेव महाबाहो महामोह इति सूतः ॥३५॥

हे महाकाहो ! इस कारण से वडेवडे प्राणी इस कान में भूँद हो जाते हैं अतः इसे 'महामोह' कहते हैं ॥३५॥

तामिस्तमिति चाकोष ! क्रोधमेवाविकुचिते ।

विपादं चान्धतामिस्तमविपाद ! प्रचक्षते ॥३६॥

हे अकोष ! कोष को ही 'तामिस'—येसा ( आविकामपूर्वक ) कहते हैं, और हे विपादराहि ! विपाद को ही 'चान्धतामिस्त' कहते हैं ॥३६॥

अनया विद्यया बालः संयुक्तः पञ्चपर्वया ।

संसारे दुःखगृहिण्ठे जन्मस्त्वभित्तिविच्छयते ॥३७॥

इस पौच पोर बालो अविद्या से संयुक्त होकर अब यात्रा इस दुःख-  
सहूल संसार में पुनः पुनः जन्म में जाला जाता है ॥३७॥

द्रष्टा ओता च मन्ता च कायेकाणमेव च ।

अहमित्येवमागम्य संसारे परिवर्तते ॥३८॥

द्रष्टा, ओता, माता, काये एव कारण—‘मैं ही हूँ’—येसा मानता हुआ  
वह संसार में भटकता है ॥३८॥

इहैभिर्हेतुभिर्थीमिन ! जन्मस्रोतः प्रवर्तते ।

हेत्वभावात्कलाभाव इति विज्ञातुमर्हसि ॥३९॥

हे बुद्धिमान् ! इन हेतुओं से ही जन्म स्रोत बदला है । हेतु के अभाव से  
फल का अभाव होता है—येसा जानना चाहिये ॥३९॥

तत्र सम्यह मतिविद्यात्मो चक्षाम ! चतुष्प्रयम् ।

प्रतिकुद्धाप्रखुद्धो च दयक्षमव्यक्षमेव च ॥४०॥

हे मोक्षेन्द्रु ! बुद्धिमानो को ये चार बातें सम्यक् ( खुद्धो तरह से )  
जानना चाहिये—प्रतिकुद्ध, अप्रखुद्ध, दयक्ष एव अव्यक्ष ॥४०॥

सथावदेतदिज्ञाय चेत्वाहो हि चतुष्प्रयम् ।

आजवंजवतां हित्वा शप्नोति पदमकारम् ॥४१॥

चेत्वश ( आत्मा ) इन चारों को अच्छी तरह जानकर आवागमन ( आना  
जाना ) कोड़कर अच्छर ( अविनाशी ) पद पाता है ॥४१॥

इत्यर्थं ग्राहयणा लोके परमत्रिवावादिनः ।  
त्रिवाचर्यं चरन्तीह ब्राह्मणान्वासयन्ति च ॥४२॥

इसके लिये ही संसार में परम ब्राह्मवादी ब्राह्मण ब्राह्मर्थ का आचरण करते हैं एवं ब्राह्मणों को ( ब्राह्मचर्य ) बताते हैं ॥४२॥

इति वाक्यमिदं अत्या मुनेत्तस्य नृपात्मजः ।  
अध्युपायं च प्रपञ्चं पदमेव च नैषिकम् ॥४३॥

राज-पुत्र ने, उन मुनि का यह वचन सुनकर, उपाय एवं नैषिक पद के सम्बन्ध में पूछा ॥४३॥

त्रिवाचर्यमिदं चर्यं यथा यावच यत्र च ।  
धर्मस्यास्य च पर्यन्तं भवान्त्यास्यातुमहसि ॥४४॥

हे भगवन् । यह ब्राह्मर्थ जैसे, वब तक एवं वहाँ पर रहा जाता है तथा इस धर्म का अन्त वहाँ हाता है । इसकी व्याख्या करे ॥४४॥

इत्यराहो व्याशाश्च विस्पष्टार्थं समाप्ततः ।  
तमेवान्वेन कल्पेन धर्ममस्मै व्यभाषत ॥४५॥

ऐसा पूढ़ा जाने पर श्रीराध ने शास्त्रानुसार उसी धर्म को दूसरी रीति से, स्पष्ट अर्थों में संक्षेप में, उसके लिये कहा—॥४५॥

अथमादौ गृहान्मुक्त्वा भैक्षारं लिङ्गमात्रितः ।  
समुदाचाराचस्तीर्णं शीलनादाय वर्तते ॥४६॥

यद ( वती ) पदिले पर छोड़कर भिञ्जुक का वेष धारण करके, तम्ह कुदार आचरण-संयुक्त शौल ग्रहण करके रहता है ॥४६॥

संतोषं परमास्थाय येन तेन यत्सततः ।  
विविक्तं सेवते वासं निष्ठुन्दुः शाश्वविलक्ती ॥४७॥

जहाँ तहाँ से, किस तिस प्रकार से जो कुछ भी प्राप्त हो, परम संतोष से रहते हुए, कुण्डलतापूर्वक, शाश्व का चिन्तन करते हुए निर्द्वन्द्व एकान्त वास करता है ॥४७॥

ततो रागाद्युर्यं हयु वैराग्यात् परं शिवम् ।  
निगृह्णिन्द्रियग्रामं यतते मनसः शमे ॥४८॥

तब राग से भय एवं वैराग्य से परम कल्पाता — ऐसा देख इन्द्रिय-समुदाय को बदा ते करते हूँ, मन की शान्ति के लिये बदा करता है ॥४८॥

अथो विविक्तं कामेभ्यो न्यापादादिभ्य एच च ।

विवेकजमवाप्नोति पूर्वध्यानं वितर्कवत् ॥४९॥

इसके बाद काम एवं कोष औंभ आदि मे शूल, विवेकज्ञस्य वितर्कवान् पूर्वध्यान ( प्रथम समाचि ) प्राप्त करता है ॥४९॥

तत्र अ्यानसुखं प्राप्य तत्तदेव वितर्कयन् ।

अपूर्वसुखलाभेन हितते चालिशो जनः ॥५०॥

और उस अ्यानसुख को गाकर उसी उसी का वितर्क ( चिन्तन ) करता हुआ मूर्ति भनुध ( विद्वान नहीं ) विलङ्घण मुख की ग्रासि द्वारा पदच्छुत हो जाता है ॥५०॥

शमेनैविवेतायं कामद्वेषविगर्हिणा ।

त्रिलोकमवाप्नोति परितोषेण चित्तिः ॥५१॥

इसी प्रकार की शान्ति से, जो काम और द्वेष की विरोधिनी है, जब सोइ प्राप्त होता है । इस प्रकार के मिथ्याभिमान से वह ठगा जाता है ॥५१॥

शास्त्रा विद्वान्वितकांस्तु मनःसंज्ञोभकारकान् ।

तद्वियुक्तमधाप्रोति अ्यानं प्रीतिसुखान्वितम् ॥५२॥

किन्तु विद्वान मनुष्य वितर्कों का समझकर, वितर्कों से रहित एवं प्रीतिसुख से उक्त अ्यान प्राप्त करता है ॥५२॥

हित्यमाणस्तवा प्रीत्या यो विशेषं न परत्यति ।

स्थानं भास्त्वरमाप्रोति देवेष्वाभास्त्वरेषु सः ॥५३॥

उस प्रीति द्वारा हरण ( विच्छिन्न ) किये जाने पर जो विशेष ( विशिष्ट तत्त्व ) को नहीं देखता है वह शास्त्रवर देवों के मन्त्र मास्त्रर स्थान पाता है ।

यस्तु प्रीतिसुखात्समाद्विचेष्यति मामसम् ।

तृतीयं लभते ध्यानं सुखं प्रीतिविवर्जितम् ॥५४॥

जो उस प्रीतिसुख से ( भो ) अपने मन को त्रुट ( निकाल ) लेता है, वह प्रीतिशब्द ( विलक्षण ) सुख ( स्वरूप ) तृतीय ध्यान प्राप्त करता है ॥५४॥

यस्तु वस्तिमन्तस्तु खे मग्नो न विशेषाय वज्रवान् ।

शुभकृत्त्वैः स सामान्यं सुखं प्राप्नोति देवतैः ॥५५॥

जो उस सुख में मध्य होकर विशेष के लिये प्रभल नहीं करता है, वह शुभ-  
कृत्त्व नामक देवताओं के साथ नामान्य सुख प्राप्त करता है ॥५५॥

तादृशं सुखमासाद्य यो न इत्यत्युपेक्षकः ।

चतुर्थं ध्यानमाप्नोति सुखदुर्घाविवर्जितम् ॥५६॥

वैसा सुख पाकर वो अनुरक्त नहीं होता है ( अपितु ) उपेक्षा करता है, वह दुःख-सुख से रहित चोया ध्यान प्राप्त करता है ॥५६॥

तत्र केचिद् व्यवस्थन्ति भोक्त इत्यनिमानिनः ।

सुखदुर्घाविवर्त्यागादव्यापाराच चेतसः ॥५७॥

उसमें सुख-दुःख का परिस्थाप हो जाता है एवं मन का व्यापार नहीं होता है, अतः कुछ अभिभावी लोग उसे 'भोक्त' कहते हैं ॥५७॥

अस्य ध्यानस्य तु फलं समं देवैर्वृहत्पत्तैः ।

कथयन्ति त्रृष्णकालं त्रृहत्प्रज्ञापरीक्षकः ॥५८॥

कृत्त्वप्रसा ( ग्राह-ज्ञान ) के परोक्षक कहते हैं—इस ध्यान का फल त्रृहत्पत्त उपकाल देवों के साथ सुदीर्घकाल तक मिलता है ॥५८॥

समाधेव्युल्लितस्तस्माद् हृष्ट दोषाद्युर्दीरिणाम् ।

ज्ञानमारोहति प्राज्ञः शारीरविनिवृत्तये ॥५९॥

( वहाँ ) शरीरभारियों के देख देवाकर त्रृदीपान् जब उस समाधि से उठकर शरीर निवृत्ति के लिये ज्ञान पर आरुद होते हैं ॥५९॥

ततस्तदृध्यानसुत्सुज्य विशेषे कुतनिध्यः ।  
कामेभ्य इव स ग्राहो रूपाद्यपि विरज्यते ॥५०॥

तब वह विद्वान् विशेष के लिये निधय छर्के उस ध्यान को छोड़कर, काम की तरह स्वप्न से भी विरक्त हो जाता है ॥५०॥

शरीरे स्थानि यान्यस्मिस्तान्यादी परिकल्पयन् ।  
प्रत्येष्वपि ततो द्रव्येष्वाकाशमधिमुच्यते ॥५१॥

इस शरीर में ओँ छिद ( इदियो ) है, पहिले उनकी कल्पना ( शून्य की भावना ) करता है। फिर उन ( दोष ) द्रव्यों में भी आकाश ( शून्य ) की भावना करता है ॥५१॥

आकाशगतमात्मानं संचित्य त्वपरे चुषः ।  
तदेवानन्ततः पश्यन्वशेषमधिगच्छति ॥५२॥

दूसरा चुष पुरुष आकाश में दिग्भ आत्मा ( जीवात्मा या अहम् आत्मा ) को शीनकर, उसी को अनन्त स्वरूप देखता हुआ विशेष को प्राप्त करता है।

अथ्यात्मकुशलस्त्वन्यो निवर्त्यात्मानमात्मना ।  
किञ्चिन्नास्तीति संपश्यन्नाकिञ्चन्य इति रमृतः ॥५३॥

दूसरा अथ्यात्म कुशलसाधक आत्मा द्वारा आत्मा को छुड़ाकर 'कुछ नहीं है'—ऐसा देखता हुआ 'आकिञ्चन्य'—ऐसा स्मरण किया जाता है ॥५३॥

ततो मुख्यादिषोकेव शकुनिः पञ्चादिव ।  
तेऽन्नो निःसृतो देहान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥५४॥

तब मुख से निकली हुई भींक की तरह, पिंड से निकले हुए पचों की तरह, देह से निःला चेवज ( आत्मा ) 'मृत हो गया'—ऐसा कहा जाता है।

एतत्त्परमं ज्ञानं निर्लिङ्गं प्रवृत्तमत्तरम् ।  
यन्मोक्षं इति तत्त्वज्ञाः कथयन्ति मनोपिणः ॥५५॥

यह वह चिह्न रहत अटल अविनाशी परम ज्ञान है जिसे तत्त्व-ज्ञाता मनोपो 'मोक्ष'—ऐसा कहते हैं ॥५५॥

इत्युपायश्च मोक्षश्च मया संदर्शितस्त्वा ।

यदि ज्ञातं यदि नचिर्यजावत्प्रतिपदाताम् ॥६६॥

इस प्रकार उपाय एवं मोक्ष, मैंने आपको बताया, यदि समझें हो एवं  
इसमें रुचि रखते हों तो प्राप्त ( ग्रहण ) कीजिये ॥६६॥

वैगीषव्योऽथ जनको दृढरचैव पराशरः ।

इमं पञ्चाननमासाद्य मुक्तो शन्ये च मोक्षिणः ॥६७॥

वैगीषव्य, जनक, दृढ पराशर एवं अन्य मुक्त पुरुष, इस मार्गे ज्ञा सहारा  
लेकर मुक्त हुए ॥६७॥

इति तस्य स तद्वाक्यं गृहीत्वा तु विचार्य च ।

पृथिवेनुभलप्राप्तः प्रत्युत्तरमुवाच इ ॥६८॥

वह ( कुमार ) उसके ऐसे जनन सुनका एवं लिचारकर, पूर्व जन्म के  
द्वितीय बल ( दीन कृशल मूलों की शक्ति ) में मुक्त हों प्रति उत्तर दिया ॥६८॥

श्रुतं ज्ञानमिवं सूचयं परतः परतः शिवम् ।

चेत्रज्ञस्यापरित्यागादवैम्येतदेनैषिकम् ॥६९॥

उत्तरोत्तर कल्पानुभव यह सूचम ज्ञान ( मैंने ) सुना । चेत्रज्ञ का परित्याग  
न होने से इसे अनैषिक ( नैषिक पद नहो ) समझता हूँ । ६९॥

विकारप्रकृतिभ्यो हि चेत्रज्ञं मुक्तमप्यहम् ।

मन्ये असत्त्वमार्ण वीजधर्माणमेव च ॥७०॥

विकार एवं प्रकृति से मुक्त होने पर मी चेत्रज्ञ में प्रत्यक्ष भर्म ( उत्तरि  
करने का स्वभाव ) एवं वीज भर्म ( उत्पादन शक्ति ) रहा आता है—ऐसा मैं  
समझता हूँ ॥७०॥

विशुद्धो यद्यपि ज्ञात्मा निर्मुक्त हति कल्प्यते ।

भूयः प्रत्ययसङ्घावादमुक्तः स भविष्यति ॥७१॥

यद्यपि विशुद्ध आत्मा निर्मुक्त है—ऐसा समझ लिया गया, फिर भी  
प्रत्ययों ('अस्ति' ऐसा विभाव) के विद्यमान रहने से अमुक हो जायगा ॥७१॥

क्रतुभूम्यम्नुविरहायथा वीजं न रोहति ।

रोहति प्रत्ययस्तैस्तैस्तद्वत्सोऽपि मतो भम ॥७२॥

जैसे शून्य, भूमि व अल के अभाव में बोक्तु अंकुरितनहीं होता है किंतु उन उन कारणों के होने से, अंकुरित होता है—ऐसा ही उसको भी मैं मानता हूँ ॥७२॥

यत्कर्माङ्गानतृष्णानां त्यागान्मोक्षश्च कल्पयते ।

अत्यन्तस्तत्परित्यागः सत्यात्मनि न विद्यते ॥७३॥

जो कर्म, असान, तृष्णा के त्याग से मोक्ष होने की कल्पना की जाती है, सो आत्मा के रहते हुए उनका सर्वथा त्याग ( अभाव ) नहीं हो सकता है ।

हित्वा हित्वा त्रयमिदं विशेषस्तूपलभ्यते ।

आत्मनस्तु स्थितिर्वच तत्र सूक्ष्ममिदं त्रयम् ॥७४॥

इन तीनों को त्यागते-त्यागते, शेष की प्राप्ति होती है, किन्तु जहाँ आत्मा का अस्तित्व रहता है, वहाँ तीनों सूक्ष्म रूप में रहते ही हैं ॥७४॥

सूक्ष्मत्वाच्चैव दोषाणामन्यापाराच्च चेतसः ।

दीर्घत्वाद्यायुपश्चैव मोक्षस्तु परिकल्पयते ॥७५॥

दोषों के सूक्ष्म हो जाने से परं चित्त से व्यापार नहीं होने से तथा आयु दीर्घ हो जाने से मोक्ष की ( केवल ) कल्पना कर ली जाती है ॥७५॥

अहंकारपरित्यागो यस्त्वेष परिकल्पयते ।

सत्यात्मनि परित्यागो नाहंकारस्य विद्यते ॥७६॥

और जो अहंकार के परित्याग की कल्पना भी जाती है, वह, आत्मा के विद्यमान रहते, अहंकार का परित्याग नहीं हो सकता है ॥७६॥

संख्यादिभिरमुक्तश्च निर्गुणो न भवत्यम् ।

तस्मादसति नैर्गुण्ये नास्य मोक्षोऽभिधीयते ॥७७॥

और संख्या आदि से मुक्त नहीं होने पर वह निर्गुण नहीं हो सकता है । अतः निर्गुण हुए बिना ‘उसका मोक्ष हो गया’—ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

गुणिनो हि गुणानां च व्यतिरेको न विद्यते ।

रूपोऽग्नाम्यां विरहितो न शामिनपलभ्यते ॥७८॥

गुणी एवं गुण अलग अलग नहीं रह सकते हैं। ( उस प्रकार ) रूप एवं उभयता से रहित अगि नहीं पाई जाती है ॥३३॥

प्राणदेहात्र भवेदेही प्राणगुणोऽवस्थां गुणी ।

तस्मादादौ विमुक्तः सज् शरीरो बध्यते पुनः ॥३४॥

देही देह से पूर्व नहीं, इसी तरह गुणी गुणों से पूर्व नहीं। अतः परिले मुक्त होते पर भी शरीर पुनः बेघ जाता है ॥३५॥

क्षेत्रज्ञो विशरीरत्य ज्ञात्वा स्यादत्र एव च ।

यदि ज्ञो ज्ञेयमस्यास्ति ज्ञेये सति न मुच्यते ॥३६॥

एव शरीररहित आत्मा जानने चाला अथवा न जानने चाला—दोनों में से एक ही सक्ता है। यदि 'ज्ञ' है तो उसके लिये जानना शेष है। चब जानना अभी शेष है तो नुक्त नहीं है ॥३७॥

अथात् इति सिद्धो वः कलिपतेन किमात्मना ।

विजापि आत्मनाज्ञानं प्रसिद्धं काप्रकुड्यवत् ॥३८॥

यदि आपके तिद्वान्त से अक्ष है तो आत्मा की बहुभन्न से क्या ? ( लाभ )। क्योंकि आत्मा के बिना भी वह बस्तु काउ एवं दीवाज्ञ सहय सिद्ध है ॥३९॥

परतः परतस्त्वागो यस्मात् गुणवान् स्मृतः ।

तस्मात्सर्वपरित्यागान्मन्ये कृत्स्नां कृतार्थवाम् ॥४०॥

नयोंकि एक के बाद एक ( गुणों ) का त्याग करता है अतः 'गुणवान्' समझा किया गया है, यद्यपि सबके त्याग से पूर्ण फृतार्थता होती है—ऐसा मैं मानता हूँ ॥४०॥

इति धर्ममाडस्य विदित्वा न तुतोष सः ।

अकृत्स्नमिति विज्ञाय ततः प्रतिजगाम ह ॥४१॥

इस प्रकार वह ( कुमार ) अराह का भर्त जानकर संतुष्ट नहीं हुआ 'यह भर्त अपूर्ण है'—ऐसा जानकर वहां से चला गया ॥४१॥

विशेषमय युद्धपुरुद्रकस्याश्रमं यज्ञी ।

आत्ममाहात् तस्यापि जगृहे न स दर्शनम् ॥४२॥

इतके लाद ( कुब ) लिशेष बानने की हच्छा से उद्रक के आधम में गया किन्तु आत्मा को स्वीकार करने के कारण उसका भी वार्षिक चिनार उसने महस्य महो किया ॥८८॥

संज्ञासंज्ञित्वयोर्दीप्तं ज्ञात्वा हि मुनिकृद्रकः ।

त्र्याक्षिचन्यात्परं लभेऽसज्जासंज्ञात्मकं मतिम् ॥८९॥

उद्रक मुनि ने चेतन और चड ( इत्याद ) में दोष देखकर अकिञ्चन से परे, संज्ञा, असज्जा-नहित ( तत्त्व ) का गुण प्राप्त किया था ॥८९॥

यस्माच्चालभवने सूक्ष्मे संज्ञासंक्षेत्रं परम् ।

नासंक्षी नैव संज्ञाति तस्मात्तत्र गतस्थृहः ॥९०॥

क्योंकि सूक्ष्म ( कारणभूत ) संज्ञा व असंज्ञा ( चेतन व चड ) भी कर्म के अधिष्ठान हैं। उससे परे न तो सज्जावान् और न असंज्ञावान् तत्त्व है किंतु वह मूल तत्त्व का अभिलाषा था ॥९०॥

यतत्र ब्रुद्दिस्तत्रैव स्थितान्तत्रापत्त्वारिणी ।

सूक्ष्मापट्टो ततस्तत्र नासंक्षित्वं न संक्षिता ॥९१॥

क्योंकि ब्रुद्दि सज्जा एव स्थित होकर वही रुक जाती है अन्यत्र नहीं जाती है अतः न वही छलन्ता है और न संज्ञा है ॥९१॥

यस्माच्च तद्रपि प्राप्य पुनरावर्तते जगत् ।

बोधिसत्त्वः परं प्रेष्मुक्तमादुद्रकमत्यजन् ॥९२॥

क्योंकि उसे भी प्राप्त कर बोध पुनः संखार में लीट आता है अतः बोधिसत्त्व ने परम पद पाने को हच्छा से उद्रक को भी त्याग दिया था ॥९२॥

ततो हित्वाभ्यं तस्य शेषोऽर्थी कृतनिश्चयः ।

भेजे राघव्य राजर्पेनंगरीसंज्ञमाभ्यम् ॥९३॥

तब कल्पाया की हच्छा से निष्पत्त करके, उसका आधम छोड़कर राज शृणि 'गम' के पास नगरी नामक आधम गया ॥९३॥

अथ नैरज्ञानातीरे शुचौ शुचिपराक्रमः ।

नकार वासमेकान्तविहाराभिरतिर्मुनिः ॥९४॥

इसके बाद, पवित्र पराक्रम वाले एकान्त-विहार में आनन्द पाने वाले उस शुभि ने नीरङ्गना नदी के पवित्र तट पर निवास किया ॥६०॥

आगतान् तत्र तत्पूर्वं पञ्चे निद्रयवशोदृतान् ।

तपःप्रवृत्तान् ब्रतिनो भिज्ञन् पञ्चे निरैक्षत ॥६१॥

उसके पाइले ही वहाँ आये हुए, पञ्च इन्द्रियों को वहाँ में कर लेने के कारण गौरवान्वित एवं तपस्या में लगे हुए बतमिष्ठ पाँच भिज्ञाओं को ( उसने ) देखा ॥६२॥

ते चोपतम्भुँग्राम भिज्ञवस्तं सुमुक्षवः ।

पुण्यांजिनधनारोग्यमिनिद्रयापां इवेश्वरम् ॥६३॥

मोक्ष चाहने वाले वे भिज्ञक, उसे वहाँ देखकर, उसके पास गये जैसे इन्द्रियों के विषय उस प्रेसर्ववन् के पास उपस्थित होते हैं जिसने अपने मुगम से घन एवं भारोग्य एकत्रित किया है ॥६३॥

सम्पूर्ज्यमातस्तैः प्रहौर्विनयादनुचर्तिभिः ।

तद्वशस्यायिभिः शिष्यैर्लोलैर्मन इवेनिद्रयैः ॥६४॥

ब्रह्मती, जिनीत, अनुयायी एवं आशाकारा उन शिष्यों से वह ऐसे मैथित हुआ जैसे जबल इन्द्रियों से मन सेवित होता है ॥६४॥

सत्युजन्मान्तकरणे स्यादुपायोऽयमिलय ।

दुष्कराणि समारेभे तपांस्यनशनेन सः ॥६५॥

मृत्यु एवं जन्म का अन्त करने में उपाय ( साधन ) बनेगा, इस उद्देश से उसने बिना आदार ( निरादार ) रहकर दुष्कर तप आरम्भ किया ॥६५॥

उपवासविश्रीङ्गे कान् कुर्वन्नरदुराचरान् ।

वर्षाणि षट् शम्भेष्युरकरोत्कार्यमात्मनः ॥६६॥

शान्ति पाने की इच्छा से उसने ( ऋन्य ) नरों के लिये दुष्कर आनेक स्रकार के उपवास ब्रत कः वर्ष तक बरते हुए अपने को कृश बिया ॥६६॥

अग्रकालेषु चैकैकैः स कोलतिलवरदुलैः ।

अपारपारत्वंसारपारं व्रेष्युरपारयन् ॥६७॥

उसने अपार-पार संसार का पार पाने की इच्छा से मोचन के समय पर बेर, तिल, तरशुल का एक एक करके पारण किया ॥८६॥

देहाद्यपचयस्तेन तपसा तस्य षः कृतः ।

स एवोपचयो भूयस्तेजसास्य कृतोऽभवत् ॥८७॥

तपस्या ने उसकी देह को बितना कृत किया, उसके तेज ने उतनी ही बुद्धि की ॥८७॥

कुशोऽप्यकृशकीतिश्रीहोदं चक्रेऽन्यचक्षुपाम् ।

कुमुदानामिव शरन्त्युक्तजप्त्वादिवन्द्रमाः ॥८८॥

दुर्बल होने पर भी उसको कीति पर्व शोमा चोण नहीं हुई थी । उसने दूसरे की आँखों को ऐसे ही प्रसंज किया जैसे शरद ऋतु के शुक्र पक्ष की पूर्णिमा का चन्द्रमा, कुमुदों को प्रसंग छरता है ॥८८॥

त्वगस्त्वशोषो निःशोषेभेदःपिशितशोणितैः ।

ज्ञीणोऽप्यज्ञाणगाम्भीर्यः समुद्र इव स व्यभान् ॥८९॥

मेदा, मांस, खन से रहित, त्वचा एवं इडो मात्र शेष ( शरीर से ) वह समुद्र सहशा सुशोभित हुआ ॥८९॥

अथ कष्टतयःस्पष्टव्यर्थक्लिष्टतनुर्मुनिः ।

भवभीरुरिमां चक्रे बुद्धि मुद्दत्वकाङ्गत्वा ॥९०॥

संसार से बरने वाले उस मुनि ने कठिन तपस्या से 'सत्य ही शरीर को अपर्यं कह होता है'—ऐसा सोचकर मुद्दत्वं प्राप्ति का इच्छा से इस प्रकार विचार किया ॥९०॥

नायं धर्मो विगगाय न वोधाय न मुक्तये ।

जम्बुमूले मया प्राप्तो यस्तदा स लिपिभ्रुवः ॥९१॥

यह धर्म न वैराग्य दे सकता है, म वोध और न मुक्ति । उस समय जम्बु वृक्ष के नीचे जो साधन मेंने प्राप्त किया था वहो ब्रुव है ॥९१॥

न चात्मे दुर्बलेनाप्युं शक्यमित्वागतादरः ।

शरीरस्तत्त्वं ज्ञानवर्थमिदं भूयोऽन्वचिन्तयत् ॥९२॥

दुर्बल उसे नहीं पा सकता है—ऐसा ( शरीर के पाति ) आदर होने पर,  
शरीर-बल-वृद्ध के लिये उसने उसे ऐसा चिन्हन किया ॥१०३॥

**खुलिपासाअमक्लान्तः १ माद्वस्थमानसः ।**

**प्राप्नुयान्मनसावायं फलं कथमनिवृतः ॥१०३॥**

ज्ञाना, प्रियासा, भक्ति से ज्ञोग परं परिक्षम से छिसका मन अस्तव्यस्त  
है—ऐसा असामत मनुष्य, मन से प्रात होने वाला कल कैसे प्राप्त कर  
सकता है ? ॥१०३॥

**निवृतिः प्राप्यते सम्यक् सततेन्द्रियतर्पणान् ।**

**संतप्तिनेन्द्रियतया मनःस्वास्थ्यमवायते ॥१०४॥**

इन्द्रियों को सदा तूम रखने पर अच्छी बान्ति मिलती है एवं इन्डियों के  
सम्यक् रूप रहने से ही मानसिक रिपर्टा मिल जाती है ॥१०४॥

**स्वस्थशसनमनसः समाधिरूपपरते ।**

**समाधियुक्तचित्तस्य ध्यानयोगः प्रवर्तते ॥१०५॥**

हिंगर एवं प्रसन्न मन बाले को समाधि सिद्ध होती है । समाधि से युक्त  
चित्त बाले को श्यान योग जात होता है ॥१०५॥

**ध्यानप्रवर्तनाद्वाराः प्राप्यन्ते वैरवाप्यते ।**

**दुर्लभं शान्तमजरं परं तदमृतं पदम् ॥१०६॥**

ध्यान प्रवृत्त ( सिद्ध ) होने पर वे खम्भं जात करते हैं जिनसे दुर्लभं,  
शान्त, अजर, परम वह अमृत पद प्राप्त होता है ॥१०६॥

**तस्मादाहारमूलोऽयमुपाय इति निश्चयः ।**

**अहारकरणे धीरः कृत्वाऽमितमतिमितिम् ॥१०७॥**

आतः वह उपाय आहारमूलक है—ऐसा निष्ठप करके उस महान्  
कुदिमान् ने धोवन करने का विचार किया ॥१०७॥

**स्नातो नैरञ्जनातीरादुनतार शनैः कुशः ।**

**भक्त्यावनतशाखाग्रे देशहस्तस्तटद्रुमैः ॥१०८॥**

शरीर दुर्बल हो गया था, स्नान करके नैरञ्जना नदी के तीर से धोरे धीरे-

उपर चढ़ा। उस समय तट के इलों ने भूमि से शाखाओं के अधसाग को  
कुराकर हाथ का ( सहार ) दिया ॥८०८॥

**अथ गोपाधिपसुता देवतैभित्योदिता ।**

**उद्भूतहृदयानन्दा तत्र नन्दबलागमन् ॥८०९॥**

तब देवताओं से प्रेरित होकर गोपराज की कल्पा 'नन्दबला' हृदय में  
आनन्द भर कर वहाँ गई ॥८०९॥

**सितशंखोज्ज्वलभुजा नीलकन्दबलवासिनी ।**

**सफेनमाला नीलाम्बुर्यसुनेव सरिद्वरा ॥८१०॥**

सफेद शंख ( की मालाओं ) से उज्ज्वल भुजा वाली ( वह ) नील  
कन्दबल के पश्च गईने थी, जैसे केनमाला से युक्त नील तल वाली ऐषु  
नदी यमुना हो ॥८१०॥

**सा अद्वावचितप्रीतिर्विकसल्लोचनोत्पला ।**

**शिरसा प्रणिपत्येन ग्राहयामास पायसम् ॥८११॥**

वह भद्रा से तम्भ एवं प्रसन्न थी, जिसे हुए कमल के समान उल्लेख नेत्र  
थे। ( उसने ) शिर से प्रणाम करके उसको पायस खिलाया ॥८११॥

**कृत्वा तदुपभोगेन प्राप्तजन्मफलां स ताम् ।**

**बोधिप्राप्ती समयोऽभूतसंतरिष्ठपदिन्द्रियः ॥८१२॥**

उस ( पायस ) का उपभोग करके उसने उस कल्पा का जन्म सफल किया,  
एवं वहो हन्द्रयों को अच्छी तरह तुम कर ( वह ) बोध प्राप्त करने में समर्प  
दुआ ॥८१२॥

**पर्याप्तायानभूतिं अ साध्वं स्वयशसा सुनिः ।**

**कान्तिधैर्ये वभारेकः शशाङ्कार्णवयोद्देयः ॥८१३॥**

उस मूर्ति ने अपनो भूति के साथ पर्याप्त शारीरिक दृष्टि पाई एवं उस  
आकेले ने चन्द्रमा एवं सागर ( द्वानो ) का कान्ति एवं धैर्य घारता किया ॥८१३॥

**आचूत इति विद्वाय तं जहुः पञ्च भित्तुः ।**

**मनीषिणमिवात्मानं निर्मुक्तं पञ्च धातवः ॥८१४॥**

पाँचों भिन्नुओं ने उसे ( शर्म से ) निहत्त समझहर छोड़ दिया जिस प्रकार मुक्त हुए विद्वान् आत्मा को पाँचों आत्में छोड़ देती है ॥१४॥

व्यवसायद्वितीयोऽथ शाद्वलास्तीर्णभूतलम् ।

सोऽस्वत्वमूलं प्रययौ चोधाय कुरनिःचयः ॥१५॥

तब चोध पानेके लिये निश्चय करके वह तुम्हें आच्छादित भूमि बाले अश्वत्व के मूलमें अपने ( एक मात्र साथी ) निश्चय के साथ गया ॥१६॥

ततस्तदानीं राजराजविकमः पदस्वनेतानुपमेन चोधितः ।

महामुनेरागतयोग्निश्चयो जगाद् कालो भुजगोत्तमः स्तुतिम् ॥१७॥

तब उस समय गजराज के समान पराक्रमी 'काल' नामक उत्तम सर्प ने, '( यह मुनि ) चोध-प्राप्ति के लिये आया है'—ऐसा निश्चय करके अपनी उत्तम पद खान से उसे बगाकर महामुनि की सुन्त की ॥१८॥

यथा मुने त्वचरणावपांडिता मुहुमुद्दनिष्टनतोत्त मेदिनो ।

यथा च ते राजति मूर्यचतुरभा भूत्वमिष्टं फलमद्य भोद्यसे ॥१९॥

हे मुने ! त्वयोंकि आपके चरणोंसे आकाश होकर पुर्वी बारहवार चड़ती है और आपकी प्रभा सर्व सदृश चमकती है । अतः आज अवश्य ही आप शास्त्रिय फल भोगेंगे ॥२०॥

यथा भ्रमन्त्यो दिवि चापपञ्चतयः प्रदक्षिणं स्वो कमलात् कुर्वते ।

यथा च सौम्या दिवि चान्ति चायवस्त्वमय तुद्धो नियतं भविष्यसि ॥२१॥

हे कमलनयन ! क्योंकि ( नीलकण्ठ ) पक्षियों को पक्षियां आकाश में घूमती हुई आपकी परिक्रमा करती है और आकाश में मन्द पवन वह रहा है, अतः आज अवश्य ही आप 'तुद्ध' हो जायेंगे ॥२२॥

ततो मुजङ्गप्रवरेण संस्तुतशृणान्युपादाय शुचानि लावकात् ।

कृतगतिक्षो निषसाद् चोघये महातरोमूलमुपाश्रितः शुचेः ॥२३॥

तब मुजङ्गओं के द्वारा सुन किये जाने पर, वह काटने वालों से पवित्र तूष्ण लेकर चोध-प्राप्ति के लिये प्रतिदा करके पवित्र महाइङ्ग के मूल का सहारा लेकर चैठा ॥२४॥

ततः स पर्यक्तकम्बुजम् ब्रह्मण् सुपोराभोगपिण्डतम् ।

भिनश्च तावद्भुवि नैसदासनं न यामि यावल्क्तकृत्यतामिति ॥१२०॥

तब उसने, “कब तक कृतार्थ नहीं हो जाऊंगा तब तक पूर्णी पर इस आसन को नहीं तोड़गा” —ऐसा निष्ठव्य करके, उसम अचल एवं सोये हुए के फूरा के समान पिण्डाकार पर्यंत शासन बीचा ॥१२०॥

ततो यवुमुद्दमल्लां दिवीकसो ववाशिरं न मृगाणा न पक्षिणः ।

न सत्वनुवनतरबोऽनिलाहताः कृतासने भगवति निश्चितात्मनि ॥१२१॥

इति पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये अराण-दर्शनो  
नाम द्वादशः सर्गः

जब निष्ठव्य पूर्वक मगाणन् ने आसन बीचा, तब देखता अत्यन्त प्रमुदित हुए । न मृग गमा बोले और न पढ़ो, तथा वायु चलने पर भी वन के शूलों से शब्द नहीं हुआ ॥१२१॥

यह पूर्वबुद्धचरित महाकाव्यमे अराण दर्शने नामक  
द्वादश सर्ग समाप्त हुआ

## अथ त्रयोदशः सर्गः

मारविजयः

मार की पराजय

तस्मिन्विमोक्षाय कुतप्रतिशो राजविवेशप्रभवे महर्षी ।

तत्रोपविष्टे प्रजहृष्टं लोकस्तत्रास सद्दर्मरिपुस्तु मारः ॥१॥

राजमूर्खि चंदा में उत्पन्न होनेकाले उत्र महामूर्खि के, मोक्ष के लिए बहाँ प्रतिशो पूर्वक यैठ जाने पर संसार की प्रथम हुआ, किन्तु [सद्दर्म का शब्दु 'मार' भयभीत हुआ ॥१॥

यं कामदेवं प्रवदन्ति लोके चित्रायुधं पुण्यशारं तथैव ।

कामप्रचाराधिपतिं तमेव मोक्षदिवं मारसुदाहरन्ति ॥२॥

संसार में जितको 'कामदेव' कहते हैं तथा 'चित्र घन्धा' एवं 'पुण्य चाण्ड' कहते हैं, जो मोक्ष का शब्दु है तथा विषय प्रचारको का अधिपति है उसे 'मार' भी कहते हैं ॥२॥

तस्यात्मजा विभ्रमहर्षदपास्तिक्षोऽरतिप्रीतिरुपश्च कृद्याः ।

भग्नरुद्धरेन मनसो विकारं स तांश्च तारचैव वचोऽन्युवाच ॥३॥

उसके तीन पुत्र हैं—विभ्रम, इर्ष एवं दर्प । सीन कन्धाएँ हैं—अरति, प्रीति, एवं तृष्णा । उन्होंने इससे मनोविकार ( का कारण ) बूढ़ा । उन्होंने उन पुत्रों एवं कन्धाओं का यह वर्चन कहा ॥३॥

असौ मुनिनिश्चयवर्मं विभ्रतसत्त्वायुधं दुद्दिशारं विकृष्य ।

जिगीपुरास्ते विषयान्मदीयान्तस्माद्यर्थं मे मनसो विपादः ॥४॥

इस मुनि ने निश्चय रूप लक्ष्य एवं सत्त्व रूप घनुद धारण कर, तुदि रूप चाण्ड तानकर इमारे लियादो ( राज्यो ) को जीतने की हज्बा की है । अतः मुझे यह मानसिक हुआ है ॥४॥

यदि हास्ती मामभिभूय याति लोकाय चास्त्यात्यपवर्गमार्गम् ।

शून्यस्ततोऽयं विषयो ममाच वृत्ताच्छ्युतस्येव विदेहमर्तुः ॥५॥

यदि यह मुझे जीत लेता है एवं संसार के लिये मोक्ष मार्ग बताता है तो मेरा विषय ( राज्य ) आज उसी प्रकार शून्य हो जावेगा, जिस प्रकार सदा-चार से च्युत होने पर ( निमि ) विदेह का हो गया था ॥५॥

तथावदेवैष न लब्धचक्षुर्मेद्गोचरे तिष्ठति यावदेव ।

वास्त्याभि तावद्ब्रतमस्य भेत्तु सेतुं नदीवेग इवातिष्ठदः ॥६॥

अतः जब तक यह जान हाँस प्राप्त नहीं करता। तथा जब तक हमारे चेष्ट में स्थित है, तब तक इसका बत भग करनेके लिए, बाँध तोड़नेके लिए नदी के अत्यन्त बढ़े हुए वेग को तरह जाऊँगा ॥६॥

ततो धनुः पुष्पमयं गृहीत्वा शरान् जगन्मोहकरांश्च पञ्च ।

सोऽश्वत्थमूलं समुद्रोऽभ्यगच्छदस्वास्त्यकारी मनसः प्रजानाम् ॥७॥

तब प्रजाओं के मन को अश्वस्य करनेकाला वह 'मार' पुण्यों का घनुप एवं संसार को मोहित करनेवाले पाँचों वाणीों को लेहर अपने पुण्यों सहित अश्वत्थ के मूल में गया ॥७॥

अथ प्रशान्तं मुनिमासनस्यं पारं तितीषु भवसागरस्य ।

विषवन्य सव्यं करमायुधाम् क्रीडन् शरेरेदमुवाच मारः ॥८॥

तब घनुप के अद्व भाग पर वाणीं हाथ अचाकर वाणीं से खेलते हुए, मार ने, आसन पर स्थित प्रशान्त एवं भवसागर के पार जाने की इच्छा बाले मुनि से ऐसा कहा—॥८॥

उत्तिष्ठ भोः चत्रिय मृत्युभीत चर स्वधमै त्यज मोक्षभर्मम् ।

वाणीरेच यज्ञैश्च विनीय लोकं लोकात्पदं प्राप्नुहि वासवस्य ॥९॥

मृत्यु से दरनेवाले, हो चत्रिय ! उठो ! अपने धर्म का आचरण करो । मोक्ष त्यागो । वाणी एवं यज्ञो से संसार को जीतकर ( इव ) लोक से इन्द्र का पद प्राप्त करो ॥९॥

पन्था हि निर्वातुपयं यशस्यो चो चाहितः पूर्वतमैनरेन्द्रैः ।

जातस्य राजपिंकुले विशाले भैशाक्षमश्लाप्यमिदं प्रपत्तम् ॥१०॥

( वर्डा से ) निकलने का यही प्रशंसनीय भार्ग है । यूर्बांतिपूर्व तरंगों ने इसी भार्ग का सेवन किया है । विशाल राज-ऋषि कुल में उत्तम्न होने वाले के लिए इस भिन्ना दृष्टि का सहारा लेना शलाघ नहीं है ॥१०॥

अथात् नोत्तिष्ठसि निश्चितात्मन् भव स्थिरो मा विमुचः प्रतिश्वाम् ।

मयोद्यतो हेष शरः स एव यः शूर्पके भीनरिपौ विमुक्तः ॥११॥

हे निश्चितात्मन् ! यदि आज नहीं उठते हो तो स्थिर हो जाओ, प्रतिश्वा मत लोडो । मैंने यह वही बाया उठाया है जो भीन के शूरु शूर्पक भर लोडा था ॥११॥

मृष्टः स चानेन कथंचिदैङ्गः सोमस्य नप्ताप्यभवद्विचित्तः ।

स चामवद्धन्तनुरस्वतन्त्रः चीणे तुगे कि बत दुर्बलोऽन्यः ॥१२॥

चन्द्रमा का नाती 'ऐड' इस बाया के स्वर्ण भास से विचलित हो गया था । और वह शन्तनु भी परवश थी गया था, फिर इस चीण तुग में दूसरे दुर्बल को तो चात ही रखा ? ॥१२॥

तत्त्वाप्यमुत्तिष्ठ लभस्य संज्ञां वाणो हायं तिष्ठति लेलिहानः ।

प्रियाविधयेषु रतिप्रियेषु यः चक्रवाकेष्वव नोत्सृजामि ॥१३॥

अतः शीत्र उठो, चेत जाओ । यह बाया चाट जानेवाला है । जो चक्रवाकों के समान रतिप्रिय हैं तथा अपनो प्रियाओं के अमुकुल हैं, उनमें इसे नहीं छोड़ता है ॥१३॥

इत्येवमुक्तोऽपि यदा निरास्यो नैवासनं शाक्यमुनिविभेद ।

शरं ततोऽस्मै विससर्व मारः कन्याश्च कृत्वा पुरतः सतोश्च ॥१४॥

इस ग्रन्थ कहे जाने पर भी, जब शाक्य मुनि ने उपेक्षा की एवं आसन नहीं लोडा, तब कन्याओं एवं पुत्रों को आगे करके मार ने उसके ऊपर बाया छोड़ दिया ॥१४॥

तस्मिस्तु बारोऽपि स विप्रमुक्ते चकार नास्थां न भृतेश्चवाल ।

द्यु तर्यैन विषसाद मारहित्वापरोत्तश्च शनैर्जगाद ॥१५॥

किन्तु उस बाग के द्वारे जाने पर भी उस ( मुनि ) ने, न अपेक्षा की ओर न ऐरे द्वारा । उसको चेष्टा ही देखकर, मार दुःखी हुआ एवं चिन्ता से व्याकुल होता हुआ थीरे से बोला—॥१५॥

शैलेन्द्रपुत्री प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुरचलितो वभूव ।

न चिन्तयत्येष तमेव वाणं किं स्यादचित्तो न शरः स प्रष्ठः ॥१६॥

जिससे विह होकर शम्भु देव भी पार्वती के प्रति चलायमान हुए थे, वह उस वाण भी चिन्ता नहीं कर रहा है । क्या यह बिना चित्त का है अथवा यह 'बह' वाण नहीं है ? ॥१६॥

तस्मादये नार्हति पुष्पवाणं न हर्षणं नापि रत्नेन्योगम् ।

अर्हत्ययं भूतगणैरसौम्यैः संत्रासनातज्जनताङ्गनानि ॥१७॥

अतः यह पुष्प वाण, हर्षण अथवा रति प्रयोग के लिए उपयुक्त नहीं है । यह सो भयंकर भूतगणों से हरवाने, बिचकाने एवं पिटवाने के योग्य है ॥१७॥

सस्मार मारश्च ततः स्वसैन्यं विघ्नं शमे शाक्यमुनेन्द्रिचकीर्षन् ।

नानाभयारचानुचराः परीयुः शैलद्रुमप्रासगदासिहस्ताः ॥१८॥

तब शाक्य मुनि भी शान्ति में विघ्न करने को इच्छा से मार ने अपनी सेना का समरण किया । तब पहाड़, इच्छा, वरचौ, गदा, तलचार हाय में लिए अनेक आकार वाले अनुचरों ने उसको चारों ओर से घेर लिया ॥१८॥

वराहमीनारवद्वरोद्गवक्त्रा व्याघ्रद्विसिंहद्विदाननाश ।

एकेक्षणा नैकमुखाभिशीर्णा लम्बोदराग्रैव पृष्ठोदराश्च ॥१९॥

सूर्य, महली, खोड़, गवे, एवं कैट की तरह मुखवाले तथा बाघ, भालू, सिंह, हाथी के मुखवाले एक नेत्र अनेक मूख, तीन शिर लम्बे पेट एवं तुचके पेटवाले ॥१९॥

अजानुसक्ष्या घटजानवश्च देवायुधारचैव नखायुधाश्च ।

करंकवक्त्रा बहुमूर्तयश्च भग्नार्पवक्त्राश्च मदामुखाश्च ॥२०॥

शुठना रहित, जांघ रहित, घोड़े के समान चांपवाले, तीव्र दौत, तीव्र

नम्रवाले, कंकाल के समान मुखवाले, विभिन्न प्रकार के रूपवाले, आधे मुख कटे विकराल मुखवाले थे ॥२०॥

**भस्मारुणा लोहितविन्दुचित्राः स्वद्वाङ्ग्रहस्ता हरिष्वस्तकेशाः ।**

**लम्बस्तजो चारणलम्बकणीश्चर्मास्वराश्चैव निरस्वराश्च ॥२१॥**

भस्म लापेटे, लाल चिन्द्रुओंसे चित्रनिचित्र, हाथ में शब्द चारण किये हुए, चानेर सहरा धूम चाल, लम्बी लम्बी मालाएं पहिने, हाथियों के समान लम्बे कानवाले, कुछ चमड़ा पहिने तथा कुछ नम्न थे ॥२१॥

**चेतार्पवकत्रा हरितार्धकायास्ताम्बाश्च धूमा हरयोऽसिताश्च ।**

**व्यालोत्तरासङ्गभुजास्तथैव प्रधुष्टवरटाकुलमेवलाश्च ॥२२॥**

कुछ का आधा मुख सोहद, आधा शरीर हरा, कुछ तामिया धूम हरे काले रंग का था । कुछ को भुजाएं सांपों से लिपटी थीं, कुछ बजती हुई घटियोवाली करपनी पहने थे ॥२२॥

**तालप्रमाणाश्च गृहीतशूला दंष्ट्राकरालाश्च शिशुप्रमाणाः ।**

**उरञ्जवकत्राश्च विहंगमात्रा मार्कोरवकत्राश्च मनुष्यकायाः ॥२३॥**

कुछ चाल छूट के समान लम्बे, चिराज धारी, दब्बों के सहरा छोड़े, दातों से भर्यकर, मेहों के सहश मुखवाले, विहंगों जैसी आँखें, बिलाल वैषा मुख, एवं ( कुछ ) मनुष्य शरीरवाले थे ॥२३॥

**प्रकीर्णेकेशाः शिखिनोऽर्धमुखदा रक्ताम्बरा द्व्याकुलवेष्टनाश्च ।**

**प्रहृष्टवकत्रा भुकुटीमुखाश्च तेजोहराश्चैव मनोहराश्च ॥२४॥**

कुछ बिलरे चाल थे शिखावाले, अर्धमुखिडत, जाल बूझ पहिने, लचपय पगड़ी भाँथि, दूसरे, भाँह से ढके मुखवाले, तेज हर लेनेवाले तथा मन हर केनेवाले थे ॥२४॥

**केचिद्ग्रजन्तो भृशमाववलगुरन्योन्यमापुलुविरे तथान्ये ।**

**चिक्कीहुराकाशगताश्च केचित् केचित् चेरुखरमलकेषु ॥२५॥**

कुछ चलते हुए लूट कूदते थे, कुछ एक दूसरे पर उचटते थे, कुछ आकाश में जाकर लोला कर रहे थे, कुछ इच्छों के ऊपर ही ऊपर शिल्जों पर चलते थे ॥२५॥

ननर्त कश्चिद् भ्रमयंशिशूलं कश्चिद्विषुस्कूर्जं गदां विकर्षन् ।

हर्षेणा कश्चिद्बुपवन्ननर्दे कर्शचत्पत्तजज्वालं तनूरहेभ्यः ॥२५॥

कोई विश्वल शुभाता हुआ नाचता था, कोई गदा तानता हुआ पुरुकता था, कोई हर्ष से सौंड सदृश गरजता था, तथा कोई केशों से भ्रजवलित था ॥२६॥

एवंविद्या भूतगणाः समन्तात्तद्वोचिमूलं परिवार्यं तस्युः ।

जिघृत्तवश्चैव जिघांसवश्च अर्तुर्नियोगं परिपालयन्तः ॥२७॥

इस प्रकार के भूतगण उस वोचिघृत के मूल को चारों ओर से बेर कर सकते हो गये । वे पकड़ना चाह रहे थे, मारना चाह रहे थे किन्तु स्वामी की आशा की प्रतीक्षा कर रहे थे ॥२७॥

तं प्रेत्य भारस्य च पूर्वरात्रे शाकपर्यन्तस्यैव च युद्धकालम् ।

न वौश्रकाशे पृथिवी चकन्ते प्रजज्वलुर्चैव दिशः सरश्वदाः ॥२८॥

रात्रि के आरम्भ में शाकप ज्यूषम एवं मार का वह युद्धकाल देखकर, आकाश मलिन पड़ गया, पृथिवी कौप उठी, दिशाएं शब्द करती हुई जलने लगी ॥२८॥

विष्ववश्वी वायुरुदीरणीवेगसारा न रेजुनं वभी शशाङ्कः ।

तमश्च भूतो विततान रात्रिः सर्वं च संचुचुभिरे समुद्राः ॥२९॥

हजा चारों ओर ओरों से लगी, न तो तरागण ही शोभित हुए और न सन्द्रमा ही, रात्रि ने और अधिक इन्धकार फैलाया एवं समस्त समुद्र ज्ञात हो उठे ॥२९॥

महीभूतो धर्मपरात्र नागा महामुनेविग्रहममृत्यमाणाः ।

मारे प्रति कोघविषुत्तनेत्रा निःशशसुर्चैव जज्जन्मिरे च ॥३०॥

पृथिवी वारसु करनेवाले धर्मपरायण नागो ( शेषो ) ने महामुनि के विज्ञ न सहते हुए, मारे प्रति कोघ से छाले तरेकर फुटुकार छोड़ा एवं जंमाइया ली ॥३०॥

शुद्धाधिवासा विचुधपर्यस्तु सदर्मसिद्धयर्थमभिप्रवृत्ताः ।

मारेन्तुकम्पां मनसा प्रचकुर्विदागभावात् न रोपमीयुः ॥३१॥

सदर्मं की सिदि में लगे हुए शुद्धाचिवास देव शृणियो ने भन मे मार के प्रति अटुकम्या थी, उदासीन होनेके कारण उन्होने कोष नहीं किया ॥३१॥

तद्योधिमूलं समवेष्य कीर्णि दिसात्मना मारबलेन तेत ।

घर्मात्मभिलोकयिमोचकामैर्वभूव द्वाहाकुतमंतरीचे ॥३२॥

उस हिता परायण मार-सेना मे उस बीध मूल को मिरा हुआ देखकर संसार से गोच चाहनेवाले घर्मात्माओं ने अन्तरिक्ष मे द्वाहाकार किया ॥३२॥

उपरातवं घर्मविदेष्टु तस्य हृष्टि स्थितं मारबलं महर्पिः ।

न चुक्षुमे नापि यस्य विचारं मध्ये गवां सिंह इवोपविष्टः ॥३३॥

महर्पि उस घर्मविभि के विज्ञ स्तरप मार बल को वहां स्थित देखकर भी गायों के भव्य मे वैठे हुए यिह के उमान त तो छुच्च हुआ और न विकृत ही हुआ ॥३३॥

मारस्तो भूतचमूमुदीगुमाबापयामास भयाय तस्य ।

स्वैः स्वैः प्रभावेभ्य सास्य सेना तद्वैर्यमेवाव मतिं चकार ॥३४॥

तब मार ने उथल देना को उसे दरखाने को ज्ञाना दी । तब उसकी उस देना ने अपने-अपने प्रभावों से उसका धैर्य तोड़ने का विचार किया ॥३४॥

केचिच्छतन्नैकविलभिविजास्तीदणामदंष्ट्रा इरिमसङ्गलाज्ञाः ।

विदारितास्याः स्थिरशंकुकणाः संज्ञासयन्तः किल नाम तस्युः ॥३५॥

कुछ भूत लपलपाती हुई इनेक व लम्बी थी भवाले तीक्ष्ण दौतवाले, मूर्मण्डल लहरा ( बड़ीमोल ) आँखवाले, बज के उमान हड़ कानवाले, मूह काष्ठकर उसको छरते हुए वहां खड़े हो गये ॥३५॥

तेभ्यः स्थितंभ्यः स तथाविदेभ्यः त्वयेण भावेन च दाससेभ्वः ।

न विद्यवेनोदिविजे महर्पिः क्रीडत्यु चालेभ्य इवोदृतेभ्यः ॥३६॥

( वहां ) लड़े होकर उस पक्ष के स्वयं एवं भाव से उन मर्यादकर भूतो से यह महर्पि न तो व्याप्ति हुआ और न उद्दिग्द हुआ । जिस प्रकार जैल मे ढेचित यालको मे न व्यथा होती है और न उद्गेग ही ॥३६॥

कश्चित्तस्तो रोपविवृत्तहस्तिसमै गदामुद्यमनांचकार ।

तस्मम्भ चाहुः समद्यतोऽस्य पुरन्दरस्वेव पुरासत्तवज्ञः ॥३७॥

तब किसी ने कोष से आँखें तरेरते हुए उसके ऊपर गदा उठाई किन्तु उसका गदा सहित दाय लकड़ गया, जिस प्रकार पूर्वकाल में इन्द्र का बज सहित दाय लकड़ गया था ॥३७॥

केचित्समुद्घन्य शिलारत्नस्त्र विषेहिरे नैव मुनौ विमोक्तुम् ।

येतुः सच्चाः सशिलास्तथैव वज्रावभग्ना इव विन्द्यपादाः ॥३८॥

कुछ ( भूतो ) ने शिलाएँ एवं इच्छ उठाये किन्तु मुनि के ऊपर लोकने में समय नहीं हुए अपितु इच्छ एवं शिला सहित ( स्वर्य ) मिर पहुँ भानो वज्र से फुटे हुए विन्द्य-शिलर हो ॥३८॥

केचित्समुद्घन्य नभो विमुक्ताः शिलाश्च वृक्षारत्नं परश्चधाव ।

तस्युर्नभस्येव न चावपेतुः संघ्याभपादा इव नैकवर्णाः ॥३९॥

कुछ ने तो आकाश में उड़कर शिलाएँ इच्छ एवं कुलहाड़े फेंके थे किन्तु वे नीचे नहीं गिरे ( अपितु ) आकाश में ही टूटे रहे, मानो सन्ध्याकालीन भेष के चित्र चिन्हित ढुकड़े हो ॥३९॥

चित्तेप तस्योपरि दीप्तमन्यः कदम्बरं पर्वतश्वस्त्रमात्रम् ।

यन्मुक्तमात्रं गगनस्थमेव तस्यानुभावाच्छ्रद्धत्वा पक्षाल ॥४०॥

( एक ) अन्य ने पर्वत-शिलवराकार जलता हुआ लोहे का गोला उसके ऊपर फेंका, जो फेंकने के साथ ही उस मुनि के प्रभाव से आकाश में ही मेकड़ों त्वंगदों में छिपनभिन्न हो गया ॥४०॥

केचित्तद्वलन्नकं इवोदितः खादक्षारवर्णं महदुत्सर्ज ।

चूर्णानि चामीकरकन्दराणां कल्पात्वये मेनरिव प्रदीपः ॥४१॥

किसी ने उदयकालीन सूर्य सदृश बड़े-बड़े जलते हुए अङ्गारों की वर्षा आकाश से कर दी भानो कल्पान्त में जलता हुआ सुमेह स्वर्ण शिलाओं के चूर्ण बरसा रहा हो ॥४१॥

तद्बोधिमूले प्रविकीर्यमाणमंगारवर्णं तु सविस्फुलिगम् ।

मैत्रीविहाराद्विसत्तमस्य वभूव रत्नोत्पलपत्रवर्णः ॥४२॥

उस बोधि इच्छ के मूल में जो चिमगारियों के साथ अङ्गारों की शृणि

कैलाई जा रही थी वह श्रूपि ब्रेड के मैत्री विहार के कारण लाल कमल के पत्तों की हड्डि बन गई ॥४२॥

शरीरचित्तव्यसनातपैस्तरेवविषेस्तैश्च निपात्यमानैः ।

नैवासनाच्छाक्यमुनिश्चचाल स्वनिश्चयं वन्धुभिवोपगुहा ॥४३॥

शरीर एवं चित्त भो दुग्धो एवं संतत करनेवाले उस प्रकार के ( कारण ) मिराये जाने पर भी, शाक्य मुनि अपने निश्चय को बन्धु के समान पकड़कर आसन मे विचलित नहीं हुए ॥४३॥

आथापरे निर्जिगिलुम् स्वेभ्यः सपीन्वजीर्णभ्य इव दुमेभ्यः ।

ते मन्त्रबद्धा इव तत्त्वमोर्ये न शशमुर्नात्सम्भुन चेतुः ॥४४॥

तब फिर कुछ भूतों ने ( अपने ) मुखों से लोंप ढगले जैसे युराने इच्छों से । वे ( साँप ) मन्त्र से बंधे हुए की तरह उसके समीप न तो झाफ़ारे, न कपर उठे और न चले ही ॥४४॥

भूत्वापरं वारिधरा दृहन्तः सविच्युतः साशानिचगडधोषाः ।

तस्मिन्ननुमे तत्पञ्जुरमवर्षे तत्पुष्पवर्षे रुचिरे अभूत ॥४५॥

कुछ भूतों ने जज की भयंकर गर्जना को एवं विजली युक विशाल बादल बनकर युक्तके समान उस पर पत्थर की हड्डि की ( फिन्तु ) वह रुचिर पुष्प वृहि बन गई ॥४५॥

चापेऽथ वाणो निहितोऽपरेण वज्राल तत्रैव न निष्पात ।

अर्नीश्वरस्यात्मनि धूमपूण्यस्येव नरस्य मन्युः ॥४६॥

( एक ) दूसरे ने चाप पर जागा रखा, ( वह वाण ) यही बल गया तथा निरुक्तकर आगे नहीं पढ़ा—जैसे गरीब कोषी का दोष अन्दर ही अन्दर घघकता है ॥४६॥

पद्मेष्वरोऽन्येन तु विप्रमुक्तास्तस्युर्नभस्येव मुनौ न पेतुः ।

संसारभीरेविषयग्रहकृती पद्मेन्द्रियाणीव परीक्षकस्त्व ॥४७॥

अन्य भूतों के द्वारा छोड़े गये पाँच वाण आकाश मे ही रह गये ( तथा ) मुनि पर नहीं गिरे—जैसे संसार से उद्दिमन ( मोक्षार्थी ) सावक की पाँचों इन्द्रियों विषय मे प्रवृत्त नहीं होती है ॥४७॥

जिथांसथान्यः प्रससार रुष्टो गदां गृहीत्वाभिमुखो महर्षेः ।

सोऽप्राप्तकामो विवशः पपात दोपेपित्रवानर्थकरेषु लोकः ॥४८॥

एक अन्य भूत, मार बालने की इच्छा से कृपित होकर गदा लिए हुए मुनि के समुख दौशा ( किन्तु ) बीच में ही विफल हो ज्ञानुल होकर गिर पड़ा जैसे ( परवश ) मनुष्य अनर्थकारी शिष्यों में गिरता है ॥४८॥

स्त्री भेषकाली तु कपालहस्ता कर्तु महर्षेः किंतु चित्तमोहम् ।

श्राम तत्रानियतं न तस्थी चज्ञात्मनो बुद्धिरिवागमेषु ॥४९॥

( एक ) मेघ सदृश काली त्वी हाथ में कपाल लिये हुए, महर्षि के चित्त को मोहित करने के लिए, ( आई ) किन्तु वहाँ पगली जैसी चक्कर काटने लगी स्थिर न हो सकी—जैसे चंचल चित्त वाले की बुद्धि शास्त्रों में स्थिर नहीं रहती ( चक्कर काटती है ) ॥४९॥

कवित्यदीनं प्रणिधाय चन्द्रुनेत्रामिनाशीविषबृद्धिवत्तुः ।

तत्रैव नासीनमृषि ददर्श कामात्मकः श्रेय इवोपदिष्टम् ॥५०॥

किसी भूत ने विदेश सर्व के समान आँखें तीक्ष्ण करके नेत्रामि से उसे चलाना चाहा, जिन्हें वही बैठे हुए आप्ति को नहीं देख सका—जैसे कामी पुरुष बताये हुए कल्पयाण को नहीं देखता है ॥५०॥

गुर्वी शिलामुद्यमयस्तथान्यः श्राम मोर्चं विहसप्रयत्नः ।

निःश्रेयसं ज्ञानसमाधिगम्यं कायक्लैर्धर्ममिवासुकामः ॥५१॥

उसी प्रकार एक भूत ने मारी शिला को उठाते हुए बहुत प्रयत्न किया ( किन्तु ) व्यर्थ यह गया—जैसे शान एवं समाधि से प्राप्त होने वोम्य मात्र वर्म की शारीरिक नलेश से पाने की इच्छा करनेवाला व्यर्थ परिअम करता है ॥५१॥

तरक्षुसिद्धाकृतवस्तथान्ये प्रणेदुरुच्छ्वैर्महतः प्रणादान् ।

सल्वानि यैः संचुकुचुः समन्वाद्याहता यौः फलतोति मत्वा ॥५२॥

ज्याम एवं भिंह के आकार के कुछ अन्य भूतों ने बहुत बोरों से महान् शर्वना की, बिल्ले ( भयभीत होकर ) जीव जन्मु चारों ओर लुक

विष्णु गये—यह सोच कर कि बज्र से आहत होकर आकाश कट रहा है ॥५३॥

मृग गजाश्चातेवान् द्वुजन्तो विद्वुवुच्चैव निकिलियरे च ।

रात्री च तस्यामहनीव दिन्ध्यः स्वगा रुवन्तः परिपेतुरातोः ॥५३॥

मृग एवं हाथी आतंगाद करते हुए नागे एवं द्विषे । पहले मनमीत होकर उस रात्रि में भी दिन की भाँति चोलते हुए चारों ओर ढहने लगे ॥५३॥

तेषां प्रणादेस्तु तथाविवैस्तैः सर्वेषु सूतेष्वपि कम्पितेषु ।

मूनिर्व तत्रास न संचुकोच रवेर्गत्मानिव वायसानाम् ॥५४॥

(उनके उन तत्त्वप्रकार के शब्दों से सब जीवों के भय-कम्पित होने पर भी मूनि न वया और न मिकुड़ा) जैसे जीवों के शब्द से बहुड़न डरता है और न मिकुड़ता है ॥५४॥

भयावहेभ्यः परिपद्वरेभ्यो यथा यथा नैव मूनिर्वभाय ।

तथा तथा घर्मभृतां सप्तज्ञः शोकाच रोपाच सप्ताद मारः ॥५५॥

(उन) मध्यावह परिपद् गणोंसे ज्वो-न्यो मूनि निहर रहा, त्योन्यो चमांगाजी के शब्द 'मार' को शोक एवं दोष के कारण कियाद दूळा ॥५५॥

भृतं ततः किञ्चिददृश्यत्परं विशिष्टभृतं गगनस्यमेव ।

हृष्टपर्ये दुर्गमवैररुद्धं मारं वभाषे महता स्वरेण ॥५६॥

तब अदृश्य रथ किसी चिशिष्ट लीक ने आकाश से दी मार को, शूलि के प्रति द्रोह करते तथा बिना वैर के कुछ देखकर, गम्भीर त्वर में कहा—॥५६॥

मोरं अमं नाहंसि मार कर्तुं हिंसात्मातामुल्मृत गच्छ शर्म ।

नैव तथा कम्पयितुं दि शक्यो महागिरिमेंहरिवानिलेन ॥५७॥

हे मार ! अपर्यं परिभ्रम मत करो । इस्त्वारापन छोड़ो, शान्त हो जाओ । तुम इसे उसी प्रकार नहीं दिगा सकते हो, जिस प्रकार सुमेरु इवा से नहीं दिल सकता है ॥५७॥

आप्युष्णाभावं उवाचनः प्रजापादापो द्रवत्वं पृथिवी स्थिरत्वम् ।

अनंककल्पाचित्पुण्यकमां न त्वेव जहादृव्यवसायमेषः ॥५८॥

अर्मन चाहे उभयता छोड़ दे, जल चाहे द्रवत्व छोड़ दे तथा पृथ्वी स्थिरता छोड़ दे, किन्तु धनेक जन्मसे पुण्य एवं अनित करने वाला यह ( मुनि ) आपना निश्चय नहीं छोड़ेगा ॥५८॥

गो निश्चयो हास्य पराक्रमश्च तेजश्च वद् या च दया प्रजासु ।

अप्राप्य नोत्थास्त्वाति तस्विभेष तमास्यहस्तेव सहस्ररदिमः ॥५९॥

इसका जो निश्चय है, पराक्रम है, तेज है एवं प्राणियों पर दया है, उससे विश्वास होता है कि यह तच्च प्राप्त किये बिना नहीं उठेगा, जैसे अन्धकार को नहु किये बिना मूर्ख नहीं उगता है ॥५९॥

काष्ठं हि मध्यन लभते हुताशं भूमि खनन्विन्दुति चापि तोषम् ।

निर्वनिधनः किञ्चन नास्यसाध्ये न्यायेन युक्तं च कुतं च सर्वम् ॥६०॥

काष्ठ पर्याय करते हुए ( मनुष्य ) अर्मन पाता है एवं पृथ्वी छोड़ते हुए जल पाता है । ददु प्रतिष्ठ के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है । न्याय से करने पर सब कुछ किया जा सकता है ॥६०॥

तल्लोकमार्तं करुणायमानो रोगेषु रागादिषु वर्तमानम् ।

महाभिपक्षं नाहृति विघ्नसेष द्वानीयधार्ये परिविद्यमानः ॥६१॥

शारीरिक एवं मानसिक रोगों में पढ़े हुए दुखों जगत् पर कठगा करने वाले मुनि, विष्व करने प्रोष्य नहीं हैं । यह महावैद्य ज्ञान रूप ज्ञापाचि के लिये कह सक रहे हैं ॥६१॥

इते च जोके वहुभिः कुमारैः सन्मार्गं मन्वस्त्विति यः अमेण ।

स देशिकः जोभितुं न युक्तं सुदेशिकः सार्थं इव प्रनष्टे ॥६२॥

जो मुनि, अनेक कुपन्थो द्वारा दरगा किये जा रहे संसार के लिये, परिभ्रम पूर्वक सन्मार्ग सोज रहा है, उस उपदेशक ( पथ प्रदर्शक ) को विचलित करना उचित नहीं—जैसे बन पथ भूल जाने वाले व्यापारीके लिये मार्गदर्शक द्वारा ज्ञात रखना उचित नहीं है ॥६२॥

सत्येषु नष्टेषु महान्धकारे ज्ञानप्रदीपः कियमाण एषः ।

आयस्य निवार्यपयितुं न साधु प्रज्वालयमानस्तमसीव दीपः ॥६३॥

( शंकार से ) सत्त्व ( चांचलक ) मात्रों के नष्ट हो जाने पर महा अन्धकार  
फैल रहा है ( उसमें ) यह ज्ञान प्रदीप लगा रहा है । अन्धेरे में लगाये जा  
रहे दीप को लुभाना, आर्य पुरुषों के लिये अन्धा नहीं है ॥६३॥

तद्वा च संसारमये भग्नैऽत्र मर्म जगत्पारमविन्दमानम् ।

यश्चेदमुत्तारयितुं प्रकृत्तः कथिन्तयेत्स्य तु पापमार्यः ॥६४॥

संसार रूप महा बाढ़ ( प्रवाह ) में डूबे हुए जगत् को पार न पाता हुआ  
देखकर, जो उसके उद्धार करने में प्रकृत्त हो, उसके प्रति पाप कर्म करने का  
विचार कौन आर्य पुरुष करेगा ॥६४॥

चमाशिको धैर्यविगाढ़मूलस्त्वारित्रपुण्यः स्मृतिबुद्धिशास्यः ।

ज्ञानदूमो धर्मकलप्रदाता नोत्पाटने ग्रहीति वर्धमानः ॥६५॥

द्वमा रूप जटा, धैर्य कव मजबूत मूल, चरित्र स्वपुण्य, स्मृति एवं तुदि  
अप्य शास्त्र वाला तथा धर्म रूप कर्ता के लिये बद रहा 'ज्ञान दूम'  
उल्लाङ्घने योग्य नहीं है ॥६५॥

बद्धां दृढ़श्चेतसि मोहपाशीर्यस्य प्रजां मोक्षयितुं भर्तीया ।

तस्मिन् तिघोसा तत्र नोपपन्ना आन्ते जगद्गुन्धनमोक्षहेतोः ॥६६॥

मनमें प्रबल मोह पाशोंसे बंधी हुई प्रवा को लुभाना चाहते हैं । जगत्  
के गुन्धन काठ ढालने के लिए उच्योग करने वाले उस मुनि को भार ढालने  
की तुम्हारी इच्छा योग्य नहीं है ॥६६॥

बोधाय कर्माणि हि यान्यनेन कृतानि तेषां नियतोऽुद्य कालः ।

स्वाने तथास्मिन्नुपत्तिष्ठ एष यथैव धूर्वे मुनयस्तथैव ॥६७॥

बोध पानेके लिये जिन कर्मों को इन्होंने किये हैं, उनका ( मिद्द होने का )  
यह नियत समय है । इस स्थान पर यह बैता हो बैठा है जैसे पूर्व काल में  
मुनि बैठे थे ॥६७॥

एषा हि नाभिर्यमुखातलस्य कृत्स्नेन युक्ता परमेण धामना ।

भूमेरतोऽन्योऽस्ति हि न प्रदेशी वेगं समावेशिष्यदेत् योऽस्य ॥६८॥

नयोक्त यह स्थान भूतल की नाभि है एवं समूर्या लेष प्रभावोंसे युक्त है। पृथ्वी का दूसरा इस प्रकार का प्रदेश नहीं है जो इसकी समाधि का वेग सह सके ॥६८॥

तन्मा कृथाः शोकमुपेहि शान्ति मा भून्महिम्ना तव मार भानः ।

विभ्रन्मितुं न लम्भमधुवा ओश्चले पदे कि मदमभ्युपैषि ॥६९॥

अतः हे मार ! शोक मत करो, शान्ति प्राप्त करो । तुम्हें अपनी महिमा का अभिमान नहीं होना चाहिये । नश्वर ऐश्वर्य पर विश्वास करना योग्य नहीं है । अपने अनिश्चयत पद पर वयो मदमत्त हो रहे हो ? ॥६९॥

ततः स सञ्चुल्य च तस्य तद्वचो महामुनेः प्रेस्य च निष्प्रकम्पताम् ।

जगाम मारो विमना हतोद्यमः शरैर्जगच्छेतसि चैविहन्यते ॥७०॥

तब उसका यह वचन सुनकर एवं महामुनि की अचलता देखकर, विफल प्रयास बाला 'मार', जिनसे संसार का वच्च देख दिया जाता है, उन बालों से लिङ्ग होकर चला गया ॥७०॥

गतप्रह्यां विफलीकृतश्चमा प्रविद्वपाणकड्डरदुमा ।

दिशः प्रदुद्राव ततोऽस्य सा चमूहताभयेव द्विष्टा द्विपचम् ॥७१॥

तब उसकी यह सेना, जिसका हर्ष ज्ञोण हो गया था, परिभ्रम विफल हो गया था तथा पत्यर, आग-गोलक तृष्णादि ( आयुष ) विखर गये थे, विभिन्न दिशाओं में उसी प्रकार भाग गई जिस प्रकार शत्रु द्वारा नायक के मारे जाने पर विपक्षा सेना ( भाग जाती है ) ॥७१॥

द्रवति सपरिपक्ते निर्जिते पुष्पकेती जयति जिततमस्के नीरजस्के महर्यां ।  
युवतिरिव सहासा चौरचकाशे सचन्द्रा सुरभि च जलगर्भं पुष्पवर्षं पपात ॥

पुष्पकेतु ( मार ) के पराजित होकर अपने पद्मपातियों के साथ भाग जाने पर तथा तम ( अन्धकार रूप आशान ) को जीतने वाले राग-रहित

महानि ये विचय होने पर, चन्द्रमा सहित आकाश में सती हुई उक्ती के सहरा शोभित हुआ एवं सुगन्धित बल सहित पुष्पकुण्डि हुई ॥७२॥

तथापि पार्पीयसि निजिते गते दिशः प्रसेदुः प्रवभौ निशाकरः ।

दिवो निषेतुर्मुखि पुण्यचुद्रश्चो ररात्र योपेव विकलमपा निशा ॥७३॥

इति श्री अक्षयोपकृते पूर्वबुद्धरितमहाकाव्ये  
मारविजयो नाम त्रयोदशः सर्गः ।

और उस प्रकार उस भाषी के पराचित होकर चले जाने पर दिशाएँ निर्मल हुईं, चन्द्रमा शोभित हुआ, आकाश से पुष्पों पर पुष्पनारा हुई एवं निषाप खो की माँति रथि सुन्दर हुई ॥७३॥

यह पूर्वबुद्धरित महाकाव्य में मार की पराजय नामक  
त्रयोदश सर्ग तमाम हुआ ।

---

अथ चतुर्दशः सर्गः

बुद्धत्वप्राप्तिः

बुद्धत्व प्राप्ति

ततो मारवकं जित्वा धैर्येण च शमेन च ।

परमार्थं विजिज्ञासुः स दध्वी ध्यानकोविदः ॥१॥

इसके बाद उस ध्यान निषुण ने मार की सेना को धैर्य एवं शान्ति से बीटकर, परम तत्त्व जानने की इच्छा से ध्यान लगाया ॥१॥

सर्वेषु ध्यानविधिषु प्राप्य चैश्वर्यमुत्तमम् ।

सस्मार प्रथमे यामे पूर्वजन्मपरंपराम् ॥२॥

तथा सब प्रकार की ध्यान विधियों में गूर्ज प्रभुता ग्रात करके प्रथम प्रहर में ज्ञापने पूर्व जन्मों की परम्परा का स्मरण किया ॥२॥

अमुचाहमयं नाम च्युतेस्तस्मादिहागतः ।

इति जन्मसहन्नाणि सस्मारानुभवत्रिव ॥३॥

‘अमुक स्थान में, मैं यह भा, वहाँ से गिरकर यहाँ आया’—इस प्रकार हवारो जन्मों को मानो (प्रत्यक्ष) अनुभव करते हुए को तरह स्मरण किया ॥३॥

स्मृत्वा जन्म च मृत्युं च तासु तासूपत्तिषु ।

ततः सर्वेषु काकण्यं चकार ककणात्मकः ॥४॥

तब उन उन जन्मों में जन्म पूर्व मृत्यु का स्मरण करके उस द्यालु जात्मा ने ग्राणियों पर दशा की ॥४॥

कृत्वेह स्वजनोत्सर्गं पुनरन्वन्न च कियाः ।

अत्राणः खलु लोकोऽयं परिद्वयमति चक्रवन् ॥५॥

(प्राणी) यहाँ स्वजनों को लोडकर पुनः अन्यत्र (जन्म लेकर) कार्य करता है। निश्चय ही यह संवार अरन्तित है (को कि) चक्र की भौति धूम रहा है ॥५॥

इत्येवं स्मरतस्तस्य वभूव नियतात्मनः ।  
कदलीगर्भनिःसारः संसार इति निश्चयः ॥६॥

इस प्रकार चिन्तन करने वाले उस जिसेन्द्रिय को यह निश्चय हुआ—  
संसार केले के गर्भ ( भीतरी भाग ) की सरह निःसार है ॥६॥

द्वितीये त्वागते यामे सोऽद्वितीयपराक्रमः ।  
दिव्यं लेखे परं चक्षुः सर्वचक्षुष्मतां वरः ॥७॥

अद्वितीय पराक्रमी एवं समस्त दृष्टिमानों में ऐषु उस ( मुनि ) ने द्वितीय  
प्रहर आने परं परम दिव्य चक्षु यापा ॥७॥

तत्स्तेन स दिव्येन परिशुद्धेन चक्षुपा ।  
ददृशां निश्चिलं लोकमादर्श इव निर्मले ॥८॥

तब उसने उस सर्वांग शुद्ध दिव्य चक्षु से आखिल विश्व को देखा—जैसे  
निर्मल दर्पण में ( प्रतिविम्ब दिखाई देता है ) ॥८॥

सत्त्वानां पश्यतस्तस्य निकुष्टोत्कुष्टकर्मणाम् ।  
प्रच्युतिं चोपपत्ति च वकृते करणात्मना ॥९॥

नोच, कैच कर्म करने वाले प्राणियों का पतन उत्थान देखते हुए उसकी  
दयालुता बढ़ी ॥९॥

इमे दुष्कृतकर्माणः प्राणिनो यान्ति दुर्गतिम् ।  
इमेऽन्ये शुभकर्माणः प्रतिष्ठान्ते त्रिविष्टये ॥१०॥

ये दुष्कर्म करने वाले जीव दुर्गति पा रहे हैं । ये दूसरे शुभ कर्म करने  
वाले स्वर्ग में प्रतिष्ठित हो रहे हैं ॥१०॥

नपपन्नाः प्रतिभये नरके भृशदारये ।  
अमी दुःसौवैहृविधैः पीड्यन्ते कुपयं वत ॥११॥

ये ( दुष्कर्मी ) अति घोर भयानक नरक में पड़कर विविध दुःखों से  
'वेचारे हाथ' पीड़ित हो रहे हैं ॥११॥

पाप्यन्ते क्वचित्पि केचिदग्निवर्णमयोरसम् ।  
आशोऽवन्ते रुवन्नोऽन्ये निष्टप्तस्तस्मगायसम् ॥१२॥

कुछ को पिछले हुए लोहेन्या रस ( तत् द्रव ) वो आगे के समान लाल है, पिलाया जा रहा है । कुछ दूसरे चिल्हाते हुए को तभे हुए लोहे के समझे से चिपकाया जा रहा है ॥१२॥

पचयन्ते पिष्टवत्केचिदयस्कुम्भीष्ववाङ् मुखाः ।

दहन्ते ककरणं केचिदीमेष्वज्ञारराशिषु ॥१३॥

लोहे के घड़ी में पीसे हुए अल्प की तरह अधोमुख कुछ चौप बकाये जा रहे हैं । कुछ कदम पुकार के साथ दहन्ते हुए आगारो पर बलाए जाते हैं ॥१३॥

केचित्तीचणैरयोदंद्वै र्भव्यन्ते दारुणैः स्वभिः ।

केचिद् शृण्वैरयस्तुष्टैर्वायसैरायसैरिव ॥१४॥

कुछ को तीवण लोहे के दर्तो बाले गमद्वार कुचे ला रहे हैं । कुछ को लोहे की चोच बाले दीठ छोप जो कि मानो लोहे के ही हो, ला रहे हैं ॥१४॥

केचिद्वाहपरिश्रान्ताः शीतच्छ्रायाऽभकाङ् चिणः ।

असिपत्रवनं नीलं चन्द्रा इव विशन्त्यमी ॥१५॥

कुछ ताप से संतन होकर शोतल छाया की अभिलाह करते हैं, वे नीले तुकाले पत्ते बाले बन में बन्दी सहशा प्रवेश करते हैं ॥१५॥

पात्र्यन्ते दारुवत्केचिल्हाठर्वेद्वाहवः ।

दुर्सेतुषि न विपच्यन्ते कर्मभिधारितासवः ॥१६॥

जिनके दाथ बेवे हैं—ऐसे कुछ ( चौप ) कुल्हाड़ी से लकड़ी सहश काटे जा रहे हैं । दुर्व में भी मरते नहीं हैं, कमों के द्वारा उनके भाग बकड़े गये हैं ॥१६॥

सुखं स्यादिति यत्कर्म कृतं दुर्खनिवृत्यते ।

फलं तस्येवमवशौदुख्यमेवोपभुज्यते ॥१७॥

सुख मिलेगा, इस आशा से वो कर्म दुर्खनिवृत्यते के लिये इन्होंने किया था, उसका मह दुर्खित फल ही वे वेचारे भोग रहे हैं ॥१७॥

सुखार्थमशुभं कृत्वा ये एते भृशादुःखिताः ।

आस्तादः स किंतोयां करोति सुखमग्रवपि ॥१३॥

जिस सुख के लिये ये अशुभ कर्म करके अत्यन्त दुःख भोग रहे हैं, वह ( मुझ का ) आस्ताद, क्या इन्हें थोड़ा भी सुख दे सका है ? ॥१३॥

हस्तद्विर्यलकृतं कर्मं कलुणं कलुषात्मभिः ।

एतत्परिणते काले कोशाद्विरन्त्रयते ॥१४॥

इन पापियों ने हँसते हुए ये पाप कर्म किये थे, परिशाक काल में उसका यह फल रहते हुए भोग रहे हैं ॥१४॥

यद्येवं पापकर्माणः पश्येत् कर्मणां फलम् ।

वर्मेयुक्तव्यण् रुधिरं मर्मस्वभिहता इति ॥१५॥

पाप करने वाले जहि ( पाप ) कर्मों का ऐसा फल ( प्रत्यक्ष ) देखें तो मर्मों से आघात होने की तरह गर्भ चून का वमन करे ॥१५॥

इमेऽन्ये कर्मभिजित्रैभित्तविस्पन्दसंभवैः ।

तिर्यग्योनौ विचित्रायामुपपन्नास्तपस्तिनः ॥१६॥

ये दूसरे येचारे, चित्त चाङ्गल्य से होने वाले विविध प्रकार के कर्म से निप्र विचित्र पशु-पश्च-योनियों में उत्पन्न हुए हैं ॥१६॥

मांसत्वग्रालदन्तार्थं वैरादपि मदादपि ।

हन्यन्ते कुपण्डं यत्र बन्धूनां पश्यतामपि ॥१७॥

जिन योनियों में मांस त्वचा वाले दोत के लिये तथा वैर अथवा मद के कारण भी बन्धुओं के देखते रहने पर भी दीनतापूर्वक ( वैरेजियो आदि के द्वारा ) मारे जाते हैं ॥१७॥

अशक्तुवन्तोऽप्यवशाः जुत्यर्थमपीहिताः ।

गोऽश्वमृताश्च चाहन्ते प्रतोदृशतमूर्तयः ॥१८॥

तथा वैज योंडे होकर भूल, प्यास, परिधम से पाइत होते हुए, अराक होने पर भी अंकुरों से छृत विश्व शरीर होकर हाँके जाते हैं ॥१८॥

बाह्यन्ते गजमृताश्च बलीयोन्सोऽुपि दुर्बलैः ।

अंकुरशक्तिष्ठमृचोनस्ताहिताः पादपार्णिभिः ॥१९॥

और हाथों होकर बलवान् होने पर भी, तुर्जलों द्वारा अंकुशों से मस्तक पर क्लेश पाते हुए तथा पैरों की एडियों से ठोकर लगते हुए होके जाते हैं। २४॥

सत्स्वप्यन्येषु दुःखेषु दुःखं यत्र विशेषतः ।

परस्परविरोधाच्च पराधीनतयैव च ॥२५॥

यद्यपि अन्य अनेक दुःख है, किन्तु यहाँ ( पशु पक्षि गोनियों में ) परस्पर विरोध एवं पराधीनता के कारण विशेष दुःख है ॥२५॥

स्वस्थाः खस्यैहि वाभ्यन्ते जलस्था जलचारिभिः ।

स्थलस्थाः स्थलसंस्थैश्च प्राप्य चैवेतरतरैः ॥२६॥

न भवती द्वारा न भवतारी, जलभरों द्वारा जलभारी एवं स्थलभरों द्वारा स्थलभारी परस्पर सताये जाते हैं ॥२६॥

उपपन्नास्तथा चेमे मात्सर्योक्तान्तचेतसः ।

पितॄलोके निरालोके कुपणं सुखते फलम् ॥२७॥

तद्वत् ये मत्तरता दोष से दूषित चित्त वाले, आलोक रहित भ्रेत बोक में उपच द्वारा दीन दशा में कर्म फल भोग रहे हैं ॥२७॥

सूचोऽिद्रोपमसुल्लाः पर्वतोपमकुलयः ।

त्रुतपञ्चनिवैदुःखैः पीड्यन्ते दुःखभागानः ॥२८॥

मुई के छेद के बावजूद मुख वाले, तथा पर्वताकार मेट वाले ये दुःख-भोगी, भूख प्यास से चनित दुखों से पीड़ित हैं ॥२८॥

आश्राया समतिक्रान्ता धार्यमाण्याः स्वकर्मभिः ।

लभन्ते न कामी भोक्तुं प्रविद्वान्यशुचीन्यपि ॥२९॥

अपने कर्म द्वारा वियमाण ये (मूची मुख वाले) आश्राया से नदा व्याकान्त रहते हैं ( तथा ) गिरे हुई अपवित्र वस्त्र भी नहीं ला पाते हैं ॥२९॥

पुरुषो यदि जानीत मात्सर्यस्येष्टशं फलम् ।

सर्वशा शिखिवद्यान्त्वरीरावयवानपि ॥३०॥

‘मातृत्व का पाल ऐसा होता है’—यदि पुरुष वह जानता होता तो शिवि के समान अपने शरीर के अवधन भी सर्वभा दान कर देता ॥३०॥

इमेऽन्ये नरकप्रस्थे गर्भसंज्ञेऽगुच्छिह्वे ।

उपपन्ना मनुष्येषु दुःखमर्घ्यन्ति जनतवः ॥३१॥

मे दूसरे प्राणी, नरक सदरा ‘ममे’ नामक अपवित्र सरोवर में गिरकर मनुष्य ( योगी ) मे दुःख पाते हैं ॥३१॥

गृहामाणाः करैरादौ कर्कशेऽनलच्चगुणे ।

रुदन्ति शिलशास्त्रैस्ते छिंथमाना इवातुराः ॥३२॥

बन्म के समय प्रारम्भ मे ( भाई-आदि के ) कर्कश दाखो से यक्षो जाने पर इस प्रकार विहल होकर रोते हैं मानो तीव्र शालो से छेदे जा रहे हो ३२

स्वजनैर्लालिताः पुष्टाः सम्यक्प्रेम्णा च वर्धिताः ।

तथापि विषिधृश्यैः किलश्यन्ते ते स्वकर्मभिः ॥३३॥

स्वजनो द्वारा बड़े प्रेम से लालन पालन किया जाता है, तो भी अपने कर्मानुचार विविध दुःखो से बचेश पाते ही हैं ॥३३॥

इदं कार्यमिदं कार्यमिलेवं बहुतुष्णया ।

चिन्तोर्मिषु निमज्जन्ते बृहदत्वे ते त्वद्वर्निशम् ॥३४॥

बुद्धाद्वया मे—‘यह करना है’, ‘यह करना है’—इस प्रकार की अधिक तुष्ण्या के भास्या निरन्तर चिन्ताकृप तरंग मे झड़ते हैं ॥३४॥

कृतपुरुषवचयाशान्ये गच्छन्ति त्रिदिवं ततः ।

कामद्वचालासु दृष्ट्वान्ते वया दीप्तेषु विहिषु ॥३५॥

कुछ दूसरे—चिन्होने पुरुष का संचय किया है—सर्वों को जाते हैं, किन्तु वहों काम की जाला मे ऐसे जलते हैं, जैसे प्रलयलित अविनि मे ॥३५॥

लिटिप्पशी—अश्वव्याप कुठ, बचोस से एक भी चारह तक के मूल इलोक अनुपलब्ध है। भी तर्फनारायण चौपरी कृत हिन्दी अनुवाद के आधार पर, इन इलोकों की रचना शमशन्द दास शाली ने की है।

अत्युपास्ते च कामेभ्यः पूर्वमेव पतन्त्यधः ।

मलानन्दज्ञोऽपिशोकाती ऊर्ध्वंजाणा हतप्रभाः ॥३६॥

ओर वे कामों से तुस होने के पहले ही मीठे गिरते हैं, उनकी आखेर उपर को ओर देखती हैं, वे निस्तेज एवं अत्यन्त शोकाती हैं, उनकी मालाये कुम्हलायी होती है ॥३६॥

यदा पवन्ति तेऽनाथा दीना अप्सरसां प्रियाः ।

कातरास्तास्तु वस्त्रेषु धूत्वा पश्यन्ति सस्पृहम् ॥३७॥

वे अप्सराओं के पिय जब अनाथ एवं दीन होकर गिरते हैं, तब वे (अप्सराएं) कातर होकर उन्हें बर्जनी में पकड़कर सूक्षा सहित देखती हैं ॥३७॥

पततस्तान् विमानेभ्यः प्रियान् पार्वु समुदाताः ।

पतन्त्यस्ताश्च लक्ष्यन्ते त्रुटिस्तारका इव ॥३८॥

वे (अप्सराएं) विमानों से गिरने वाले अपने प्रियतमों को लचाने के लिए उद्यत होकर गिरती हुई ऐसी लगती है, मानो ताराएं ढूटी हो ॥३८॥

चित्रस्त्रामूषणाः काश्चिद्विपद्मस्तान् नित्रप्रियान् ।

तत्रस्था अनुगच्छन्ति केवलं साश्रुहृषिभिः ॥३९॥

रंग विरगी माला एवं भूषणं पहिने कुछ अप्सराएं विपचिपस्त अपने प्रमियों को देखकर वहाँ स्थित रहकर केवल अभ्युपूर्यं नेत्रों से अनुगमन करती हैं ॥३९॥

पततस्तान् प्रतिस्नेहादभुक्तिलन्नानना भृशम् ।

महाधिपीडिताश्चान्यास्ताडयन्ति करौरुरः ॥४०॥

अन्य अल्पराएं, गिरने वाले प्रेमियों के प्राति स्नेह के कारण अत्यन्त मानसिक पीड़ा से पीड़ित होकर हाथों से छाती पीटती हैं ॥४०॥

पतन्तस्तेऽपि शोकाती हा चैत्ररथ हा प्रिये ।

हा मन्दाकिनि हा मेरविति दीना रुदन्त्यलम् ॥४१॥

वे (स्वर्गवासी) भी गिरते हुए, शोक से पीड़ित होकर, हा चैत्ररथ ! हा प्रिये ! हा मन्दाकिनि ! हा मेर !—इस प्रकार अत्यन्त दीन होकर रोते हैं ॥४१॥

एवं कष्टेन लक्ष्योऽपि देवलोको हनिष्ठितः ।

हस्यते चण्डिकश्चापि वियोगेन च दुःखदः ॥४२॥

इस प्रकार कठिनाई से प्राप्त होने वाला वह देवलोक भी चण्डिक तथा अनिश्चित देखा जाता है तथा अवश्यम्भावों वियोग के कारण दुःखद है ॥४२॥

जगतो नियमो होय स्वभावश्चायत्यं ध्रुवः ।

तथापि न जना अस्य रूपं पश्यन्ति तादृशाम् ॥४३॥

जगत् का यह नियम है तथा ऐसा स्वभाव है तो भी लोग इसका उस प्रकार का रूप नहीं देखते हैं ॥४३॥

स्वर्गो जितेन्द्रियैर्येश्च शाश्वतो हीति निष्ठितः ।

तेऽपि निपतिताऽच्चात्मा ध्वस्तादित्तमनोरथाः ॥४४॥

'स्वर्गं याभ्यत है'—ऐसा निष्ठय करके जो जितेन्द्रिय लोग गये, उनके भी उष अनोरथ नहु हो गये और वे दुःखी होकर गिरे ॥४४॥

निरयेष्वातिवाहुल्यं सूर्योपु भक्षणं मिथः ।

प्रेतेषु चृत्यपासा च रुष्णादुख्यं नरेष्वलम् ॥४५॥

नरको में बहुत पीड़ा है, पशुओं में परस्पर भक्षण होता है, प्रेतों में भूत प्यास होती है तथा मनुष्यों में रुष्णा का अत्यन्त दुःख है ॥४५॥

पुनर्जन्म पुनर्सृत्युग्रिह स्वर्गे च नारके ।

सततं ध्रमतामित्यं जीवानां नास्ति वै सुखम् ॥४६॥

यहाँ, स्वर्ग में एवं नरक में भारम्भार जन्म लेना एवं मरना—इस प्रका निरन्तर घूमने वाले जीवों को दधार्य में सुख नहीं है ॥४६॥

निराधारं जगचक्रं तीव्रगत्या भ्रमत्यलम् ।

तदायत्तस्तु जीवोऽयं आन्तिमूर्मि न गच्छति ॥४७॥

यह संसार आपास्यहित ही तीव्र गति से निरन्तर घूम रहा है, (उसमें) जीव जारी ओर से पिरा है तथा कभी शान्ति स्थान नहीं पाता है ॥४७॥

जीवलोकान् स पञ्चैवमपश्यदित्यन्तज्ञुपा ।  
न लेखे रंपु वै सार इम्बास्तम्भोदरेपिव ॥४८॥

इस प्रकार उसने दिव्य ज्ञन से पाँच जीवलोकों को देखा, किन्तु उनमें  
ऐले के लक्ष्य के गम्भीर के समान, सार नहीं देखा ॥४८॥

अधरंरात्रे व्यतीते तु जगत्तत्त्वद्युत्स्थया ।

अच्छानागृहा सत्त्वस्थो दधयौ स ध्यानिनां वरः ॥४९॥

आधी रात व्यतीत होने पर ध्यानियों में ऐष्ट उसने, जगत्तत्त्व बानने  
के विचार से सत्त्व में स्थित होकर तभा इन्द्रियनियन्त्र करके ध्यान किया ॥४९॥

अहो जीवा न कुत्रापि लभन्ते शर्म च स्थितिम् ।

जायन्ते चैव जीवन्ते स्थियन्ते च पुनः पुनः ॥५०॥

अहो ! जीव कहीं भी न तो सुख पाते हैं और न स्थिरता । बारम्बार  
शर्म लेते हैं, चूडे होते हैं एवं मरते हैं ॥५०॥

काममोहत्तमरक्षन्ना हृषिर्लोकस्य वै भ्रुबम् ।

महादुःखाद्विनिर्गम्भु रसनामां नानुपर्यति ॥५१॥

निअव ही मनुष्यों को हाँड़ काम मोह रूप तम से ढकी है, (इसोलिए )  
महादुःख में निकलने का सच्चा मार्ग नहीं दीखता ॥५१॥

अहो न सलु किञ्चैत्यस्यामितर्वं तु केवलम् ।

अरामरणदुःखानां हेतुरेवेत्यचिन्तयत् ॥५२॥

अहो ! सच में यह क्या है ? जिसका आत्मत्व केवल चरा-मृत्यु का  
कारण है—ऐसा सोचा ॥५२॥

सत्यस्यान्तः प्रविश्यासी त्रुक्षुरे ज्ञानिनां वरः ।

अन्मन एव सद्गुवाजरामूलू न चान्यथा ॥५३॥

ज्ञानियों में ऐष्ट उसने सत्त्व के बान्दर परेश फरके देखा—बन्म का होना  
ही चरा-मृत्यु का कारण है, अन्यथा नहीं है ॥५३॥

शिरोऽस्तित्वे शिरःपीडा लति पृक्षे च कर्त्तनम् ।

इत्यन्तव्यज्ञुपा सर्व ददर्श सुनिसत्तमः ॥५४॥

शिर के रहते शिर की पीढ़ा समव है, वहाँ होने पर वह कट्टा है—इस प्रकार मुनिसत्तम ने अन्तहन्तु के द्वारा सब कुछ देला ॥५४॥

जन्मनः कारणं कि स्यादिति चिन्तापये मुनिः ।

ततः कर्म भवत्त्वैव निदानं हम्बवानसी ॥५५॥

जन्म का कारण क्या हो रहता है ?—इस विषय में मुनि ने चिन्तन किया । सब कर्म-भव को ही उसने मूल कारण देला ॥५५॥

कर्मणैव प्रवृत्तिहि दृष्टा तेजान्तरात्मना ।

न प्रकृत्या न कर्मा च नाभावेन न चात्मना ॥५६॥

उसने इन्तरात्मा से कर्म ने ही प्रवृत्ति देती—न प्रकृति से, न कर्मों से, न आभाव से और न आत्मा से ॥५६॥

वंशस्य प्रथमे छिन्ने पर्वणि त्रुकितस्ततः ।

शेषं तु सुकरं तद्वज्ञानं तस्याव्यवर्धनं ॥५७॥

हीन का पहला पोर युक्ति से छेद देने पर शेष यज्ञ ( पोर ) सरलता में छिद चाते हैं, इसी प्रकार ( जन्म के मूल कारण का बान हो जाने पर ) उस ( मुनि ) का बान बढ़ा ॥५७॥

ततो दध्यो भवस्यास्य कारणं चलवान् मुनिः ।

उपादाने ददर्शासी निहितं भवकारणम् ॥५८॥

उब मुनि ने इस भव के कारण का प्रथमपूर्वक भ्यान किया । उसने उपादान में भव के कारण को निहित देखा ॥५८॥

त्रिविधं जीवनस्यात्र ब्रह्म शीलं च कर्म च ।

उपादाने तदेव स्यादिभ्वनादनको यथा ॥५९॥

इस जीव में जीवन के जो त्रिविध वह, शील एवं कर्म है, वे ही उपादान हैं । जीव इन्तम से अनल होता है ॥५९॥

उपादानमिदं केन हेतुना चात्र जायते ।

इति चिन्तयता तेज गृष्मैव ददशे पुरः ॥६०॥

और इस लोक में यह उपादान किस कारण से उत्पन्न होता है? इस पर चिन्तन करते हुए उससे तृष्णा को ही पहले देखा ॥५०॥

यथा वाग्युयुतो वहिकणोऽस्तव्ये प्रवध्यते ।

तथा तृष्णायुतः कामः कमीरण्ये विवध्यते ॥५१॥

जिस प्रकार वानु मे युक्त होकर अग्नि का कण बंगल में फैल जाता है, उसी प्रकार तृष्णा से युक्त काम ही कमेल्प बंगल में बढ़ जाता है ॥५१॥

पुनर्देव्यौ स तृष्णैषा जायते केन हेतुना ।

तसो ध्यानपरः सम्यक् कारणं वेद वेदनाम् ॥५२॥

'तृष्णा किस कारण से उत्पन्न होती है?'—इस पर उसने पुनः ध्यान किया। तब अच्छी तरह ध्यानपरायण होकर उसने तृष्णा का कारण 'वेदना' को जाना ॥५३॥

तथा चाकृष्टलोकोऽथं तृष्ण्यर्थमनुधावति ।

पिपासाकुतितो लोको जलं वाप्न्यति नान्यथा ॥५३॥

यह संसार वेदना से आकृष्ट होकर तृष्णि के लिए दीक्षिता है। मनुष्य, प्यास से आकृत दोष ही जल चाहता है, अन्यथा नहीं ॥५३॥

पुनः स वेदनामूलं ज्ञातुं वृश्यो जितेन्द्रियः ।

स्पर्शेषु वेदनास्तो ददर्श वेदनान्तकः ॥५४॥

फिर उस जितेन्द्रिय ने वेदना का मूल ( कारण ) जानने के लिए ध्यान किया। तब वेदना का अन्त करने वाले उसने स्पर्शों में वेदना का उद्गम देखा ॥५४॥

अच्छवस्तुमनोचोगः स्पर्शं इत्यभिपीयते ।

तस्माच्च वेदनोत्पत्तिरस्ये: पात्रको यथा ॥५५॥

इन्द्रियो, वस्तुओं एवं मन के संबोग को 'त्पर्श'—ऐसा कहते हैं। उस ( त्पर्श ) से वेदना ( धृष्टा या चेतना ) की उत्पत्ति होती है, जैसे अग्नि ( मन्त्रन ) से अग्नि उत्पन्न होती है ॥५५॥

पुनश्च चायमानोऽसौ स्पर्शस्यापि हि कारणम् ।  
जग्नायतनं पट्टकं लोके लोकविदां वरः ॥६६॥

फिर 'स्पर्श' का भी कारण क्या है? इस पर लोकवेताओं में अषु उसने ध्यान में आकर संसार में पड़ आयतनों को स्पर्श का कारण जाना ॥६६॥

न पश्यति धटं छन्दो यतो हृष्ट्या युतो न सः ।

अतो आयतनेष्वेव सत्सु स्पर्शस्य संभवः ॥६७॥

अन्धा (मनुष्य) धट नहीं देखता है, लोकि हृषि से धट का संयोग नहीं है। अतः आयतनों के रहने पर ही स्पर्श का होना संभव है ॥६७॥

ततः पट्टकस्य तत्त्वज्ञ आयतनस्य कारणम् ।

नामरूपे विवेदासी चिन्तयन सततं विद्या ॥६८॥

तब उस तत्त्वज्ञ ने पड़ आयतनों के कारण निरन्तर चिन्तन करते हुए ज्ञान के हारा नाम रूप को पड़ आयतनों का कारण जाना ॥६८॥

अंकुरे सति पत्राणां शास्त्रानां च समुद्रमः ।

आयतनोदगमस्तद्वै सतो नामरूपयोः ॥६९॥

अंकुर के रहने पर ही पत्रों एवं शास्त्राओं का उदगम होता है। उसी प्रकार नाम रूप के रहने पर ही आयतनों का उदगम होता है ॥६९॥

ततश्च स पुनर्द्वयी कारणं नामरूपयोः ।

ज्ञानपारङ्गतोऽपश्यद्विलानं भूतमास्थितम् ॥७०॥

तब फिर नाम रूप के कारण का ज्ञान किया। तब ज्ञान के पारंगत उसने विज्ञान को मूल में दिखाया ॥७०॥

विज्ञानस्योदये नामरूपे संभवतो यतः ।

सम्बन्धिकसिताद्वयीजाहंकुरोऽत्र विभावते ॥७१॥

विज्ञान के उदय होने पर ही नाम रूप का उदय संभव है, क्योंकि जीव का सम्बन्धिकसिता द्वयीजा हंकुरो अंकुर दीक्षित है ॥७१॥

विज्ञानं जायते कस्मादिति चिन्तयता पुनः ।

नामरूपे समाभित्य निर्गतं तेन वीक्षितम् ॥७२॥

'फिर विज्ञान ( संज्ञा, वेतना ) इससे उत्पन्न होता है ?'—ऐसा चिन्तन करते हुए उसने देखा कि वह विज्ञान, नाम रूप का आभय लेकर निकला हुआ है ॥७२॥

निमित्तस्य कस्म ज्ञात्या नैमित्तिकस्य वा पुनः ।

संचार स्थिरं तत्र नान्यत्रास्य यथो मनः ॥७३॥

निमित्त नैमित्तक का कम आनकर उसका मन वही स्थिर होकर बिचरने लगा । फिर कही नहीं गया ॥७३॥

विज्ञानं प्रत्ययो इस्ति नामरूपोद्भवो यतः ।

नामरूपे तथाऽधारो विज्ञानज्ञ यदान्तितम् ॥७४॥

विज्ञान 'प्रत्यय' है, जिससे नाम रूप उत्पन्न होता है तथा नाम रूप 'आधार' है, जिस पर विज्ञान आधित है ॥७४॥

जलं नयति नीर्मलं स्थलं नावं नदस्तथा ।

विज्ञानं नामरूपे च हान्त्योन्नं कारणं मतम् ॥७५॥

जल में नीर्मल भनुष्यों को दोती है । स्थल में मनुष्य नीका को दोते हैं । उसी तरह विज्ञान एवं नाम रूप के एक दूसरे का कारण माना गया है ॥७५॥

तुणं द्रहति तपायो ज्वलतस्तापयत्ययः ।

कार्यकारणस्त्वंवन्धस्तयोस्तद्विपरस्परम् ॥७६॥

तपा हुआ लोहा तुण को जलाता है, ( तपा ) जलता हुआ तुण लोह को तपाता है । ऐसे ही उन दोनों का परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध है ॥७६॥

विज्ञानाद्भवतो नामरूपे चायतनं ततः ।

ततः स्पर्शं इति व्यायज्ञानी तत्त्वविद्वां वरः ॥७७॥

तत्त्ववेत्ताओं में भेद उसने ध्यान करते हुए जाना कि विज्ञान से नाम रूप होते हैं, उन ( नाम रूप ) से आवतन, उस ( आववन ) से स्पर्श होता है ॥७७॥

स्पर्शोऽु वेदनाजन्म सतस्तुष्णा प्रजायते ।

उपादानं ततस्तस्माज्ञातस्तेन भवोऽुवः ॥३८॥

स्पर्श से वेदना, उस ( वेदना ) से तुष्णा, उससे ( तुष्णा से ) उपादान एवं उस ( उपादान ) से भव का उद्यमन होता है—ऐसा उल्लेख जाना ॥३८॥

भवाज्ञन्म मतं तेन जरामूल्य तु जन्मतः ।

सम्यग् ज्ञातस्ततस्तेन प्रत्ययेभ्यो भवोऽुवः ॥३९॥

तब उसने माना कि मत में जन्म होता है और अम्ब में चरा मरण होते हैं । तब उसने अच्छी तरह जाना कि प्रत्ययों में भव उत्सर्ज होता है ॥३९॥

जन्मनाशोऽजरामूल्यवर्गिरोधो जन्मया पुनः ।

जन्मनाशो भवे नष्ट इति सम्यग् विनिहितम् ॥४०॥

अम्ब के नाश में चरा मूल्य का निरोध हो सकता है, अन्यथा नहीं । पिर उसने अच्छी तरह निर्णय किया कि भव के नाश होने पर ही जन्म का नाश हो सकता है ॥४०॥

उपादाननिरोधेन भवः संरक्षयते भ्रुवम् ।

इति व्यानवतस्तस्य चान्तर्वर्गोऽुभ्यवर्णते ॥४१॥

उपादान के निरोध होने पर असार निवित रूप से संरक्ष होता है—इस प्रकार ज्ञान करते हुए उसका अन्तर्वर्ग बढ़ गया ॥४१॥

तुष्णारोध उपादानं निरुद्ध भवति ज्ञानम् ।

वेदनायां विनष्टायां तुष्णास्तिर्वं न विद्यते ॥४२॥

तुष्णा का निरोध होने पर उपादान का एक चरा में ही निरोध हो जाता है और वेदना का विनाश होने पर तुष्णा का अस्तित्व नहीं रहता ॥४२॥

स्पर्शे नष्टे ततः सम्यग् वेदना नश्यति भ्रुवम् ।

पदायतनसन्नाशे स्पर्शश्चापि विलीयते ॥४३॥

स्पर्श के अच्छी प्रकार नष्ट होने पर, वेदना निवित रूप से नष्ट हो जाती है तथा पद् आयतनों के सम्यक् नाश होने पर स्पर्श विलीन हो जाता है ॥४३॥

नामसूपनिरोधे च पदायतनसंज्ञयः ।  
तथा विज्ञानरोधे च नामसूपे विनश्यतः ॥८४॥

नाम रूप के निरोध होने पर पहुँचायतनों का सम्पर्क छप हो जाता है तथा विज्ञान के निरोध होने पर नाम रूप नहीं हो जाते हैं ॥८४॥

संस्कारस्य निरोधेन विज्ञानं सन्निरुद्ध्यते ।  
इति चैकेकमन्योन्यं कारणं शास्त्रवान् मुनिः ॥८५॥

संस्कार के निरोध होने पर विज्ञान का निरोध हो जाता है—इस प्रकार मुनि ने एक एक वा दूसरे दूसरे का कारण ज्ञातवान् मुनिः ॥८५॥

अविद्यापरमे सम्बक्तं संस्कारः चीयतेऽस्मिलः ।  
इति शेषं विदित्वाऽसौ बुद्धो भूत्वा विनिर्वर्यो ॥८६॥

अविद्या का अपगम ( अभाव ) होने पर अचली तरह से सम्पूर्ण संस्कार छीण हो जाते हैं—इस प्रकार यह शेष को ज्ञानकर, उद्ध दोकर ( ज्ञानसे ) बाहर निकला ॥८६॥

नान्तर्विद्वा लोकेषु त्वात्मानं तष्टवान् क्वचित् ।

आषाढ़िकेन मार्गेण परमां शान्तिमाययौ ॥८७॥

लोकों में बाहर भीतर कहीं आत्मा को नहीं देखा, ( एवं ) अष्टाङ्ग योग मार्ग से परम शान्ति पायी ॥८७॥

एष ज्ञानो मत्या मार्गः पूर्णो यस्मिन् महर्षयः ।

सत्यानूतनिदृच्छेनुः परार्थोयेति निश्चितम् ॥८८॥

‘यह मैंने पूर्ण मार्ग प्राप्त किया, जिस पर सत्य अनृत को ज्ञानने वाले महर्षि गण परमार्थ के लिए जले थे’—ऐसा उसने निश्चय किया ॥८८॥

तुर्याम उपःकाले यदा शान्तात्वरात्वराः ।

अविनाशिपदं ध्याता सर्वज्ञत्वज्ञं प्राप्तवान् ॥८९॥

चतुर्थं पहर उपःकाल में जब कि ज्ञानवर शान्त था, उस ध्याता ने अविनाशी पद एवं सर्वज्ञत्व को प्राप्त किया ॥८९॥

बुद्धे तस्मिव्यजुघूर्णासी धरा मत्तेव कामिनी ।

सिद्धैः सह दिशो दीपा नेदुदुन्दुमयो दिवि ॥६०॥

जन ने बुद्ध हो गये तब मतवाली कामिनी की भाँति पृथ्वी शूमी, सिद्धों के साथ दिशाएँ दीप हुईं (तथा) आकाश में (देवताओं ने) नगाड़े बजाये ॥६०॥

अनभ्या वृष्टयः पेतुः मन्दे वाता वतुः सुखाः ।

अकाले कलपुष्पाणि तस्मै वृक्षारच तत्पञ्जः ॥६१॥

जिना बादल के चाहों हुई, मन्द सुखद पवन चले तथा इच्छों ने अकाल में ही उठके लिए, कल और पुष्प गिराये ॥६१॥

दिवः पेतुः सुवर्णानि माणिक्यादीनि वै तथा ।

मन्दारादीनि पुष्पाणि तैरापूर्णस्तदाभ्रमः ॥६२॥

लर्ण ने सुखवृत्त तथा मणि माणिक्य गिरे और मन्दार आदि (स्वर्णाय) पुष्प गिरे, जिससे उनका आभ्रम भर गया ॥६२॥

नासीन् कुदृस्तदा करिचन दग्धो न च पापकृत् ।

पूर्णतः भ्रमिवात्यर्थं जगच्छ्रान्ते समावृमी ॥६३॥

उस समय कोई कृपित नहीं था, न रोधी था और न पापकर्ता था । जगत् मानों अत्यन्त पूर्णता प्राप्त किया हो—ऐसा शान्त हुकर शोभा पाया ॥६३॥

हृषा मोक्षाधिनो देवास्तुष्टोऽधोलोकगोजनः ।

धर्मकुदृश्याऽभितोऽजानात्तमसो जगदुद्गतम् ॥६४॥

मोक्षाधों देवता प्रसन्न हुए, नौने के लोकों में रहने वाले लोग मन्तुष्ट हुए, तथा चारों ओर से भर्म की कृदि होने से जगत् अशानस्य अन्वकार से ऊपर उठा ॥६४॥

हुषा इत्ताकुर्वशार्पः सिद्धया देवमहर्षयः ।

दिववयानजुषस्तस्य सम्मानाय समाययुः ॥६५॥

इत्ताकुर्वश के नृति की सिद्धि से सन्तुष्ट हुए देवता एवं महर्षि उसके सम्मान के लिए दिव्य विमान पर चढ़ कर आये ॥६५॥

उच्चैस्तमीहिरेऽहश्याः सिद्धा देवा महर्षयः ।  
आपतिष्ठादिपते: प्रागिव मन्त्रौ तु मन्मथः ॥६३॥

अहश्य होकर सिद्ध-देवता-महर्षियों ने उच्च स्तर से उसको लुति की, किन्तु मन्मथ आने वाली विपत्ति से पहिले की तरह मुरझा गया ॥६३॥

कायक्लेशविमुक्तोऽसौ स्थानः पश्यन् हि तत्र वै ।  
तस्यौ सप्तदिनं स्नेहाल्लभधलाद्यतया स्थले ॥६४॥

कायक्लेश से विमुक्त होकर, वे मुनि उस स्थान पर बोध पाने के कारण स्नेह से वहाँ सात दिन तक अपने आनंद देखते हुए ठहरे ॥६४॥

कार्यकारणतत्त्वज्ञः सुस्थितोऽनात्मवत्मनि ।  
जगच्छ्रान्त्यर्थमत्यर्थमपश्यद् बुद्धचञ्जुपा ॥६५॥

अनात्मवाद में अच्छौ तरह रियत होकर कार्य कारण के तत्त्व को जानने वाले ( मुनि ) ने अत्यन्त शान्ति के निमित्त जगत् को ( अपनी ) बुद्ध इष्टि से देखा ॥६५॥

मिथ्याचारं मुधायासं कामात्म्यं पतितं जगत् ।  
मोऽमागं तनुं हट्टुऽविचलं भावमास्थितः ॥६६॥

जगत् को मिथ्या, आचार ( मय ) व्यर्थ प्रयात् युक्त, बहुत कामवासना वाला एवं पतित तथा मोऽमागं को अत्यन्त सूक्ष्म देखकर ( यह मुनि ) अविचल भाव में स्थित हुआ ॥६६॥

स्मृत्वा पूर्वप्रतिज्ञां दद्यु दुःखादितं जगत् ।  
कर्तुं शमोपदेशं स इयेष मुनिनायकः ॥६७॥

तद ( अपनी ) पूर्वकृत प्रतिज्ञा का स्परण करके और जगत् को दुःख से पोड़ित देखकर मुनिसत्तम ने शान्ति का उपदेश करने की इच्छा की ॥६७॥

जगस्यां बोधदानाय बुद्धस्य कृतनिश्चयम् ।  
मनो ज्ञात्वा मुनेः पार्वत्मायत्रौ द्वौ दिवीकसी ॥६८॥

जगत् में बोधप्रदान करने के लिए बुद्ध के मन को कृतसंकल्प जान कर मुनि के पास दो स्वर्णवाणी देवता आये ॥६८॥

त्यक्तपापं स्थितं धर्मसंगिनं लब्धवलद्यकम् ।

सादरं मुनिमानन्य धर्मं तावृचतुर्बन्धः ॥१०२॥

पाप रहित, धर्म के लहर, लक्ष्य प्राप्त करके स्थित उस मुनि की सीधर स्थापित करते हुए वे दोनों देव अमंडुक वचन लेते—॥१०२॥

सीभाग्यस्य किमेतस्य नास्ति योग्यमिदं जगत् ।

चिचमादैं सुने यते दीनान् दीवान्न परवति ॥१०३॥

क्या यह जगत् इस तौमाण्य के योग्य नहीं, जो कि आपका दयालुत चिच दीन जीवों को नहीं देता रहा है ॥१०३॥

जीवा बहुविधा लोके सन्ति तत्त्वमावतः ।

कामाद्या अवपकामाद्य विमुखाः सम्मुखा अपि ॥१०४॥

संसार में तत्त्वमाव के बहुत प्रकार के जीव हैं—कुछ को नाम वासना बहुत है, कुछ को कम है, कुछ सम्मुख है (तथा) कुछ विमुख है ॥१०४॥

उद्धर त्वं जगददुःखाद्वसागरपारग ।

घनाह्या हि घनानीव वितर स्वरुणाङ्गुमान् ॥१०५॥

( है भवसागर पार याये हुए मुनिशेष ) ! दुःख से जगत् का उद्धार करो । जिस प्रकार वनों व्यक्ति घन वितरण करते हैं, उसी प्रकार (आप) अपने गुण वितरण करें ॥१०५॥

स्वार्थं प्रायः समीहन्ते जना लाभ परत्र च ।

कुर्यात्तर्गदितं यस्तु दुर्लभस्ताहशो जनः ॥१०६॥

लोग इस लोक में तथा परलोक में प्रायः अपना स्वार्थ चाहते हैं । जो जगत् के हित का कार्य करे— ऐसा मनुष्य दुर्लभ है ॥१०६॥

इत्युक्त्वा जग्मतुस्तो स्वपथा तेनैव भास्वता ।

मुनिश्च जगतो मुक्तेनिमित्तं मन आदधे ॥१०७॥

ऐसा कहकर वे दोनों जिस मार्ग से आये थे, उसी मार्ग से भास्वर स्वर्ग को चले गये । और मुनि ने जगत् की मुक्ति के लिये अपना मन लगाया ॥१०७॥

ददुः पात्राणि भिज्ञार्थमेत्य तस्मै दिशां सुयाः ।

आदाय तानि सवीरिणि तेन चक्रीकृतं सुदा ॥१०८॥

दिशाओं के देवताओं ने आकर उनके लिए कई एक भिज्ञा पात्र दिये ।  
मुनि ने प्रसन्नतापूर्वक सोकर उन सब पात्रों को एक कर लिया ॥१०८॥

सार्थस्य गच्छतस्तस्मै तदा द्वौ श्रेष्ठिनौ वरौ ।

ददतुः प्रथमां भिज्ञां सम्पूज्य मुनये नती ॥१०९॥

उत्तमय, जाते हुए काफिले के दो अष्ट देवों ने पूजा कर के नम्रतापूर्वक  
उन मुनि के लिये पहली भिज्ञा दी ॥१०९॥

अराढ उद्रकश्च द्वौ घर्मादानकर्मी मुनिः ।

ज्ञात्वा दिवं गतौ ती च सोऽस्मरद्विजुपञ्चकम् ॥११०॥

अराढ एवं उद्रक—दोनों घर्म ग्रहण करने में समर्थ थे, किन्तु वे दिवंगत ही  
गये हैं—ऐसा जानकर मुनि ने पाँच भिज्ञाओं का स्मरण किया ॥११०॥

लोकाज्ञानतमरश्चेत्सुमुद्यन् सूर्य इवाभितः ।

ययौ घन्यां पुरीं रस्यां मुनिर्भीमस्यप्रियाम् ॥१११॥

संसार के अज्ञान रूप अन्यकार को चारों ओर से मिटानेके लिये, उदय  
कालीन सूर्य कहण मुनि, भीमरथ की प्रिय मनोहर घन्य नगरी को जाने  
लगे ॥१११॥

ततः स काशीमभिजिग्मधुर्मुनिंगेन्द्रगामी मुग्राजकन्धरः ।

अपातवद् बोधितरौ सुनिश्चलां निवत्य कावं शुभहृष्टिमात्मनः ॥११२॥

श्री अश्वघोषकृते पूर्वबुद्धचरितमहाकाव्ये

बुद्धत्वप्राप्तिर्नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

तद गजेन्द्र के समान गति वाले, मृगेन्द्र के समान कन्धा वाले मुनि ने  
काशीपुरी जाने की इच्छा से अपने शरीर को शुमाकर बोधिहृष्ट के ऊपर  
अपनी सुट्ट एवं शुम हटाए जाली ॥११२॥

पूर्वं बुद्धचरित महाकाव्य में बुद्धत्वप्राप्ति नामक

चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ ।



# श्लोकानुकमणिका

( बुद्धचरित : प्रथम भाग )

	पृष्ठ		पृष्ठ
अ			
अंकुरे सति प्रज्ञाणो	२०४	अग्राय नोक्तिष्ठसि	३८७
अग्रस्यः प्रार्थनामास	५३	अधापरं व्यापिषही	१९
अग्रामयमर्घं सलिले प्रसूदं	५०	अधापरे निर्जिगित्तुर्मुखेन्मः	३८६
अङ्गवस्तुमनोबोगः हयक्ष	२०३	अधाश्वीद्वाजसुतः स	३१
अङ्गस्य राजस्तनभाष भीमते	११९	अग्रेषुप्रत्रः परमप्रतीतः	२३
अङ्गाभिष्ठात्र स पुण्य	२८	अघवसुको मारधाविषेन	१५२
अङ्गानं कर्म तुल्या	१६०	अथो कुमारश्च विनिश्च	५८
अनुव लोकं विषयप्रवानं	१४१	अथो विकीर्णो तव धर्मं पूर्व	१४१
अतिग्रहपौदय शोकमृच्छिताः	१०४	अथो चुरुचेव विशाम	१०२
अनुसास्ते च कामेभ्यः	१९१	अथो नरेन्द्रः सूतमाग	३१
अनो दुवा वा स्वविरोऽयवा	१५४	अथो निमित्तेत्त	३०
अथ कष्टतपः	१०५	अथो विविक्तं कामेभ्यो	१६५
अथ कामनश्चेष्टुद्धर	६३	अथोपसूल्याभ्रमवासिनस्तं	११
अथ मोपाविष्टुता	१४५	अदरवस्त्वाव द्रिषीकसः	४
अथ घोषसिमं महाभ्रोपः	६३	अदृष्टतत्त्वस्य सतोऽपि	१३२
अथ तत्र सुरेस्तपो	६८	अद्विहुताः शममस्युपैति	१२९
अथ त्विदानीं कुलगवित्तवादस्मात्	१२९	अविगम्य ततो विवेकज्ञं	६१
अथ नारीवनष्टः	५६	अवीरमन्याः पतिशोकमृच्छिता	१०५
अथ नेत्रज्ञातिरि शुची	१०१	अष्टुतेः अद्वानस्य	५०
अथ प्राणामते	१०९	अद्यात्मसुक्तालस्ववन्यो	१३७
अथ चन्द्रं च रात्रं च	८१	अननिश्चय सुव्यर्थं	५१
अथ व्रकन्तः समुपेतमन्यतो	१०१	अनन्ना दुष्टयः पेतुः	२०८
अथ मन्त्रिसुतैः शमः कदाचित्	८८	अनन्ना विद्यया वालः	१६३
अथ सुनिरसितो	१३	अनर्थकामोऽस्य अनस्य सर्वया	१०६
अथ मेरुगुरुर्मुर्न	६६	अनाश्रिताकुवज्ञ	४
अथ लोकेष्वाणा काचित्	८५	अनामवस्तो हृदि येविद्युषा	१४६
अथ स पदिष्ठितीष	०४	अनाश्रयकमां स्त्रपमय हेष्टम	१०८
अथ संवत्सार	०५	अनाश्रयमन्त्रिष्ठममित्रकर्म	१०६
अथ तेमत्वलीनपूर्ण	८२	अनन्तेनापि नारीणां	५८
अथाङ्ग इति मिदो वः	१५०	अनेन तव भाषेन	८०
अथाङ्गया भर्तु	१५०	अनेन मणिना छुन्द	१८
		अन्ताय यत्व स्वदृष्टेदनन्तो	१५२

भस्त्रकालेषु वैकैः स	१५२	अशाकनुधन्तोऽप्यवशा:	१९१
अन्यग्निविद्वामपि राजमार्गे	१५३	अशुचिविकृतव्य	११
अन्यवज्ञानाभिमणस्तत्सर्वे	१५४	वृषोंको हस्यतामेष	५५
अन्यिव्यव चादाय च वाततया	१५५	अहमप्रयत्नावितहृष्टयोऽन्ये	११
अपरान्ते तथेवाम्या	१५६	वरकल्पात्र्वैवरन्पूर्वे	१०४
अपरा वमूर्तुर्	१५७	असंशयं गृह्णुरिति	५५
अपरा: शयिता	१५८	असरसु मैत्री स्वकुलानुषृता	१४२
अपरास्तवद्वशा	१५९	असी मुनिनिव्यववसं	१०५
अपि च नियत एष तस्य भावः	१६०	अस्तीति केचिपरलोक	१२८
अपि च शाससहृष्ट	१६१	अस्ति चुधात्ती हृष्ट सारमेष्या	१४६
अपि नाम विहङ्गनी	१६२	अचिन्नयोऽपि समयोऽस्ति	५७
अपि गैरुप्यमस्माक्ते वाच्यं	१६३	अस्य लेपस्य विज्ञानात्त्वेन्द्रिय	१३०
अपि दियामुम्भगवन्	१६४	अस्य ध्यानस्य तु एते	१३६
अप्यच्छर्वं मे वस्तुसो	१६५	अहंकारपरित्यागो वद्वैष	१६९
अप्युपामाचं अकलमः	१६६	अहं ज्ञानस्त्युमयं विदित्वा	१४४
अप्यवच्छिन्ता हि तत्र	१६७	अहं नृपतिना दत्तः	५२
अभागिनी नूनमिति वसुन्धरा	१६८	अहं पुनर्भृहितीव	५७
अभागिनी वसुहमायतेष्यां	१६९	अहं विदेव उवलिते दुतापाने	१३३
अभिगम्य च ता:	१७०	अहं हि वानश्चपि राजाशासनं	१०८
अभ्युपातप्रवक्तितामिहोत्रे	१७१	अहं हि संसारशरेण विद्वो	१४८
अमानुषी तस्य	६	अहिसाक् प्रतिषेष्व	५२
अमुताहमयं नाम	१७२	अहो जीवा न कुञ्जापि	२०१
अग्रं किल अद्यायतपीम	१७३	अहोऽविद्यां इष्टव्य	५७
अग्रं च किल पूर्वोमस्माकं	१७४	अहो न एव लिङ्गेत्वा	२०१
अग्रमयी गृहानुमावा	१७५	अहो नृसंसे सुकुमारवर्चसः	११३
अग्रह उद्रक्षय द्वौ	१७६		
अर्थात्वये व्यतीते तु	१७७		
अलोकचक्षुसुमावाहीर्वी	१७८		
अपरान्तरं वस्य चपुः	१७९		
अवतीयं तत्सुरुह	१८०		
अवतीयं च पर्याः	१८१		
अवलम्बय गवाक्षाः	१८२		
अविद्यावयने सम्यक्	१८३		
अपिसरं विज्ञेष्यः	१८४		
अवेन्त्रविम्बय वापदक्	१८५		
अवेमि भावं समये वित्तो	१८६		

## बा

आकाशगतमात्मानं	१५०
आगतान् तत्र तत्पूर्वे	१६१
आचार्यके योगविधी	१०
आज्ञान्मनो जग्म	१९
आहा नृपत्येऽप्यविषेषि	१५०
आहाव भेदव्य च वयोपपत्ते	१३४
आदित्यपूर्वं विपुलं कुलं ते	१३६
आयुष्मानेऽप्येव वयः	३१
आर्यव्यवारीत्यर	२४
आर्यं मार्गेण सु	१६

आगृह इति विज्ञाय	१०५	इति वाचयमराहस्य	१५८
आशाया समस्तिक्रान्ता	११०	इति वाचयमिदं	१५९
आशानते चाभिगताय	३५	इति वाचयमिदं आशा लुन्दः	१६०
आशावद्भवयं	१४५	इति वाचयमिदं अस्वा	१६१
आसीन्महेन्द्रादि	१	इति वाचयमिदं अस्वा	१६२
आशारद्युद्या वदि पुण्यमिदं	१२	इति वोक्षभिसूतस्य	१६३
इ		इति शुतार्थः स	१६४
इच्छाकुलंशार्णव	१	इति शुतार्थः मसुहर्	१६५
इच्छामि हि त्वासुपगुण गाँडं	१२२	इति श्रस्वा वचस्तस्य	१६६
इच्छेदसी वै पृथिवी	८	इति सर्वज्ञलान्वय	१६७
इदं कार्यमिदं कार्यमित्येवं	१९५	इति सुखदमिवानुपिष्ठ	१६८
इदं च रोगस्तस्य	३८	इति स्म तत्तद् वहुद्युक्तिसुक्तं	१६९
इदं नववृन्नो चो	४४	इद्यं च राज्यं न सुक्ते न धमः	१७०
इदं पुरे तेज विवर्जितं	१०२	इत्यवर्तीद् भुमिपतिर्भवन्ते	१७१
इदं मे मतमार्थं	१५८	इत्यरात्रो वधापात्रे	१७२
इदं वचस्तस्य निशम्य	१०२	इत्यर्थं वाप्ताणा लोके	१७३
इत्य भूयः उममुत्तरे च	१५	इत्यतिचित्तो हि विद्वान्स	१७४
इति तनयविवोगजातात्पुरुषः	११५	इत्यागतावेगमनिष्ट	१७५
इति तस्य तदन्तरं	४३	इत्याग्नमिवानुगुणासुर्पं	१७६
इति तस्य वचः अस्वा	४४	इत्युक्त्वा वग्मतुस्तौ	२१०
इति तस्य वचो निशम्य	४४	इत्युक्त्वा स	२११
इति तस्य विषयतो यथा	४३	इत्युदायिवचः अस्वा	४४
इति तस्य म तद्वायां	१६८	इत्युपायव्य मोक्षव्य	१७८
इति तुलभमध	६५	इत्यूचियान् राजसुतः	२०
इतीह देवी पतिशोकमूर्च्छिता	११३	इत्यरात्रः कुमारस्य	१५९
इतीह देवता परिदेविता	१०८	इत्येतत्येवं वचनं	३२
इति धर्मसाहस्र	१९०	इत्येवं ता युवतयो	५०
इति पवानपरं इष्टा	५७	इत्येवं मगधपतिर्वचो वभासे	१४१
इति नरपतिपुत्रजन्म	१८	इत्येवं स्मरतस्तस्य	११४
इति पश्यत एव ताजसुमो	६२	इत्येवमादि द्विपदेन्द्रियाणः	११
इति प्रगेतुः स निशम्य	५०	इत्येवमुक्तः स तपस्विमध्ये	१३
इति प्रधाण वहुदेवममृतं	११०	इत्येवमुक्तः स इथ	३५
इति तुदिरियं च नीरजस्का	६२	इत्येवमुक्तः च वित्तः	३५
इति त्रुवाक्षेऽपि	४१	इत्येवमुक्तः सदा	४०
इति भुमिपतिर्भिन्नान्य	६४	इत्येवमेतेन विभिन्नमेण	१३०
इति वचनमिदं	७५	इर्मं तु इमुग्नामममविद्यतं	१३२

इमं प्रलापं करुमे निश्चाम्य	१११
इमाश्च विचित्रविद्वा वाहतः	११२
इमा हि शोक्या अवसुक्ष्मूषणः	१००
इमे वृष्टतकमाणः	१५७
इमेऽन्ये रूपभित्तिर्गः	१७३
इमेऽन्ये नरकग्राम्य	१९८
इमे हि वास्त्रनित तपः सहायं	१६६
इयं च निषा नियता	४१
इयं तु चिन्ता मम कीदृशं तु	११२
इषु हि तपेष्ठमाय सोर्यं	१५९
इष्टेन्यनिषेषु च कार्यं	२८
इह चेदहमादशः स्वयं	६१
इह चेत् भवन्ति ये	०३
इहागत याहनितो दित्यधा	१५५
इहापि तावरयुक्तस्य तिष्ठतः	१५७
इहायमेके प्रविशान्ति सोर्यं	१२
इहास्ति नासीति च एष संसायः	१३८
इहेभिहेतुभिर्भिर्मन् !	१५२
इहेत् हिरण्या स्वजनं पश्व	१२४
उ	
उपायुपश्चोप्रप्रसायुचोऽपि	१५९
उपास्तमीहिरेऽवश्वाः	२१५
उपदेन जीवन्ति तमा हवान्ये	५७
उत्तरस्यस्य च भारांयो	५८
उत्तिष्ठ भोः शुचिय	१६५
उद्धर र्व जगात्	२१०
उथानवेवायतनाऽपि	८१
उपगृह च ते	८५
उपपश्चमिद्ये वाप्तय	५५
उपपश्चाः प्रतिभये चक्षे	१६२
उपपश्चास्तुत्या चेमे	१७७
उपपश्चं रूपभित्तिरेस्तु तस्य	१६५
उपवासविधिनंकाम्	१०२
उपादानगिरोधेन भयः	२०६
उपादानमिदं केम तेतुमा	२०२

क	३
द्वोयं धीर्वसा	
क	
क्षगानुसवधा घटजानवधा	३६३
गद्यवामना घर्मभूता	३६५
क्षहभृष्टमनुविरहात्प्रा	३६६
क्षप्यवह मुनिसुरं	३६७
ए	
एक विनिये स तुगोप	३६८
एक सुत बालमनहन्दुग्ने	३६९
एतच तथेन	३७०
एतज्ञ एतम् ज्ञा	३७१
एतान् गुहस्थाच्चपतीनवेदि	३७२
एव क्षेत्रे लक्ष्योऽपि	३७३
एव गमे सूत निवर्ते	३७४
एव च ते निक्षयमेतु	३७५
एव च ये द्रव्यमवाप्य सोके	३७६
एव ज्ञा हन्ति च	३७७
एव ता दस्तिमात्रेण	३७८
एव तु वक्तु भवतील्लुक्यं	३७९
एव नूपः प्रथयितेह्निवैः	३८०
एव नूपेणोपनिमन्त्रितः	३८१
एव प्रवृत्तान् भवतः	३८२
एविष्ठा भूत्ताणाः	३८३
एविष्ठा घर्मवासाप्रवीप्ता	३८४
एविष्ठा राज्ञकुलस्य	३८५
एव स ते स्तैविष्ठयोः	३८६
एव स अम् विविष्ठ	३८७
एव हि न स्यासवज्ञात्यमर्दः	३८८
एविष्ठः कालचित्स्तपोमिः	३८९
एवमाहिष्यमारणोऽपि	३९०
एवमादि तथा सौष्य	३९१
एवमादानुर्धितासान्	३९२
एवमादा महात्मानो	३९३
एव लक्ष्यो भवता नामः	३९४
एव हि समित्प्रभावत्तम	३९५

गे			
पेत्र राजा विदिवं विगाह	१४७	वायर्कारणतस्यः	२०७
क		काली चैव पुरा कल्यां	२५
कः कण्टकस्य प्रकरोनि	१२९	काले तत्काळाहयोऽव	२७
क एष भोः सूत	३५	कामिकमककाञ्चिभिः	४७
कवित्सूनामयमण्टमः स्यात्	८९	कामिक्षिशास्त्रव निशाकरामः	१४
कवित्त ने जात	१४	काष्ठं हि मरनम् लभते	१८७
कथं नु मोहायतनं नृपत्वं	१२५	कासामिक्षिशासां तु वराह	४२
कथं यामयक्षो जानन्	८१	किं चा दालिष्यमात्रेण	५३
कनकवलयन् चित्	४४	किं हि बद्धति मो राजा	८८
कनकोन्वल	६३	दिविम्मनः छोकर	१४
किरणहारमचलेभ्य सा	१०४	किमुख्या वहु संचेपात्तुम्	१५
करात्मनक्षेत्र	५४	किमेता नायगच्छन्ति	५१
कर्मणेव प्रज्ञतिहि	२०२	कीर्णं तथा पुण्यकृता जनेन	८९
कर्ले हि चामीकरवद्	२४	कीर्णं तथा राजपतं	३४
कवित्वलस्तक इत्योदितः	१८९	कुलाचतोऽम्भे स्थिर	२३
कवित्तो रोपविगून्नहित्तस्मै	३४४	कुलार्थं भास्यते पुत्रः	३०
कवित्तमानच्च जनः कराम्यो	१३७	कुलेन सर्वेन बलेन चर्चेता	११५
कवित्प्रवृत्तेसं प्रणिभाष	३४५	कुतपुण्यचवाभान्ये	१९२
कवित्सूनामय तु नस्मयाप्य	१३	कुतमितिरनुजामुतं	१६
कवित् सिरेवे रतये	२१	कुतामासोऽपि प्रतिपाद्य	२६
कस्मान्तु हेतोः कवितान्	८	कुताम्पनुजायमितस्ततस्तो	१२०
कस्य मोत्पादयेद् वाच्य	८०	कुत्वा तदुपमोरेन	१४४
काचित्तास्त्राघरोऽहुन्	४७	कुवेह स्वज्ञोरसुरां	१५८
काचित् पञ्चवनारेष्य	४८	कुपणां बल यज्ञः स्वयं	४१
काचित् पुरुषवत् कृच्छ्रा	४८	कुकोऽप्यकृशकीर्तिश्रीहुर्मि	१०३
काचिदाशापयन्तीष्य	४७	कुपतः पुरुषोऽव्यक्तिमाणः	५०
कामं परमिति जात्वा	५३	कुम्भादिभिः कर्माभिरहितानां	१४९
कामोहतमरड़ा	२०१	केचिच्छलेक्षणिलिमिति	१४४
कामाभिसूता हि न यान्ति जाम्	१५३	केचित्तिलिमिलिलापा	११
कामार्थमकः कृपणं करोति	१५८	केचित्तीक्ष्णोर्योद्देहमध्यन्ते	१५५
कामास्तु भोगा इति यन्मतिः	१४९	केचित्समुद्धाय गिलाशतस्य	१८५
कामा जानित्वा कुशलार्थचौरा	१५५	केचित्स्वभावादिति वर्णयन्ति	१२९
कामेभवेकामितकता च	१५७	केचित्प्रसिद्धान्ताः	१५६
कामपलमेयं तपोऽभिधाने	१२	केचित्प्रदर्शनम्	१२०
कामपलमेयं तपोऽभिधाने	२०५	केचिद्ग्रन्थान्तो	१८२
		केचित्समुद्धाय नमो विमुक्तम्	१८५

को जनस्य कलशस्य

कौतूहलात् स्फीत

ज्ञानेण गमाविभिन्निश्चतः

क्षयित्वप्रवृत्ती दिलक्षण

क्षिप्रमेघ्यति च। कृत्या

कुरिपासाभमवलग्नतः

केषम्बो विशिरः।

ख

ज्ञानप्रस्त्रे चन्द्रमसीधि

ज्ञानात्मनि कर्माणि

ग

जागने जगवद्गते च

जगत्प्रहर्षो विकलीकृतप्रभा।

जग्नीरता या जगत्सरवगाधा

जग्नं हि ते कोहितपन्दनाहं

जग्नीर्यम्बोज्ज्ञ निदान्य

जिरी जने जाप्तु च सागरे च

जीतेहित्यन्ते हि मृगा वद्याप

जुगिमो हि गुणामो च

जुरुपरिवकपाट

जुरुणि वासास्यगुरुणि जेत्र

जुर्वा जिलामुद्यमयंस्तथान्यः

जुहुप्रवंशो प्रति वच मे

जृष्णमाणाः करेत्रादी

जीतमे दीर्घतपम्

च

जक्षाहृपादेस ततो

जात्कुम्भकुम्भिता।

जायेऽप्य जाणो निहितोऽपरेण

जिलेप तस्योपि वीसमन्यः

जित्यामृपणाः।

जीदमवरा मूलफलाम्युभजा

जृतपद्मा समाहिष्ठो

जृतपाणा कुसुमित।

ज

जगत्ता यदा ध्रेष्ठो

जगति जयघर्षके मुसुद्ध

जगतो नियमो शोष

जगत्वदनदो न समोऽस्ति

जगत्वा वोधवानाप

जगत्वा हर्षातिशयेन चक्रिता

जग्नमनः कारणं कि इयादिति

जग्नमनाशाङ्का।

जरां व्याधिं च सूख्यं च

जरामरणाशार्थ

जरामुखो व्याधितिकीर्णसागको

जरा ज्याधित्र सुख्यत्र

जर्लं जथति जीर्मस्यं

जातः कुले को हि नरः

जानामि धर्मं प्रति निष्प्रथ

जान्मदं हर्ष्यमित्र प्रदीपे

जायते जीर्मते चैत्र

जातिना न्यरितकाङ्गेन

जिवांस्यान्य प्रसस्यार

जीवकोकान् स

जीवा बहुविधा लोके

जीवीपञ्चोऽथ जनको

६३

६४

६५

६६

६७

६८

६९

७०

७१

७२

७३

७४

७५

७६

७७

७८

७९

८०

८१

८२

८३

८४

८५

८६

८७

८८

८९

९०

९१

९२

९३

९४

त

तं जिहितुः प्रेषय विचित्रवेषाः

तं ताः कुमारं परिः

तं तुष्टुः सौम्य

तं ज्यावतो ज्यायविदो

तं प्रेषय मारस्य च

तं प्रेषय योउन्देन यदी

तं विविद् विविद्

तं वयुलभ्या च शमेन

तं वृत्तमूलस्यमित्यवलम्बं

तं हि ता मेनिरे नार्यः

ततः न्यानसुखं प्राप्य

ततः कुमारं सुरगमं

ततः कुमारः शलु

ततः कुमारम् म-	५६	ततस्तथा शोकविलापविभूषणे	११४
ततः कुमारो जरया	५८	ततस्तथानीं गजदण्डविभूषणः	११६
ततः कृतेऽथोमति राज	६१	ततस्तदा मन्त्रिपुरोत्तिती ती	११८
ततः व्याघ्राद्य वयमध्यगोचरः	१०३	ततस्तदृप्यानसुखन्द	११९
ततः तस्मात् पूरोद्धा	४८	ततस्तुरहावच्चरः स दुर्भास्तथा	१२०
ततः पुरोद्धानगती	५९	ततस्तु शोपप्रविरक्तोचना	१२१
ततः प्रकीर्णोऽवल	५१	ततस्तेम स दीप्येन	१२२
ततः प्रणेता वदति	५०	ततो जटाधक्षक्षीर्वेलां	१२३
ततः प्रदनन्तरः	५८	ततो दृष्टी भवत्तास्य	२१८
ततः शम विहारस्य	३५५	ततो हित्तातिः स तपोविहारः	१२४
ततः वारकोयद्यापहु	२७	ततो चक्रुः पुण्यमयं धूहीस्या	१२५
ततः विचुं कुन्तुमित	४२	ततो धरायामपतद्	१२६
ततः गुच्छो वारणकर्णनीके	३६४	ततो निहृतः स निहृत	१२८
ततः अताधो मनसामतास्थो	१२६	ततो नृपस्तं नुनि	१२९
ततः श्रुत्वा राजा विष्य	५८	ततो नृपस्तस्य निशम्य	१३०
ततः खट्कस्य तत्त्वज्ञ	२०४	ततो वभाषे स रथ	१३१
ततः स कामाव्यय	२१	ततोऽद्वीती त्वारपि	१३२
ततः स काशोमभिजितिम्	२११	ततो भुजङ्गप्रवरोग	१३३
ततः स जाम्बुद	३१	ततो अमदिदिविति	१३४
ततः स तान् भस्तिमतो	१०२	ततो भवाहीणि च	१३५
ततः स तैराशमि	८९	ततो भारवलं वित्वा	१३६
ततः स धीरोऽग्नि नरेन्द्र	४०	ततो सुजादिविकंव	१३७
ततः स पर्यकम्बन्धसुचम्	१०३	ततो सुहृत्ते सुतशोकमोहितो	१३८
ततः स पूर्वोशयशुद्ध	३५	ततो सुहृत्ताम्बुदिते	१३९
ततः स बालकाकं	२२	ततो भूगच्छापवुर्दिवीका	१३१
ततः स वायप्रतिपूर्ण लोचन	१०३	ततो यद्युम्बुदमतुलो दिवीकसो	१३२
ततः सचार्या भहिषी महीयते:	१०४	ततो रागान्नयं वहुः	१३३
ततः सचार्यी सचिवहिताजुभी	१२३	ततो वचः सुनृतमयवच	१३४
ततः स शुद्धात्मभि	४०	ततो वचस्तस्य निशम्य मनिषाः	१३५
ततः स सञ्जुर्य च तस्य	१११	ततो विमानेयुवती	१३६
ततः सम तस्योपरि श्यामूतं	१२३	ततो विशेषण नरेन्द्र	१३७
ततः इन्द्रसमो विस्तिन्द्रियाचः	५६	ततो विस्मयाश्चयुतं	१३८
ततः उत्तमसुत्तमांग	४८	ततो विहीनं कपिलाहृष्णं	१३९
ततः स पुनर्दृष्टी	२०४	ततो वृथा धरितमूण्यम्	१४०
ततस्तथा गच्छति	२११	ततो हित्वाधमं तस्य	१४१
ततस्तथा भत्तरि राज्यनिष्ठुरे	८५	ततिंप्रमुचिष्ठ लभस्व	१४२

तद्वर्षमयालमदक्षेन मे	१०	तद्विज्ञातुमिमं पदम् पदम्	३७८
तत्प्रीतोऽस्मि तवाजेन	११	तत्प्रारतिमें न पदापचारो	३९
तत्प्राप्त शर्वं विममप्तं	२८	तत्प्राहसि महावाहो	४१
तत्र केविद् व्यवस्थमित	१६३	तत्प्रास्मि कामान् प्रति संप्रसार्यः	३११
तत्र तु प्रहृति नाम	१६४	तत्प्रियायाहा वसुभाषिपत्त्वे	१२९
तत्र विप्रत्ययो नाम	१६१	तत्प्रिपक्षलौ नार्हपि	१३५
यत्र सम्प्रदामतिविद्या	१६३	तत्प्राप्त्वा कृथाः शोक	१५
तत्प्राप्त्वे तमो विदि	१६२	तत्प्राप्त्वा कृथाः शोकमुपेहि	१११
तत्प्रीनमालोक्य स राजमन्त्रः	१२५	तपःप्राकरांश्च विरीचय	१०
तत्प्रीम्य मोषे विदि भगिरस्ति	१२०	तपोवमस्थोऽपि त्रुतः	१३१
तत्प्रीप्त्वे शुद्धय यदि पैतृके	१३८	तपोवसेऽस्मिन्द्वय निष्क्रतो वा	१६
तत्प्रेहाद्य नृपतेव	१३३	तपाप्त्वमें जातपरिक्रमो तातुपेत्य	१३८
तथागतोत्पादगुणेन	४५	तपात्सीन सृपत्स्तुते	१५७
नधापि पाणीयमी निजिते गते	१९२	तथा चाहुदलोकोऽर्थं	२०३
तपाप्त्वमें भवन्ति वेष	२०	तप्राप्तिहाहुतवस्तवधान्ये	१८७
तपेव ये कर्मविद्विहृतोः	१२	तप्रोक्तमातृ कर्त्तव्यमानो	१८९
तपेव शालाभिप्रतिड्वालये	१२१	तप्त्वम् परिवारेन	४२
तप्त्वमो वामय तप्त्वम् तप्त्व	११४	तस्मात्तत्स्तापुपलभ्य तप्त्व	११९
तद्वर्षमि विशाळात्	५५	तस्मात्त्रिवर्गस्य निषेद्वगेन	१३९
तदा हि तत्प्रमनि	२२	तस्मात् प्रमाणं न वयो न	१०
तदिदं परिमाप्य	०८	तस्माद्वृत्ते ने	५१
तदिमेव वसाय	६५	तस्माद्वृत्ते चपलप्रमादि	१४१
तपेव सति दुःखात्	५५	तस्माद्वर्त्त नाहृति	१६१
तपेव सति विभ्रष्टं	२२	तस्माद्वर्त्तु तद्वक्तुं	१५५
तपेव सति मंत्राये ना	८४	तस्मादाहरमूलोऽप्यसुपाय	१०८
तपेवमध्येव द्विमंही	१२२	तस्माद्वाल्लाङ्गोऽप्यति तथ्यमानं	१८
तपेवनभिनिष्कान्तं	८६	तस्माद्वच्छ	४१
तदेवमात्रो नरदेवि द्रोषतो	१०९	तस्मिमस्त्वा भूमिपत्ती	२०
तदेहि घर्मप्रिय मध्रियात्वं	१२०	तस्मिमस्तु वाणीऽपि	१५०
तद्विभिर्मन्त्रान्वतरां	१२१	तस्मिमवृत्ते कोशवनोपगृहे	१३६
तद्विभिरेषा यदि निषितास्ते	१२८	तस्मिन्न वने धीमति	३
तद्विभिरुल समवेष्य कोर्य	१४४	तस्मिन्दिवोक्ताय हृतप्रतिष्ठे	१५६
तद्विभिरुल प्रविक्षीर्थमाण	१४५	तस्य ता वपुषाचिष्ठा	४३
तद्विभिरुल सुषुप्तमूला	१४२	तस्यादिग्नि निर्भिष्ये	४
तद्विभिरुल तावद्विभिरुलं	१२१	तस्यामवजा विभ्रमहृत्य	१५८
तद्विभिरुल न	१०९	तस्या निदित्वा	२

	३०	३१		
तस्येऽन्तर्बहवयस्य जयमन्तकमपः	११०	३२	द ददुः पात्राणि भित्तार्थं	२११
ता: सास्तकांशीरुण	३२		दशसु परिणते च्छहः मु	१७
तादृशं सुजामासात्ता वो न	११२		दाचिष्ठयमीषधं क्षीणो	५६
ता भ्रमिः प्रेवितैर्हौषिः	४६		दिवाञ्चरित्व हि उपोति	१५९
तामिलमिति चाकोपः	१६३		दिवः पेतुः सुचर्णोनि	२०८
तालप्रमाणाऽप्त गृहीतश्चला	१८३		दिव्याङ्गते जन्म	६
तावर्धन्त्रामासतुरर्हतस्ते	१२६		दीपप्रभाऽयं करको	६
ताषु नी न्यायतः पृष्ठा	१७५		दीप्त्या च धैर्येण	६
तास्तो तस्येऽनवस्थाम्	५१		दीर्घिको प्राप्ततो पश्य	५८
तास्यामेवंविधानो वो	४४		दुःखाप्रतीकारनिमित्तमूला	१४५
तास्तथा तु निराम्भा	४३		दुःखामकं नैकविषं	९१
तीर्थानि पुण्यान्यभित्तस्तथैव	१५५		दुःखांगवाक्यापिविकीर्ण	१४
तीर्थः प्रथमेविविधैरवासा:	१४०		दुःखादितेभ्यो विश्वा	१५
तुर्स्यावचरे वा	७२		दुःखेऽभिसंविस्त्रय पुण्य	५२
दुर्योगाम उपाकाळे	२०७		दृश्यतो लोकु माहात्म्यं	५०
दुष्टा दृष्टवाङ्कवंशेः	२०८		दृष्टा च संसारमये महोद्ये	११०
दुष्टपर्यमेत्य फलं	१५१		दृष्टा च सोनं द्विकमायताऽ	१४५
दृणं दद्विति तसायो	२०५		दृष्टा तमिच्चवाङ्कुन्नप्रदीपं	८७
दृष्ट्यारोच उपादाम्	२०६		दृष्टा विमिथो सुखदुःखतां	१५०
दृणागर्जं मोहतमः	१५		दृष्टासिते लक्ष्युपरि	१३
ते चोपतस्युर्दृष्ट्यात्र	१५२		देवीं तु माया विषुष	१२
तेष्यः स्थितेन्यः स तथा	१०४		देवेन द्वेषेऽपि हिरण्यवर्षे	१४४
तेषां रात्रेऽस्तु शमो	१२०		देवैरभिप्राप्त्यं	२
तेषां धणादेस्तु तथाविष्टः	१६६		देहादृष्टवयस्तेन तपसा	१०३
ती ज्ञातुं परमयतेमीति	१३३		द्रवति सपरिषेति निर्जिते	१५१
ती न्यायतस्ते प्रतिपूज्य	११८		द्रष्टा ओता च मन्ता च	१६३
ती सोऽवधीदस्ति स शीघ्रात्मुः	११९		द्रष्टे प्रियं कः स्ववनं हि	१२४
द्यक्षक्षापं स्थितं घमेसंगिनं	२१०		द्रग्दानि सर्वस्य यतः	१५०
द्यक्ष नक्षर शोकमेहि देष्यं	११६		द्विसीये त्वागते यामे	१०७
जासव निष्यं मरणाप्रज्ञानो	१२		द्विदददमीमयो	१०
विवर्गसेवो लृप यत्तु हुत्यतः	१५३		ध	
स्वं पुलन्यांवितः प्राप्तान्	४५		धनस्य रसस्य च तस्य	१९
त्वग्निश्यशेषो निःशोषे	१०६		धन्योऽस्यनुप्राप्ता	१३
त्वद्वक्षोक्तव्यते हृदयादग्ने	१२०		धर्मस्य चार्यस्य च जीवलोके	१५०
त्वद्यग्नाते पूर्णं	१५		धर्माधिभिन्नतर्गणेष्व	६

धार्मवृक्षसंविदः	१३
भीमसूदारः त्वं निवायस्ते	१४६
व्यावहार्यतनगाद्मनोः	१४८
भ्रातुजो गौ वलिवद्वाहु	१५१
भ्रवं स जागन्मम भ्रमेवद्वभो	१५२
भ्रवो यम्माप्त	१५४
न	
न चालयनं गाहृत पृष्ठ	१५२
न चालिवयं स्वर्णसुखाप्त मे	१५३
न च प्रतार्णेऽनिम कलप्रपृत्ये	१५४
न चालिहीर्पृष्ठिति	१५५
न चालुवतनं तन्मे	१५६
न चास्ते दुर्बलेनासु	१५७
न चैष धर्मो वन पृष्ठ विदः	१५९
न चहृते न चापि चानुतेपे	१६१
न चतुर्थ क्षिद्भ्रमयन्दिश्वलं	१६२
न पश्यति घटे शुभो	१६३
न ग्राहेन्मरणाप्त	१६५
न ग्रस्काद्यपदकारी	१६८
न मे लुम लंकावत्तं हि शस्त्रमे	१६९
महः पितणामनुणः	१७०
नहवेष्वसुतस्तम्भयपृष्ठाद्	१७२
नरपतिरथ ती वाशास तस्माद्	१७४
नरपतिरथि पुत्रप्रस्तम	१७५
नरपुणकर्णभ	१७८
नवहृष्टमवलीनकिञ्चिणीकं	१८०
नवहाटकभूषणः	१८८
न हास्यन्नर्येण वने ग्रविष्टे	१९१
नाशैरवतो वन्नुपु	१९१
नाशीरवत् कामसुते	१९५
नाश्वेष्टु दुर्बलाप परस्य	१९६
नामाद्विद्वैनंव	१९७
नान्तर्विहितो लोकेषु	२००
नामहपविरोधे च	२०१
नावं धर्मो विस्माप्त	२०२
नावज्ञानामि विष्पाप्त	२०३

नाशीविषेभ्यो हि तथा विभेभि	१५४
नाश्वेष्टु लोर्णवशसो	१५५
नाश्वर्मेतद्वधतोऽभिवातु	१५८
नासीत् कद्वस्तदा कवित्त	१६०
नास्मि पातुं पुरं शक्तो	१६१
नास्यान्वयान्व प्रति	१६४
निःशस्य दीर्घे स्वपिरः	१६६
निमूर्ण्य कृत्तात्र	१६८
निष्यं व्यचिपि हि लोणा	१६९
निद्वाविष्टाताव तर्थव शब्दा	१७१
निमित्तात्व कमं ज्ञात्वा	१७३
निरयेष्वातिंवाहुल्ये	१७०
निरापारं वगव्यकं	१७०
निरीक्षमाणा भयहेतु	१७१
निरीक्ष्य ता वाप्यपरीतलोचना	१७४
निरूतिः प्राप्तते सम्बद्	१७४
निवत्तंवामास च राज	१७५
निवर्णतो सूत वहिः	१७६
निवसन् अविदेष वृक्षम्	१७८
निवृत्य चैवाभिमुखस्तपोवनं	१७९
निवास्य च चतुर्नवक्तव्यकामुचो	१८१
निवास्य च लस्तरसीरमामिनो	१८३
निषि प्रसुषामवकाँ विहाय	१८५
निपसाद स वत्र शोत्र	१८७
निष्काश्य तं चोत्पलपत्रनील	१८९
नूनं च तुदित्तव नातिसूक्ष्मा	१९८
नूनमेता न पश्यन्ति	१९९
नृपस्तु तस्यैव	२०१
नुषोऽववीत्साङ्गिरामातस्तुहो	२०५
नैष्वेषसे तस्य तु	२३
प	
पश्यन्ते पिष्टवकेचिद्	२०८
पश्वेष्वतोऽन्पेन तु विप्रसुका	२०९
पश्वं द्युवितिर्	२११
पततस्तान् प्रतिलेहा	२१२
पततस्तान् विमानेभ्यः	२१३

परतस्तस्तेऽपि शोकातो	३५६	प्रणिपत्त च साम्राजि	३६१
परे तु वस्त्रिमङ्ग लहा न भीने	३५७	प्रसवत्तिक्षिप्तुच्छ	३६२
परन्धा हि नियोनुमयं	३५८	प्रतिरूप ततः स	३६३
परं हि दन्तु विवशं फलेष्पस्या	३५९	प्रतियोगायिनी काचित्	३६४
परतः परतस्तवामो	३६०	प्रतिसंहर तात	३६५
परममिति नतो	३६१	प्रस्वप्नाहीनान् विकलेस्त्रिय	३६६
परममिति नरेन्द्रशासनात्तो	३६२	प्रयाजनं वतु अमोग	३६७
परममिति दिव्य	३६३	प्रलभ्ववाहमृग्नंगाराजविक्षमो	३६८
परेण द्वयेण ततः स द्वन्द्वं	३६४	प्रदिष्टदीपस्तु सूतोपलब्धये	३६९
पर्याप्ताप्यानमृतिः	३६५	प्रागुपर चावस्थ	३७०
परम भरतेविते चूते	३६६	प्रापदेहात् भवेहेहि	३७१
पात्रान्ते दास्त्वा	३६७	प्राप्तादसोपानतत्त्व	३७२
पात्रान्ते कथिते	३६८	प्रियोऽस वन्धुन्त्विषयोऽस	३७३
पितरमभिसुखं	३६९	प्रियेण वश्येन हितेन	३७४
पीतं स्वनेतापि पयः	३७०	प्रीतव तेजो द्विज	३७५
पीमवल्लग्नस्तमी काचित्	३७१	प्रीतिः परा मे भवतः कुलेन	३७६
पुत्रं यादोवरं शुद्धयं	३७२	फलं प्रणेतुः सुगपक्षिण्य	३७७
पुत्रस्य मे पुत्रगतो	३७३	व	
पुनः कुमारो विनिवृत्त हस्तयो	३७४	पद्मी दक्षेष्वेतत्ति	३७८
पुनः स वेदनामूर्त	३७५	पभार इत्यं स हि	३७९
पुनजन्म्य पुनर्मृत्युरिद	३७६	वक्षमहेन्द्रे नहुये महेन्द्रा	३८०
पुनर्देव्यौ स नृणीषा	३७७	वहुविधविषयस्ततो	३८१
पुनर्मवोऽस्तीति च	३७८	वहुशः किल शश्वतो	३८२
पुनर्म च्यायमानोऽसी	३७९	वहुनि कृत्वा समरे प्रियाणि मे	३८३
पुरं तु तत्स्वर्गमित्र	३८०	वालपुत्रो गुणवत्ती	३८४
पुरमय पुरतः ग्रन्थय	३८१	वालाशोकम चिचितो	३८५
पुराहि काचिसुमध्याँ	३८२	वुद्धीनिद्रयप्राणगुणं	३८६
पुरुषो विदि जानीत	३८३	वुद्धे तस्मिन्नुष्टांसी	३८७
पुष्टाय तुष्टाय तदास्य	३८४	वहुस्पतेमंहिष्यो च	३८८
एताभिलाप्येण च	३८५	वोधाय रसांयि हि याम्यनेन	३८९
पूर्वं तु सा चन्द्रं	३८६	बोधाय जातीऽस्मि	३९०
पूर्यमतिन्यो विभये	३८७	ब्रवीम्यहमहं वेदि	३९१
प्रकीर्णेकेशाः चित्तिनोर्ध्वमाणा	३८८	ब्रह्मचर्यमिदं चर्यं यथा	३९२
प्रकृतिश्च विकाश	३८९	ब्रह्मपिराजपिसुरपितृः	३९३
प्रचक्षय मे लग्नं तदाभसामित्रं	३९०	ब्रयात्वास्मरकृतपेत्रं तनं	३९४
प्रमाणमुदेगास्तिथशील	३९१		

म		महोदया अर्मविशेष	५
भ भासुरं चाहिरसापि	१५	महोमिमन्तो मृद्वोऽसिताः शुभाः ११०	
भवाज्ञेन्मः परिषद्ग्रन्थी	१६८	मौसत्वम्बालदन्तायै ११६	
भवायकालो विषयाभिपत्ती	१३५	मातङ्ग्यामङ्गमालायौ ११४	
भवनमध विशाख	१८	माइसत्तो भूतचम्भुवीणां ११५	
भवन्ति ग्राम्यदायादाः	१९	माहात्म्यं नहि तम्भन्ते ११६	
भवाज्ञन्म मत्ते तेन	२०६	मिष्याचारं मुषाचारासं २१८	
भवेष घर्मो यदि नापरो	१४४	सुकुटाधीपकमाणं ११५	
भस्माकाला लोहितविन्दुचित्राः	१६३	मुक्तय दुर्भित्तमवा २१	
भावज्ञामेन हावेन	४४	सुक्षम्या त्वलद्वारकलश्वलां ११७	
भीष्मेण गाहोदरसंसदेन	१२२	सुखेषु वा वेदविवामसंस्कृती ११२	
भुवाचापि राज्ये दिवि देवतामां	१७७	तुवेष्व तासो तग्नाम्बुद्वातिते १०५	
भूते नसः किञ्चित्प्रश्नपूर्वं	१८८	सुख्य कन्धक भा वार्ष्यं ८१	
भूतेस्त्रसीक्षेः परित्यक्त	४	सुहसुहुमंदश्याम ४७	
भूत्यापरे वारियदा तुहन्तः	१४३	सुवराजगतिस्ततो ५१	
भूयः प्रवृत्तिर्थदि काञ्चिद्वित्त	१२८	स्मा गजावातैरवान् स्वगन्तो १८८	
भूयत्व तस्मै विद्ये	३९	स्मापुज्जन्मान्तकरणे १५२	
भैशोपभोगीति च नानुकम्प्यः	१५२	स्मायव्याधिशशाध्यमां ५६	
भृष्टस्य तस्माद्य	१६	भेषाम्बुद्यादिषु वा दि वृत्तिः १२१	
भ्रुवौ ललाटं सुस्तमीक्षेः वा	१३५	मोक्षाय चेत्तु वनमेत्र ८	
म		मोक्षं अमं नार्हसि १६६	
मणिकुण्डलदृष्टपत्र	५९	मौलीधरं द्विविष्ठकहारैः १२१	
मणिरसमं छन्दकद्वस्तसंस्थं	२५	य	
मत्तस्य परपुष्टस्य	५०	ये कामदेवं प्रवृत्तिं लोके १०८	
मदेसावलिता नाम	४६	यः विचादाहेन विद्वामानः १४५	
मद्रियोगं प्रतिच्छन्द	८६	य एवाहं स एवेदं १४१	
मत्तुरं गीतमन्तर्यम्	४८	यच्च द्विजाचं कुशिको ९	
मत्त्वस्ततो नस्य रिपुर्	२०	यज्ञेस्तयोभिन्नियमेत्वं तेस्तैः १८	
मनवा च विविक्ता	६०	यतः शारीरं ममसो वशोन १३	
मन्यादगौतमो भित्तुः	४४	यत्त्र तु द्विस्तत्रेव १०१	
मम तु विष्यधर्म	३५	यत्त्र वासो वनवाससंमते १०९	
ममपि कामं हृष्टं सुदाहर्ये	११३	यतो बहिर्गच्छति पार्थिवालमत्रे १०५	
ममेदमहमस्येति यद्	११२	यत्त्वमाङ्गामन्तुष्यानां १४७	
महती परिवादिनी च	६९	यत्त्वेन लक्ष्याः परिचितात्म १५६	
महत्वा तुष्यावा	४६	यत्प्राणिपादोदरपुष्टमूर्ती १२९	
महसमनि त्वन्युपरच	१३	यत्र स्थितामामभितो विषयिः १५०	
महीमृतो धर्मपराय नामा	१४३	यथा च वचोसि कर्त्तवीद्यवस्तवीव १०६	

वधाव्यगानामिह संगतानां	१२४	यस्मात्तालभ्यने सूच्यमे	३५७
यथा भ्रमनयो दिवि चाप्यक्षयः १३६		यस्माद्व च भूतानि प्रमुखान्ति	३५८
यथा सुने त्वश्चरणावपेहिता	१३७	यस्माद्याति च लोकोऽयं	३५९
यथावदेतादिज्ञाय लेखणी	१३८	या च प्रवृत्ता तत्र दीप	३६०
यथा वायुयतो वद्विरुद्धोऽन्यमे	१३९	या च शुतिमोऽमवास्यवत्तो	३६१
यथा हिरण्यं शुचि	४	यासे विहायोपदयी तत्त्वसं	३६२
यद्यपि स्वाइयं त्रीः	४४	वास्तर्विलापि न वानिति शर्म	३६३
यद्यपि स्वाइयमये वासो	४५	यान्ती तत्त्वस्ती मृजया विहीनम्	३६४
यद्यप्यवोचः परिपालयतां अरा	४६३	याकास्यविद्याप्रतिकृष्टं	३६५
यद्यप्यात्मकं भद्रात्मानम्	४६	या हि काविच्छवितयो	३६६
यद्यप्यात्मानृतेनापि	४६	ये चार्धकुरुते प्रभान्ति लोके	३६७
यद्यप्यात्मधापि नसुन्यत्य	४८	ये प्रधकरणेष्विच	३६८
यद्यप्यमतोऽपि नस्त्रियासकाद्	४९९	ये राजचीरोदकपावकेभ्यः	३६९
यदा च गमांत्रमन्तु प्रवृत्तः	४२५	सिंहो लृते वारिणि पावके च	३७०
यदा च विश्वापि महीं समग्रो	४१३	यो दन्वदशरुं त्रुपितं मुजाहूं	३७१
यदा च शब्दादिभिः	४१४	यो निष्ठयो भूमेविद्यो तथायं	३७२
यदा तु ज्ञाया पौरां	४१५	यो निष्ठयो शास्य पशाकमव्य	३७३
यदा तु तत्रेव न	४१६	यो हि चन्द्रमस्तरपैषाण्यं	३७४
यदात्य चापीष्टफलां कुलोचितां	४१७	यो शार्यघर्मां परिपीक्षकामः	३७५
यदा पतनित तेऽनाथा	४१८		
यदा समर्थः त्वालु	४१९	<b>र</b>	
यदि तु नुवर कार्य एव	४२०	राजस्तु विनियोगेन	४६
यदिनिविद्याणां नियतः प्रचासः	४२१	राजोऽपि वासोयुगमेभ्ये	४७
यदि शासी मार्माभमूर्य याति	४२२	राज्ये मुमुक्षुभूमियि यश्च	४८
यदि विद्यिष्टत वोषयन् जनं	४२३	राज्ये नृपस्त्रियाग्निं वद्धमित्रे	४९
यद्येवं पापकर्माणः	४२४	स्त्रिविषयतः श्रिय	५०
यद्यावशाकं भुगुरमिता	४२५	करोह स्वस्यं फलवद्य	५१
यदेक रात्रेण तु भर्तुराशया	४२६	कृपस्य हन्त्री वयस्तन	५२
यदाविष्टव राजपिर	४२७		
यद्य प्रदीप्ताच्छरणात्	४२८	<b>ल</b>	
यस्तु तस्मिन्मूले भग्नो न	४२९	लक्ष्मयो महस्त्रामपि	५३
यस्तु हङ्गा परं ज्ञीणी	४३०	लेखप्रभस्येव वपुद्वितीयं	५४
यस्य प्रसूती गिरि	४३१	लोकस्य मोक्षाम्	५५
यस्तु त्रिनिमुखात्तस्मा	४३२	लोकाशनतमच्छेद्यमुष्यन्	५६
यस्तु भावानस्येत्तवा	४३३	लोभादि मोहाद्यवा भवेन	५७
यस्मात् तद्यपि प्राप्य	४३४		

वज्रवन्ति न यसेवं	५७	विरकास्यापि यदिवं	१४२
वस्त्रसुपमसत्ता	२९	विलम्बकेक्षयो मलिनोशुकाम्बरा	१४३
वज्रव कौमारमतीर्थ	२३	विलोक्य भृग्या ग्रोद सम्बहं	१४४
वयोसि जीवान्नि विमांशुभित्ति	१४०	विविष्टं जीवनस्यात्	१४५
वयोऽसुकापाणि च	१४६	विशुद्धास्यपुरा	३०
वरं लकुष्यस्य विचक्षणो	१०७	विशेषमव शुभ्यु	१४६
वरं हि मुकानि तृणान्यस्यपे	१२६	विश्वामित्रो महर्षिः	१५०
वहान्नामाणकलिङ्गं	५१	विषयेषु क्लवृहले	४४
वहान्नभीनाशकारोऽ	१४१	विषादपारिष्वलवलोचना तसः	१५०
वासिनः कलामिल्लितेष्व	२४	विष्वावदी वायुलदीपं	१५२
वाताप्यनेन्यस्तु विनिःस्वतानि	५३	विहाय विन्तां भव	३
वाता वक्तुः स्पर्शसुखा	५	विहाय रात्यं विषये	१४
वायमीकिरादी च ससर्वं	१	व्यपकित्विभूयग	१५०
वासन्ते समागम्य	१४३	व्यवसाय द्वितीयोऽप्य	१५६
वायन्ते गजनृतान्	११३	व्याप्तोऽवर्विरकामद्	८६
विकार इति खुण्डस्व	१६०	व्यजप्तयं वाविवरोऽपि	१०९
विकारप्राहुतिभ्यो हि लेक्षणं	११८		
विगते दिवसे ततो	६७	श	
विगतिं वाहसि देवि कन्धं	१०८	शक्ताशालयितु यूयं	११
विगाहमानव नरेन्द्रमनिदं	१०३	शक्तोति जीर्णः खलु चर्ममाणुः ।	१५०
विजाने जायते कस्मादिति	२०५	शमेनेविषयेनाचं	१६५
विजानं प्रथयो छास्ति	२०५	शमेषुवो ये भुवि	३
विजानस्तोदये नामहृपे	२०४	शमे रतिरचेष्विष्विलं च रात्यं	१२०
विजानस्तद्वतो नामहृपे	२०५	वाहोरचित्तव्यसवातपैस्ते	१८५
विजः मानाय जनाय	१५	वारीरपीडा तु यदीह	१२
विदितं मे यथा सौम्य	१५०	वारीरमन्देहकरेऽपि काळे	२०
विदोतमानो वपुषा	२३	वारां श्वानि यान्यस्मिस्ता	३३०
विनाशमीषुः कुरुतो वद्य	१५८	वान्तं यमायं न च	८८
विप्रत्ययादहृतारा	१६१	विधिलाकुलमूर्धंजा	८०
विप्राप्त यथातः	७	विरोद्दित्वं लिर्वैषां	२०१
विप्राप्त यथातः	८८	विवं च कापायसुपित्रजस्ते	८५
विषये करकान्	१८	विव्ये यसावि विज्ञाते	१५५
विमोद्भवत्रकृतः प्रजायते	११५	वीषं समयापि तु	३३
विमानपृष्ठे नायमासमोजिते	१११	युच्ची शवित्वा यायने हिरण्यमये	१११
विमानप्रवन्नाहं हि	८९	युद्धाविवासा विषुध्यंवस्तु	१८३
विमुदेयदि चोपिता	११	युद्धीजसः शुद्धविशाल	११८

शुभेन वदनेनाभ्या	५८	स स्वप्नस्त्रेषु दुःखेषु	१९०
श्रोति नूलं स च	११२	स पाण्डवं पाण्डवतुस्यर्थं	१२०
शंकेन्द्रपुर्वी प्रति येन	१६१	स पार्थिवान्तःपुरं	११
योले: मुगुस च विभूषितं च	१३४	स पुण्डरीकेरपि शोभितं	१०१
शोकत्यागाय निष्कान्तं	४९	स वोक्षिसत्यः परिपूर्णसत्त्वः	१२३
शोकामिना त्वद्विरहेन्वनेन	१२६	स मध्याघमनःसिद्धितिज्ञ	६०
शोकामभसि त्वाप्रभवे लगाये	१२७	स मवेष्य तथा	११
शोभवेत गुणेभिरपि	४३	स माधेष्वर्युषितस्तस्माद्	१६३
श्रीसहिताने कमको	४	स माधुजाप्यः कृत्वहोममङ्गलो	११४
अनं ज्ञानमिदं सूचमं परतः	१६८	स नामनाथो सहस्रमंचारिणी	११२
अतविनष्टगुणान्वितस्तस्तु	११६	स मुद्रवचामपि गामवाप्य	१४४
आवा ततः कीजन	३०	स मेष्य च यथा नूचो	८३
आवा तु व्यवसायं ते	४०	स मूलमानस्ते:	१३२
आवा निमित्ते तु निष्ठते	३८	स राजवल्लः पूषुपीन वस्तः:	१३४
शुचा वचस्तव	१२	स राजसु नुर्मगराजगामी	८८
अवतामयमस्माकं सिद्धान्तः	१५९	स दृष्ट्वान्तीचरस्तवान्ये	१३०
अण्योऽथ मर्ता मगधाजिरस्य	१२१	स वैद्याससम्पन्नकार्योऽपि	४५
इकार्यं हि राज्यानि विहाय	१२३	सदौः सर्वकलाज्ञः स च	४३
वेतार्थवद्वा हरितार्थकाया	१६२	सर्वपु ध्यानविधिषु	१९४
स		स विकृष्टतर्ता बनान्त	८९
संख्याविभिरसुकलं निर्गुणो	१५९	स विस्मयमित्युरपर्यं	७६
संज्ञासंज्ञिवद्योलोपं	१३१	स विषयः कपिलश्चेह	१३०
संतोषं परमास्याय देन	१६४	सस्त्री वरीरे पवित्रं	८५
संनगिकानुवृत्तिः	८३	सस्मार मारब ततः	१०१
संवर्धनपहित्रान्तो द्विसीमा	८१	सहजेन विष्णुयन्ते	८४
संवर्धयित्री समवेहि	१२३	स हि कालनपवेत्ता	५०
संस्कारवय विशेषेन	२००	सहि स्वगाय प्रभया	३
स कालायसगोत्रेण	१५०	सानुकोशस्य सततं निष्ये	८३
सविवेन्तु निविष्टो	६६	सारस्वतव्यापि जगाद्	९
स अरामरणवये	८४	सार्थस्वत्वापि जगाद्	२११
सज्जते येन दुर्भागा	१६२	सार्थस्वत्वापि जगाद्	२
स तथा विष्वविलोभ्य	५९	सारुम्बवीजाग्नि	२
स तस्मिन् कान्ते रम्ये	५१	सा वद्रावजितप्रीतिर्विक	१०१
सम्भानो पश्यतस्तस्य	१९४	सितशंखोऽग्नलभुवा	१०१
सर्वेषु नन्देषु महामध्यकारे	१०९		
सरथस्यान्तः प्रविश्यासी	२०१		

सुखं स्वप्रदिति यत्कर्म	३५५	सृष्टः स जानेन	१६०
सुखाप्यमशुभं कृता ये	१९६	सृष्टं हि यथादगुणवदि	१७२
सुखिता वत्त विषुला च सा	६३	सृख्या जन्म च सृखुं च	१९३
सुजातवालावत्तलाकुली	१११	सृख्या पूर्वप्रतिशात्	२०९
सुन्दोपसुन्दाकसुरी	१४८	वस्तासकोमलालभ्य	२४७
सुसविश्वस्तहरिं	१५६	स्वकर्मदध्य वदान्तको जगद्	१५३
सुलभा: चलु	१३३	स्वयनं वशपि स्नेहाच्च	८३
सुवर्णेन्द्रविदृष्टवाहवो	१४१	स्ववनेलालिताः पुष्टः	११४
सुवर्णगिर्हिविनि मृत्युना इते	११५	स्वर्गाय तुष्माकमयं खर्मो	१४४
सुदृश्तपीनाशुलिभिरन्तरे	१०१	स्वर्गो जितेनिश्चयैर्देव्य	२००
सुहरया चार्यतया च राजन्	१४६	स्वस्थप्रसवमनसः	१५४
सूर्यमत्ताक्षेव दोषाणां	१६९	स्वस्याः स्वस्वेहि चार्यन्ते	१५०
सूचीछिद्रोपमसुखाः	१२७	स्वायम्भुवं चार्यिक	२८
सोऽहं नेत्रीं प्रतिशाय	५८	स्वायं प्रायः समीहन्ते	२१०
सौभाग्यस्य किमेतस्य	२१०	स्वर्मादिपायोः परिवेशितस्य	१५
सौभाग्याक्षेव धैर्याच	४२		ह
स्तेविभिरिक्षाप्यरि	२१	हंसेन हंसीमिव विप्रयुक्ता	१२३
की भेदकाली तु कपलहसना	१०७	हतविषोऽन्याः विधिकासंवाहवः	१०५
कूलसंसर्गं विनाशान्तं	५४	हयज्ञ सौजा विचार	१००
स्थितः हि हस्तस्ययुगास्तथैव	८८	हलभिक्षविकीर्णशप्य	५०
स्थिता पश्च प्राधम	२६	हस्तज्ञिर्यात्कृतं कर्म	१५३
स्थिरं प्रतिशाय तथेति	१५६	हित्वा हित्वा त्रयमिदं	१६८
स्थूलोद्धरः चास्त्रचल	६३	हिमारिकेत्तद्वसंभवान्तरे	१५५
स्नातो नेत्रज्ञनातीराकुचत्तरं	१३५	हुतवहवपुषो	७५
स्निग्धाभिरभिहृदयं गमाभिः	५६	हृते च लौके यहुभिः	१८७
स्नेहाक्ष भावं तनयस्य	३९	हृदयेन सहजेन	८२
स्नेहेन भावेनदहं वर्णेभि	१४०	हृदि या सम	८२
स्नेहो न च ततः समयग्	२५६	हृषाव वेका सुमुकुम्यूरा	८९
स्नेहो न च ततः समयग्	२०६	हृष्टा मोक्षाधिनो	२०८
स्नेहो न च ततः समयग्	१४६	हिष्मामस्तथा धीरया	११९
स्नेहो न च ततः समयग्	५८	हिष्मेव च संनति	१८



Report  
L-N. 28 - 30 6. 19

CATALOGUED.

Central Archaeological Library,

NEW DELHI 36750

Call No. S98/K / AIV / Rev.

Author — ~~Shri G. P. Bhatt~~

Title — ~~Archaeological Museum~~

"A book that is shut is but a block."

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY  
GOVT. OF INDIA  
Department of Archaeology  
NEW DELHI

Please help us to keep the book  
clean and moving.